* आवदपुरुषाय नमः *

अथ दर्शपूर्णमासः प्रारम्भः ।

१ व्रतोपायनम्

(मू०) हरिः ओ३म् । व्रतमुपैष्यन्नन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्राङ्तिष्ठन्नप उपस्पृशाति । तद्यदप उपस्पृशाति-अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति, तेनपूतिरन्तरतः । मेध्या वा आपः । मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति । पवित्रं वा आपः । पवित्रपूतो-व्रतमुपायानीति । तस्माद् वा अप उपस्पृशति ॥१॥

(अ०) "दर्शपूर्णमास" यज्ञ करने के लिये व्रत ग्रहण करता हुआ यजमान (व्रत ग्रहण से पहिले) आहवनीय और गार्हपत्याग्निकुण्ड के बीच में पूर्वाभिमुख खड़ा होकर आचमन करता है । व्रतोपादन कर्म में सबसे पहिले जिस प्रयोजन के लिए आचमन करता है (वह प्रयोजन बतलाते हैं) । मनुष्य स्वभावतः मिथ्या भाषण करता है अतएव वह अमेध्य (संस्कारग्रहण योग्य) रहता है । पानी मेध्य (संस्कारग्रहण धर्मा) है । हम मेध्य होकर व्रत ग्रहण करें । पानी पवित्र है हम पवित्र होकर व्रत ग्रहण करें । इन्ही दो प्रयोजनों के लिए यह यजमान सर्व प्रथम अप उपस्पर्श (आचमन) करता है ।

विवेचना ।

वितानयज्ञ एवं पाकयज्ञ भेदसे यज्ञ दो प्रकारके होते हैं । वितान यज्ञ को श्रौत यज्ञ कहते हैं, पाकयज्ञको गृह्य किंवा स्मार्त्तयज्ञ कहते हैं । वितानयज्ञ में आहवनीय गार्हपत्य दक्षिणाग्नि तीन अग्नि रहते हैं । अत

*

एव इसे "त्रेताग्नि" यज्ञभी कहा जाता है। गार्हपत्याग्नि पृथ्वी स्था-
है (देखो शतपथ का० ७ प्र० १ ब्रा० १ क० ६) दक्षिणाग्नि अान्तरिक्ष्य
एवं आहवनीय दिव्यलोक स्थानीय है। (देखो शत० ६।३।३।१२)। पृथ्वी अन्
रिक्ष द्युलोक इन तीनों लोकों में व्याप्त प्राकृतिक नित्य अग्नीषोमीययज्ञ पृथ्
से द्युलोक तक (सूर्य तक) फैले रहने के कारण "वितानयज्ञ" कहलात
है। क्योंकि यजमान से किया जाने वाला यह वैधयज्ञ उस प्राकृतिक
वितान यज्ञकी प्रतिकृति (नकल) है अतएव इसे भी वितानयज्ञ कहा
जाता है। अग्नि में सोम की आहुति देने का नामही यज्ञ है। पृथ्वी
पिण्ड से २१ वें अहर्गण पर (एकविंशस्तोम पर) भगवान सूर्य स्थित हैं,
(देखो तै० ब्रा० का० १ प्र० १ अनु० ४ क० १) यह दूरी ६ करोड मीलके
लग भग है। एकविंशस्तोम पर स्थित यह सूर्य सर्वथा अग्निमय है इस
का जो अग्निमय प्रकाशमण्डल है वह सौर संस्था (सोलर सिस्टम) कह-
लाती है। इस सौर संस्थाके चारों ओर सोम समुद्र भरा हुआ है। महा-
काश में व्यापक अन्नरूप (देखो शत० ११।१।६।१६) सोमके लिए 'त्वमात-
तन्थोर्वन्तरिक्षम्' (इस विशाल अन्तरिक्ष में तुम व्याप्त होरहेहो, ऋ०
१।६१।२२) यह कहा जाता है। इस सोमाहुति से ही सूर्य चमक रहा है
प्रकाश इसी सोमाहुति का प्रभाव है। अग्निमय सूर्य भी घोर काला है
(देखो शत० ३।४।३।१५) एवं सोमभी सर्वथा काला है। न अग्निमय सूर्य में
प्रकाश है न अन्नमय सोम में प्रकाश है। प्रकाश है दोनों के समन्वयमें
जिसप्रकार अग्नि में आहुत घृत आदि पदार्थ ज्वाला उत्पन्न करदेते हैं तथैव
यह सोम सौराग्नि में हुत होकर सूर्यको प्रकाशयुक्त बनादेता है प्रकाश का
एकमात्र कारण सोमाहुति ही है अतएव सोमके लिए "त्वंज्योतिषा वितमो
ववर्थ" (तुमने ज्योति से सारे अन्धकारको दूर करादिया है ऋ० १।६१।२२)
यह कहा जाता है। जिसदिन सोमाहुति न होगी सौर अग्नि न रहेगा।
जिसदिन सौर संवत्सरयज्ञ न रहेगा उसदिन सारा ब्रह्माण्ड नष्ट

थगा। क्योंकि "नूनंजनाः सूर्येण प्रसूताः,, (प्राणिमात्र सूर्य से पैदा हुए हैं ऋ० सं०) 'सूर्यआत्मा जगत स्तस्थुषश्च, (जङ्गम और स्थावर दोनों का आत्मा यही सूर्य है यजुः ७।४२ मं०) "निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च,, (अमृत और मर्त्य दोनों प्रजाओं का यथा स्थान संनिवेश करता हुआ, य० ३३।४३मं.) "चित्रंदेवाना मुदगादनीकम्, (देवताओं का समूह रूप सूर्य उदित हुआ है, यजुः ७।४२) इत्यादि श्रुतिएँ सूर्यको ही रोदसी ब्रह्माण्ड का अधिष्ठाता बतलाती हैं। जिस समुद्र में सूर्यस्वरूपात्मक यह अन्नरूप सोम भरा हुआ है उसे पारमेष्ठ्य समुद्र कहते हैं। निरन्तर होनेवाली इस सोमाहुति के कारण ही यह सूर्य अग्निहोत्र कहलाता है (देखो शत० २।२।३।१) इसी प्राकृतिक अग्नीषोमात्मक यज्ञसे जिसे कि संवत्सर यज्ञभी कहते हैं सारे विश्वका निर्माण होता है इसीलिए संवत्सरयज्ञ को प्रजापति कहा जाता है। (देखो शत० ५।१।१।२।१) अतएव "अग्नीषोमात्मकं जगत्" यह श्रुति चरितार्थ होती है। सूर्य में ज्योतिः, गौः, आयुः—यह तीन मनोता रहते हैं। इन तीनों में मनप्राणवाङ्मय सूर्यका मनोभाग ओतप्रोत रहता है अतएव इन्हें मनोता कहा जाता है। (देखो ऐ०ब्रा० ६।१०) ज्योतिर्भाग से वसुरुद्रादित्यादि ३३ देवता उत्पन्न होते हैं। गौ भाग से सारे भूत उत्पन्न होते हैं। एवं आयु भाग से आत्मा उत्पन्न होता है। सूर्य के इन तीनों मनोताओं के साथ अपने मनप्राणवाङ्मय आत्मा का सम्बन्ध करने के लिए क्रमशः ज्योतिष्टोम, गोष्टोम, आयुष्टोम, तीन यज्ञ करने पड़ते हैं। जिस प्रकार प्राकृतिक सौर यज्ञसे जड चेतनात्मक सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है वैसे ही प्राकृतिक यज्ञ के अनुकरण पर किये गये यजमान के यज्ञ से यजमान का एक नया स्वरूप उत्पन्न होता है इसे ही दिव्यात्मा कहते हैं। क्योंकि इसकी उत्पत्ति का कारण यज्ञ है इसलिये जो मनुष्य यज्ञ नहीं करते उन का वह स्वरूप कदापि नहीं बनसकता। प्राकृतिक अग्नीषोमीय सौर संवत्सर यज्ञ में चन्द्रमा ब्रह्मा है, अग्नि होता है, वायु अध्वर्यु है, आदित्य

उद्गाता है, एवं संवत्सर प्रजापति यजमान हैं। इन चार प्राण देवता रूप ऋत्विजों से संवत्सर प्रजापति अग्नीषोमीय यज्ञ, और तद्द्वारा सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न किया करते हैं। इसी प्रजापति जन्य यज्ञविज्ञान को लक्ष्य में रखते हुए यज्ञेश्वर भगवान मधुसूदन कहते हैं?

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्व मेषवोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ (गी० ३।१०)

यह संवत्सर यज्ञमय भगवानसूर्य मनप्राणवाङ्मय है एवं उसी मनप्राणवाङ्मयसूर्य्यसे निर्म्मित मनुष्य यजमान का आत्मा भी मनप्राणवाङ्मयही है जैसा कि हम आगे बतलाने वाले हैं। मनुष्य का मनप्राणवाक् पृथ्वी के संवत्सर से बद्ध रहता है क्योंकि इसका जन्म पृथ्वी लोकमें होता है। "पृथ्वी के आकर्षण से आकर्षित मनुष्य के मनप्राणवाङ्मय आत्मा को सौरसंवत्सर यज्ञ प्रजापति के मनप्राणवाक् के साथ मिलाकर मानुष आत्मा को पार्थिव आकर्षण से छुडाकर दिव्य लोकसे युक्त करदेना," बस यज्ञका एकमात्र यही फल है।

क्योंकि यजमानात्माको दिव्यात्माके साथ सम्बद्ध करना है अतएव इस वैध यज्ञ में स्तोत्र, शस्त्र, एवं ग्रह यह तीन कर्म्म किए जाते हैं। सामसे स्तोत्र किया जाता है, ऋक् से शस्त्र किया जाता है, एवं यजु से ग्रह किया जाता है। "मैं पृथिवी की पकड से छूटकर सौर संवत्सर मण्डल में जारहा हूं" यजमानकी इस भावना को ही मनो व्यापार कहते हैं। यह मन, प्राणवाक दोनों का आलम्बन है। "मैं स्वर्ग जारहा हूं यज्ञ द्वारा प्रादेश मित मनप्राणवाङ्मय मेरा आत्मा दिव्यलोकतक फैलरहा है" इस प्रकारकी सच्ची भावना ही इसे स्वर्ग में प्रतिष्ठित करने का एकमात्र प्रधान कारण है। यदि भावना नहीं हैं, श्रद्धा का अभाव है तो किया कराया यज्ञ व्यर्थ है। अतः सबसे पहिले मनको आगे रखना आवश्यक है।

आदित्य मनोमय है। "मैं उस संवत्सर यज्ञसे मिल रहा हूं" इस भावना से यजमान का मन उस आदित्य मनके साथ बद्ध होजाता है। यहां से वहांतक एक मनोरूप श्रद्धामय धरातल प्रतिष्ठित होजाता है। यजमान को प्राणव्यापार और वाग्व्यापार भी करना पडता है अतएव मन निर्बल हो जाता है। प्राणवाक् की ओर झुकने से श्रद्धामय मनोव्यापार में शिथिलता आजाती है। इस मनकी कमी को पूरी करने के लिए दक्षिणा क्रीत ब्रह्मा को यज्ञ में शामिल किया जाता है। ब्रह्मा केवल मनो व्यापार करते हुए यजमान के मनको प्रबल बनाए रखते हैं। सारे ऋत्विक् दक्षिणा क्रीत हैं अतएव यह जो कुछ कर्म करते हैं सबका फल यजमान को ही मिलता है। प्राणवाङ्मय प्रपञ्च का आधार "मन" है। अतएव "तद्वाइदंमनस्येव परमं प्रतिष्ठितम" (सारा प्रपञ्च उस परम मनमें प्रतिष्ठित है" तै० ब्रा० २।२ इति) यह कहा जाता है। प्राण यजुर्वेद है। वाक् ऋगवेद है। मन सामवेद है। यह मन सबपर अधिष्ठित है अतएव मनोमय ब्रह्मा-प्राणरूप अध्वर्यु, एवं वाग्रूप होता उद्गाता, पर शासन करता है। अतएव ब्रह्मा वही हो सकता है जोकि तीनों वेदों का विद्वान् हो (देखो कौ० ब्रा० ११।अ०।४)। इसी वेदत्रयी के प्रभाव से ब्रह्मा ऋग्वेदी होताका, यजुर्वेदी अध्वर्यु का, सामवेदी उद्गाता का तीनों का निरीक्षण करने में समर्थ होता है। कहनां यही है कि ब्रह्माकी सहायता से सर्वप्रथम यजमान का मन उस सौर संवत्सर प्रजापति के मनसे बद्ध होजाता है। मनके ऊपर वाक् का वितान होता है। पृथिवीकी वाक् अनुष्टुप् कहलाती है। क्योंकि मनुष्य पृथिवीलोक में उत्पन्न होता है अतएव इसमें अनुष्टुपवाक्ही प्रधान रहती है। एवं सौरयज्ञ प्रजापतिकी वाक् "बृहतीवाक्" कहलाती है। बस यजमान की अनुष्टुप्वाक् को मनोमय धरातल द्वारा सूर्य्य की बृहतीवाक् तक फैलाना उद्गाता का काम है। उद्गाता सामगान करता है। संकुचित पद्यको फैलाकर बोलनाही गान कहलाता है। इसी का नाम वितान है। सामवाक् द्वारा उद्-

गाता यजमान वाक्‌को पृथिवी लोकसे द्युलोक तक फैला देता है। इसी कर्म्म को "स्तोत्र,, कहते हैं। द्युलोक तक वितत इस यजमानकी अनुष्टुप् वाक् पर सौरी बृहतीवाक् को प्रतिष्ठित करना "होताका काम है। होता इस वाक् पर वाङ्मय देवताओं को प्रतिष्ठित करता है। वाङ्मय पात्र में वाङ्मय देवताओं का आह्वान कर इस यजमान वाक् पर उन्हें प्रतिष्ठित करने के कारण ही यह ऋत्विक होता (आह्वान कर्ता) कहा जाता है। उद्‌गाता जिस अनुष्टुप वाक् को द्युलोक तक फैलाता है उसके पीछे होता अपनी वाक् का प्रयोग करता है अतएव इसकी वाक "अनुवाक्" (पीछे होने वाली वाक्) कहलाती है। एवं तत्सम्बन्धी ऋचाएँ "अनुवाक्या,कहलाती हैं। इस वाग्द्वयी को परस्पर बद्ध करने वाला प्राणाधिष्ठाता अध्वर्यु है। प्राणही भौतिक पदार्थ का संघठन रखता है। जिस वस्तु में से प्राण निकल जाता है वह उसी क्षण छिन्नभिन्न होजाती है। यजमान के मनोधरातल पर होता उद्‌गाता द्वारा प्रतिष्ठित अनुष्टुप् बृहतीवाक् का परस्पर ग्रन्थिबंधन करने के लिए अध्वर्यु याज्या करता है। यजन नाम है मिलानें का। मनवाक् को प्राणसूत्र से बद्ध कर तीनो को मिलाने के कारण ही अध्वर्यु कर्म्म "याज्या" नामसे पुकारा जाता है। इस मनप्राणवाक् की मिलित अवस्था को "ग्रह" कहाजाता हैं। ग्रह एक अवयव है। अनेक ईंटों के चिनावसे जैसे एक मकान बनता है। हाथ, पैर, धड, मस्तक, आदि अवयवों के चिनावसे जैसे मनुष्यका शरीर बनता है, वैसेही इन ग्रहरूप अवयवों से यजमानका दिव्य शरीर बनाया जाता है। इस प्रकार सामवेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद, इन तीनों वेदों से क्रमशः स्तोत्र, शस्त्र, ग्रह पुरश्चरण इन तीन कर्म्मों से यजमान का दिव्यात्मा बनाकर उसे १७ हवें स्वर्ग में प्रतिष्ठित करदिया जाता है। (देखो शतपथ ब्रा० "४।६।४।१" "३।५।२।११" "४।१।३।१।९" इति)।

'प्रजापति स्त्वेवेदं सर्वमसृजत यदिदं किंच' ('है' कहने लायक जितने भी पदार्थ हैं उन सबको प्रजापतिने हीं उत्पन्न किया है 'शत० ६।१।११') इस श्रुति से प्रजापति कोही संसार का मूल कारण मानना पडता है। इस प्रजापति में सत्य और विश्व दो भाग हैं। सत्य आत्मा है, विश्व उस सत्यात्मा का शरीर है। आत्मा नित्य है। अमृतस्वरूप है। विश्वरूप शरीर सर्वथा अनित्य है। मरण धर्म्मा है। आधा भाग अमृत है आधा मर्त्य है (देखो शत० १०।१।३।२ इति) । इस अमृतरूप सत्य आत्मा को "षोडषीपुरुष,, कहाजाता है। पञ्चकलअव्यय, पञ्चकलअक्षर, पञ्चकलक्षर एवं परात्पर इन की समष्टिका नामही षोडशीपुरुष है। इनतीनो में अव्ययपुरुष जगत् का आलम्बन है। अक्षर निमित्त कारण है। क्षर उपादान कारण है। इसी त्रिपुरुष विज्ञान का प्रतिपादन करतेहुए वैज्ञानिक शिरोमणि भगवान् कृष्ण कहते हैं।

> द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च
> क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटऽस्थोक्षर उच्यते।१।
> उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः
> यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।२। ॥गी०॥

इन तीनों पुरुषों में वस्तुतः पुरुषपदवाच्य अव्यय ही है। अक्षर और क्षर तो इस पुरुष की प्रकृति है। अक्षर परा प्रकृति है। क्षर अपरा प्रकृति है। किन्तु यह प्रकृतिएं पुरुष से अविनाभूत हैं अतएव इन्हें भी पुरुष कहदिया जाता है। प्रकृति और पुरुष दोनों की समष्टि का नामही षोडशी सत्य आत्मा है। इस प्रकृति की अव्यक्तावस्था का नामही अक्षर है। एवं व्यक्तावस्था का नाम ही क्षर है। आदि में अव्यक्त है। मध्य में व्यक्त विश्व है। अन्त में फिर अव्यक्त का अव्यक्त है। इस तरह यह सारा विश्व व्यक्त है। यही मध्यका अस्ति क्षण है। आदि में अव्यक्त है।

अर्थात नास्ति है। अन्त में अव्यक्त है। इस प्रकार यह बलरूप विश्व नास्ति-अस्ति नास्ति (अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्त) भेदसे त्रिलक्षण होजाता है। इसी अव्यक्ततत्व का स्वरूप बतलाते हुए गीताचार्य कहते हैं ?

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥गी०॥

इस अव्यक्त प्रकृति की जो व्यक्तावस्था (क्षरावस्था) है, वही अवर ब्रह्म है। एवं हमारे महाविश्व की अपेक्षा से यही क्षरब्रह्म-सत्य आत्मा है। यद्यपि क्षर-अक्षर अव्यय से अविना भूत हैं तथापि यज्ञ सम्बन्ध से यहां हम क्षर को ही आत्मा कहेंगे। इस क्षर आत्मा का ही दूसरा नाम है वेदमय ब्रह्मा। इस क्षर सत्य में अव्यय मौजूद है। अव्यय की आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक्-यह पांच कला हैं। पांचों में आनन्द विज्ञान मुक्ति के प्रदाता हैं। प्राणवाक् सृष्टि के कारण हैं। बीच में मन है। मन यदि विज्ञान की ओर जाता हुआ आनन्द में पहुंच जाता है तो आत्मा बंधन से मुक्त होजाता है। यदि प्राणवाक् की ओर चलाजाता है तो सृष्टि के बंधन में फसजाता है। मन ही बंधन का कारण है। और मन ही मुक्ति का कारण है। अतएव भगवान कहते हैं ?

न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परंतप ।
मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः ॥गी०॥

हमको यज्ञेति कर्त्तव्यता बतलानी है। यज्ञ ही विश्व है। विश्व साक्षी-मन प्राणवाक् है। अतएव यहांपर क्षरात्मा में मनप्राणवाङ्मय आत्मा का ही ग्रहण किया जाता है वेदमय सृष्टि का उपादान भूत क्षरात्मा मन-प्राणवाङ्मय है। अत एव "सवा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः" (बृहदारण्यकोपनिषद्) यह कहा जाता है।

इसी वेदमय विश्वसृट् त्तर आत्मा को पौराणिक परिभाषा में "ब्रह्मा" कहाजाता है। यह त्तर ब्रह्म गीतादि शास्त्रों में "पुरुष" कहलाता है। इसी पुरुष प्रयुक्त पुंस्त्व की अपेक्षा से इस त्तरब्रह्म को ब्रह्म न कहकर "ब्रह्मा" कहा जाता है॥ इस वेदमूर्त्ति त्तर ब्रह्माकी प्राण-आप-वाक् अन्न-अन्नाद यह पांच कलाएं हैं।

यह ही पांचो कलाएं त्तर ब्रह्मा के पांच मुख कहलाते हैं। इनमें से जो अन्नाद है-उसीका नाम अग्नि है। अग्नि को ही रुद्र कहते हैं। जैसा कि श्रुति कहती है "रुद्रो वा एष यदग्निस्तस्यैते द्वेतनुवौ घोरान्याशिवान्या च"। एवं अन्न का नाम सोम है। जबतक सोम अग्नि से पृथक् रहता है तब तक वह अपने स्वरूपसे स्थित रहता है परन्तु जैसे अग्निमें आहुत घृत अग्नि ही बनजाता है तथैव अग्नि में हुत सोम स्वस्वरूप को छोडता हुआ अग्नि ही बनजाता है। हम जबतक अन्नको नहीं खाते तबतक वह अन्न अन्न कहलाता है। शरीराग्नि में हुत हुए बाद-यह अन्न अन्नपना छोडकर शरीराग्नि स्वरूप बनजाता है। कहना यही है कि-अन्न अन्नादाग्नि में आहुत हो अन्नाद ही बन जाता है। दोनों मिलकर एक चीज बन जाती है। (देखो शत० २०।६।५।१) इस प्रकार पंचमुख ब्रह्मा अन्नाद स्वरूप अग्नि रुद्र के कारण चुतर्मुख ही रहजाते हैं। अग्निरुद्र के कारण-ब्रह्मा का सोम मुख कट जाता है, अर्थात् सोम अग्नि में पडकर अग्नि ही बन जाता है इसी वैज्ञानिक रहस्य का पुराणों में "रुद्रनें ब्रह्मा का एक मस्तक काटदिया अत एव ब्रह्मा के चार ही मुख रहगये,, इस प्रकार की कल्पित कथाद्वारा प्रतिपादन कियागया है। कहनां यही है कि त्तर ब्रह्मा ही सृष्टि के उपादान कारण हैं। एवं-यह ब्रह्मा विष्णुकी नाभिसे निकले हुए कमल पर स्थिर रहकर अपनें प्राण-आप-वाक् अन्नाद इन चारों मुखों से ४ प्रकार की सृष्टिएं बनाया करते हैं। प्राणमुख से वेदसृष्टि का

निर्माण करते हैं । आपोमुख से लोकसृष्टि, वाङ्मुख से प्रजासृष्टि, एवं अन्नादमुख से धर्मसृष्टि का निर्माण करते हैं ॥ ऋक्-यजुः-साम-अथर्व चारों वेद प्राणमय हैं । भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं, यह सातों लोक आपोमय हैं । एवं ऋषि, पितर, गंधर्व, असुर, मनुष्य, देवता, आदि प्रजा वाङ्मयी है । गोत्रसृष्टि का भी इसी प्रजासृष्टि में अन्तर्भाव है । एवं धर्मसृष्टि अन्नादमयी है । ४ ही मुख हैं ४ ही प्रकारकी सृष्टि है । इन सृष्टि धाराओं का विशद विवेचन आगे के सृष्टि ब्राह्मणों में विस्तार से किया जायगा । यहांपर उसका सूक्ष्म निदर्शन मात्र करादिया जाता है । मन प्राण-वाङ्मय त्तर ब्रह्माकी जो प्राण आप वाक् अन्नाद अन्न पांच कलाएं हैं, यह पांचों पाचों में आहुत होजाती हैं । इसी को पंचीकरण कहते हैं । इन पंचीकृत प्राणादि त्तरों को पंचजन कहा जाता है । यद्यपि पांचों में पांचों हैं परन्तु "वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः" इस न्याय से यह पांचों पञ्चजन भी प्राण, आपवागादि नामसे ही व्यवहृत होते हैं । चूंकि यह पांचों सबकी सब में आहुति होनें से उत्पन्न होते हैं अतएव इस यज्ञ को "सर्वहुत" यज्ञ कहा जाता है । तदनन्तर-इन पांचों पंचजनों का (पंचीकृत प्राणादि त्तरों का) परस्पर फिर यज्ञ होता है । पांचों पञ्चजन पांच यज्ञ हैं इन यज्ञों से फिर यज्ञ होता है । इस यज्ञ से-पांच पुरंजन पैदा होते हैं । इसी पुरंजनोत्पादक यज्ञ द्वारा होनें वाले यज्ञ के लिए-

यज्ञेन यज्ञमजयन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् (यजुः ३१।१६)

यह कहा जाता है । यही पांचों पुरंजन स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, इन नामों से व्यवहृत होते हैं । स्वयम्भू प्राणमय है । परमेष्ठी अपोमय है । सूर्य वाङ्मय है । चन्द्रमा अन्नमय है । पृथिवी अन्नादमयी है । इन पांचों के केन्द्र में यह वेदमय प्रजापति ब्रह्मा प्रतिष्ठित रहता है ॥ पांचों यज्ञरूप हैं । यज्ञ ही को विष्णु कहते हैं । इन्हीं

पर ब्रह्माजी विराजमान रहते हैं । ब्रह्मा स्वयं प्रतिष्ठा रूप होते हुए भी यज्ञ-रूप विष्णु प्रतिष्ठा की अपेक्षा रखते हैं—अत एव विष्णु को प्रतिष्ठा की भी प्रतिष्ठा कहा जाता है ॥ पांचों पिंड ही पुष्कर हैं । अर्थात् कमल हैं । प्रत्येक पिण्ड में—हृत्पृष्ठ, अन्तःपृष्ठ, बहिःपृष्ठ, तीन २ पृष्ठ होते हैं । पिण्ड का केन्द्रस्थान हृत्पृष्ठ कहलाता है । इसे ही दहर पुण्डरीक (छोटा कमल) कहते हैं ॥ एवं स्वयं पिण्ड अन्तःपृष्ठ हैं । यही दूसरा पुष्कर है । इसको अन्तःपृष्ठ क्यों कहाजाता है इसका विवेचन—वेदनिरूपण में किया जायगा ।

इस पिण्ड के बाहर पिण्डकी महिमा रहती है । इस महिमा मण्डल को (जिसे कि हम देखते हैं) बहिःपृष्ठ कहते हैं । हम अन्तःपृष्ठ को नहीं देखते उसका केवल स्पर्श कर सकते हैं, अत एव इसे स्पृश्यपिण्ड कहा जाता है । एवं बहिपृष्ठ दृष्टि प्रत्यक्ष होनें के कारण दृश्य पुण्डरीक कहलाता है ॥ इस प्रकार हृत्पुण्डरीक, अन्तःपुण्डरीक एवं बहिःपुण्डरीक इन तीनों पुष्करों में ब्रह्मा निवास करते हैं । ब्रह्मा जब रहेंगे—पुष्कर में ही रहेंगे । वही पिण्ड महिमा के कारण ४८ तक व्याप्त होजाता हैं, अत एव पुरुकरत्वात् इसे पुष्कर कहा जाता है इस पुष्कर के केन्द्र में प्रजापति भगवान् रहते हैं । प्रजापति ब्रह्मा आत्मक्षरतया स्वयं अनुत्पन्न है । स्वयं स्वयंभू है परन्तु सब कुछ इन्हीं से उत्पन्न होता है । अत एव वेद भगवान् कहते हैं—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते
तस्ययोनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा

पुष्कर तीर्थ में ब्रह्मानें यज्ञ कियाथा । ब्रह्मा की जन्म भूमि पुष्कर (बुखारा) था । इत्यादि पौराणिक कथाओं का ऐतिहासिक ब्रह्मा से संबन्ध समझना चाहिये ॥ अस्तु बतलाना हमें केवल इतनाही है कि यह सूर

ब्रह्मा ही सारे जगत के मूल कारण हैं। इन्हीं का नाम स्वयम्भू है॥ इन स्वयम्भू ब्रह्मा से पहिले सबसे पानी ही उत्पन्न होता है। जैसाकि भगवान् मनु कहते हैं।

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥मनु १।८ इति॥

प्राणमय स्वयम्भू से उत्पन्न होने वाले इसी आपोमय समुद्र को "परमेष्ठीमण्डल" कहते हैं। यह आपोमय समुद्र हमारी "रोदसी" त्रिलोकी के (सूर्य्यमण्डल के) भी परमस्थान में रहता है अतएव इसे "परमेष्ठी" कहा जाता है। (देखो शत० ११।१।६।१६) जैसे ज्योतिः गौः आयुः सूर्य के यह तीन मनोता हैं तथैव इस परमेष्ठी के भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, यह तीन मनोता हैं। इन तीनों में से भृगु–अप, वायु, सोम, भेदसे तीन प्रकारका है। अंगिरा–अग्नि, यम, आदित्य, भेदसे तीन प्रकार का है। सूर्य प्रकाशावरोधि तीसरा प्राण चूंकि भृगु अङ्गिरावत् तीन २ नहीं है। अत एव इसको "नत्रिः" इस व्युत्पत्ति से अत्रिः कहा जाता है। इसका विवेचन श्रीगुरुप्रणीत "अत्रिख्याति" में देखना चाहिये।

इन तीनों में से भृगु अंगिरा को अथर्वा कहते हैं। ब्रह्मा की पहली सृष्टि यही अथर्वामय परमेष्ठी है अत एव इसको ब्रह्मा का ज्येष्ठ पुत्र कहा जाता है। स्वयम्भू प्राणमय है। प्राणही वेदका कारण है। यह वेद सर्व प्रथम अथर्वा में ही प्रतिष्ठित होता है। ऊपर से नीचे के मंडलों में उतरता हुआ सर्वप्रतिष्ठारूप वेद अथर्वा में (परमेष्ठि मण्डल में) उतरता है। इसी अभिप्राय से वेद महर्षि कहते हैं—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता॥
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥
(मुण्डकोपनिषद् १।१) इति॥

आधिदैविक ब्रह्मा, और आधिभौतिक (ऐतिहासिक) ब्रह्मा का चरित्र समान है इसी समानताको बतलानें के लिए "प्राह" कहा है। इस अथर्वा का जो भृगु भाग है वह घन, तरल, विरल, इन तीन अवस्थाओं के कारण अप्, वायु, सोम, इन तीन स्वरूपों में परिणत होजाता है। अप् भृगु की घनावस्था है। वायु तरलावस्था है। सोम विरलावस्था है। इन में जो सोम है वही सूर्याग्नि में आहुत होता रहता है। इसी अग्नीसोमात्मक यज्ञ से संसारका निर्माण होरहा है। इस सोम का नाम ही महान् है। स्वयम्भू में रहने वाले चिदात्मा अव्यय का प्रतिबिम्ब इसी महान् पर पडता है। सर्वत्र रहता हुआ भी सूर्य जैसे बिनां पानीं के प्रतिबिम्बित नहीं होता तथैव सर्वत्र व्यापक चित् का बिना महान् के प्रतिबिम्ब नहीं पडता। महान् सोमही चितकी योनि है। इसी में अव्यय पुरुष गर्भ धारण करते हैं। (देखो गीता अ० १४ श्लो० ३।४) यह महान् सोम चूंकि अप्, वायु, सोम, भेदसे तीन प्रकारका है एवं इसी पर चित्का प्रतिबिम्ब पडता है, अत एव संसार में जीव आप्य, वायव्य, सौम्य, भेदसे कुल तीन ही प्रकार के होते हैं। यह तीनों अव्ययगाक्षर युक्त मनप्राणवाङ्मय क्षर प्रजापति के अंश हैं अत एव यह सब जीव मन--प्राण-वाङ्-मय हैं।

मनोता विभाग के अनुसार पृथिवी वाङ्मयी है। अन्तरिक्ष प्राणमय है। आदित्य मनोमय है। यद्यपि हैं तीनों में तीनों तथापि प्रधानताके कारण तीनों वाक् प्राण, मन, नाम से व्यवहृत होते हैं। वाक् अग्नि है। यह ही ऋग्वेद का जनक है। वायु प्राण है। इसी से यजुर्वेद प्रादुर्भूत होता है। मन आदित्य है इसी से साम प्रादुर्भूत होता है। वाक्, प्राण, मनोमय,-अग्नि, वायु, आदित्यही ऋग्, यजुः सामात्मिका वेदत्रयी के (गायत्री मात्रिकवेदके) उद्भावक हैं। इसी अभिप्रायसे भगवान् मनु कहते हैं—

अग्निवायु रविभ्यस्तु त्रयंब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञ सिध्यर्थं ऋगयजुः साम लक्षणम् ॥ मनु० इति ॥

मन प्राण वाक् कहो, अग्नि–वायु–आदित्य कहो, ऋक्–यजुः–साम कहो एकही बात है। अत एव इस यज्ञाधिष्ठिता प्रजापति को मन प्राण वाङ्मय, वेदमय, इत्यादि नामों से पुकारा जाता है। उस विश्वाधिष्ठाता महाप्रजापति की जो–अग्नि, वायु, आदि प्रजा है वह सत्य संहित है। ईश्वर प्रजापति अविद्यादि दोषों से शून्य रहने के कारण एकरूप रहता है। सदा सत्यरूप रहता है। अत एव उससे बद्ध प्राण देवता भी सत्य रूपही रहते हैं। परन्तु जीव प्रजापति का मनप्राणवाङ्मय आत्मा दोषों के कारण सत्यपथ से विमुख होजाता है। मनुष्य का आत्मा मिथ्या बोलने के कारण कुटिल होजाता है। एक मन से रहना सत्यता है। जिधर मन है उधर ही वाक् है। प्राण से चेष्टा अभिप्रेत है। मन से इच्छा अभिप्रेत है। वाक् से शब्द अभिप्रेत है। तीनों यदि एक लाइन पर हैं तो तीनों सत्य मार्ग पर है। ऐसे ही मनुष्यों को महात्मा कहा जाता है। परन्तु यदि तीनों विभिन्न मार्ग से जारहे हैं तो तीनों सत्य से च्युत होरहे हैं। ऐसे ही मनुष्य दुरात्मा कहाते हैं। मनप्राणवाक् के कुटिल होतेही आत्मा का स्वरूप बिगड जाता है। आत्मा पर मिथ्याप्रयुक्त मल चढजाता है। इस से दिव्य संस्काराधान उसी प्रकार नहीं होने पाता, जैसे कि तैल चढे वस्त्रपर रंग नहीं चढ सकता। मिथ्या बोलने से शरीर का कुछ नहीं बिगडता। बिगडता है आत्मा का। इसीलिए–"तेनपूतिरन्ततः" कहा है। मलको हटाकर वस्तुको पवित्र बनादेनां, एवं संस्कारग्राहक स्नेहगुण उत्पन्न करदेनां, पानी का काम है। मेध्य में और पवित्र में अन्तर है। लोटा बिलकुल पवित्र है। उसपर जराभी मैल नहीं है। परन्तु उसपर जो कुछ डालते हैं स्नेह गुणके अभावसे उसे वह पकड नहीं सकता। चू

बिखरा हुआ है पानी डालदीजिए। उसी समय सारे विशकलित परमाणु गुथजांयगे। रूक्ष भावका नामही अमेध्य है। पानीं इस दोषको हटाता है। कपडा चिकनांथा। पानीं ने चिकनाई उतारकर वस्त्रको पवित्र(स्वच्छ)कर- दिया परन्तु उसका अमेध्य भाव न हटा। रंग पकडने का स्नेह गुण भी पानीसे ही आवेगा। रंग चढानें के लिए भी कपडे को पानीं में ही डालनां पडेगा॥ आत्मा मिथ्या दोषसे अमेध्य और अपवित्र रहता है॥ पानीं मलको हटादेता है। आत्मा पवित्र होजाता है। वही पानी पवित्र आत्मा को स्नेह गुणसे युक्त करके दैव संस्कार ग्रहणयोग्य बनादेता है। यज्ञ द्वारा दैव प्राणाधान करनां तबतक सर्वथा व्यर्थ है जबतक कि आत्माको पवित्र और मेध्य न बनालिया जाय। अतः सर्व प्रथम आचमन करनां नितान्त आवश्यक है। अध्यात्म प्राण अधिदैवत प्राणसे पानीं के द्वाराही मिलसकता है। जैसे अन्नसे मन बनता है। तथैव पानी से प्राण बनता है। (देखो छांदोग्य उपनिषत् ५।४) विनां पानी क प्राण रूखा रहता है। अत एव धर्म्माचार्य्यों ने अन्नयज्ञ (भोजन) के आद्यन्त में आचमन का विधान किया है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है। "अनग्नताया वै बिभेमि। काते अनग्नता? आपो वा अनग्नता" इति। अतएव सोमान्न यज्ञके प्रारम्भ में गार्हपत्य आहवनीय के बीच में खडे रह- कर यजमान आचमन करता है। यजमानको यज्ञ द्वारा पृथिवी से स्वर्ग में जानां है। परन्तु मानुषायु भोग पर्यन्त पृथिवी परभी रहनां है। आहव नीय स्वर्ग की प्रतिकृति है, गार्हपत्य पृथिवी स्थानीय है। ऐसी अवस्था में गार्हपत्य से पश्चिम भागमें खडे रहकर आचमन किया जायगा तो स्वर्ग से सम्बन्ध नहीं होगा। यदि आहवनीय के पूर्व भाग में खडे रहकर आच- मन किया जायगा तो पृथिवी से सम्बन्ध टूटजायगा। अतः दोनों के बीच में ही आचमन करना उचित है। स्वयम्भूकी प्राणसृष्टि मानसीसृष्टि है। मैथुनी सृष्टि का (याज्ञिकसृष्टि का) प्रारम्भ आपोमय परमेष्ठी से ही होता

है। यज्ञ द्वारा दिव्यात्मा उत्पन्न करना है। इस उत्पत्ति का उपक्रम पानी है इसीलिए यज्ञमें सबसे पहिले "अपांप्रणयन" कर्म्म किया जाता है। जिसका विशद विवेचन आगे के "अपांप्रणयन" कर्म्म में किया जायगा। यहां पर केवल इतनाही समझलेनां पर्य्याप्त होगा कि यज्ञ कर्त्ता मनुष्य का आत्मा मिथ्यादोष से अपवित्र है अमेध्य है अतएव यह सत्यमय देवताओं का अपने आत्मा में तबतक आधान नहीं करसकता जबतक कि इसका आत्मा पवित्र एवं मेध्य नहीं बनजाता। यह दोनों शक्ति पानी में है। अतएव पवित्र और मेध्य बनकर व्रत ग्रहण करने के लिए यह यजमान सबसे पहिले अप उपस्पर्श करता है ॥१॥

(मू०) सोऽग्निमेवाभीक्षमाणो व्रतमुपैति—"अग्ने व्रतपते व्रतंचरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्" (१ अ० ५ मं०) इति । अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः, तस्मा एवैतत् प्राह-व्रतंचरिष्यामि तच्छकेयम्, तन्मेराध्यतामिति । नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥२॥

(अनु०) वह यजमान आहवनीय अग्नि को ही देखता हुआ "अग्नेव्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मेराध्यताम्" (यह मन्त्र बोलता हुआ) व्रतग्रहण करता है। (आहवनीय) अग्नि देवताओं के व्रतपति हैं। उन्हीं व्रतपति अग्नि के लिए "व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्" यह कहा है। "सोऽग्निमेव०,, इत्यादि पहिले वाक्य में, और "अग्निर्देवानां०,, इत्यादि दूसरे वाक्य में कोई भी बात छुपी हुई नहीं है। अर्थात् दोनों का अर्थ स्पष्ट है।

विवेचना ।

पूर्वके प्रकरण में बतलादिया गया है कि यज्ञ का एकमात्र फल स्वर्ग प्राप्ति ही है। जिस यज्ञ से स्वर्ग मिलता है उसे "ज्योतिष्टोम" यज्ञ कहते हैं। यही यज्ञ "सोमयाग" कहलाता है। इस यज्ञका सौर संवत्सर मण्डल से सम्बन्ध है। ज्योतिष्टोम यज्ञसे यजमान का मानुष (पार्थिव प्रज्ञान) आत्मा पार्थिव संवत्सर के आकर्षण से विमुक्त होकर जरामरण रहित सौर संवत्सर में प्रतिष्ठित होजाता है। सौर संवत्सराग्नि—अहोरात्र, शुक्ल कृष्णपक्ष, ऋतु, अयन, इन चार भागों में विभक्त है। उस सौर अग्नि के अहोरात्र (दिनरात) के हिसाब से ७२० विभाग होते हैं। पक्षके हिसाब से २४ विभाग होते हैं। एवं अयन की अपेक्षा से उत्तरायण और दक्षिणायन यह दो विभाग होते हैं। अयन के अनन्तर संवत्सर मंडल है। इस प्रकार संवत्सराग्नि-संवत्सर के संयोग से पञ्च संस्थ होजाता है। विधा,

और संस्था दोनों में से संस्था में यह नियम है–यदि यजमान उत्तर संस्था से सम्बन्ध करनां चाहेगा तो पहिले उसे पूर्व की संस्था करनीं पडेगी। इस परिभाषा के अनुसार संवत्सर संस्था (ज्योतिष्टोम) करने वालेको पहिले अहोरात्र, पक्ष, ऋतु, अयन, यह चारों संस्थाएं करनीं पडती हैं। कारण इसका यही है–संवत्सर का अग्नि एक समय में एक साथ नहीं पकडा जासकता। अपितु सोपान (सीढी) परम्परा की तरह जिस क्रमसे वह विभक्त है उसी क्रमसे उसे पकडा जासकता है। उसका पहिला विभाग है अहोरात्र। अतएव सबसे पहिले इस अहोरात्र अग्नि को आत्मसात् करना आवश्यक है। इसलिए इसे आत्मसात् करने के लिए यज्ञ कर्त्ता यजमान को सायं प्रातः अग्निहोत्र करना पडता है। अहोरात्र के बाद है पक्षाग्नि। इसे आत्मसात् करने के लिए "दर्शपूर्णमासेष्टि" करनीं पडती है। अमावास्या को दर्शेष्टि होती है। पूर्णिमा को पौर्णमासेष्टि होती है। पक्ष के बाद है ऋतु। ऋतु अग्नि को आत्मसात् करने के लिए "चातुर्मास्य" करना पडता है। यह चातुर्मास्य अन्न और ऋतु भेदसे दो प्रकार का होता है। इन दोनों में से अन्न चातुर्मास्य–व्रीहि, यव, श्यामाक भेद से तीन प्रकार का होजाता है। अन्न चातुर्मास्य को ही आग्रयणेष्टि कहते हैं। शीतर्तु में उत्पन्न होने वाले चांवलों को "व्रीहि" कहते हैं। इनमें रहनें वाले दिव्याग्निको आत्मसात् करनें के लिए इस ऋतु में "व्रीह्याग्रयणेष्टि" करनीं पडती है॥ ग्रीष्म ऋतु में "यव" पैदा होते हैं। अतएव इस ऋतु में "यवाग्रयणेष्टि" करनीं पडती हैं। एवं वर्षाऋतु में "श्यामाक" धान उत्पन्न होता है। तद्गत दिव्याग्नि को आत्मसात् करनें के लिए "श्यामाकाग्रयणेष्टि" करनीं पडती है॥ इसी प्रकार ऋतु सम्बन्धसे भी "वैश्वदेव" "वरुणप्रघास" "साकमेध" तीन चातुर्मास्य होजाते हैं। व्रीहि आदि अन्न, ऋतुओं में हीं उत्पन्न होते हैं–अतएव अन्न चातुर्मास्य का ऋतु चातुर्मास्य में ही अन्तर्भाव होजाता है॥ ऋतु के बाद है अयन। अयनाग्नि को आत्मसात्

करने के लिए "पशुबंध,, यज्ञ करनां पडता है। इस प्रकार अग्निहोत्र, दर्श-पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबंध इन चारों से क्रमशः अहोरात्र, यज्ञ, ऋतु, अयन, इन चारों संस्थाओं का अग्नि जब पकड में आजाता है-इसके बाद संवत्सर यज्ञ का अधिकार मिलता है। इतनां और समझलेनां चाहिए मनुष्य के आत्मा में जन्मसे ही पार्थिव आग्नयेप्राण प्रधान रहता है। क्योंकि पृथिवी के ऊपर उत्पन्न होनें से इस यजमान में सौर अग्नि की अपेक्षा से पार्थिवाग्नि का ही अधिकमात्रा में रहनां न्याय प्राप्त है। ऐसी अवस्था में अग्निहोत्रादि से अध्यात्म के साथ दिव्याग्नि का सम्बन्ध तभी होसकता है-जबकी अध्यात्म में दिव्य अग्नि का मूल पहिले से वर्त्तमान हो। बस उस मूल स्थापन के लिए ही (पार्थिवाग्निप्रधान अध्यात्म में सौरदिव्याग्नि आधान के लिए ही) अग्निहोत्रसे भी पहिले "अग्न्याधान,, किया जाता है। निसर्गतः उल्वण पार्थिवाग्नि में दिव्याग्नि को आहित करनें के लिए, अहोरात्रादि द्वारा आए हुए अग्नि को प्रतिष्ठित करने के लिए-सबसे पहिले अग्न्याधान करनां आवश्यक है। तात्पर्य्य यही है-सजातीय पदार्थों में ही परस्पर आकर्षण होता है। मिट्टीके ढले को आप कितनां हीं ऊंचा उछालिए वह उसीक्षण नीचे आगिरेगा। अग्नि ज्वाला को कितनांही नीचे दबानें का प्रयास कीजिए वह सदा ऊपर की ओर ही जायगा। इसका एकमात्र कारण सजातीय आकर्षण है ।। ढेला पृथिवी की वस्तु है। अग्नि सूर्य्यकी वस्तु है। अतएव ढेला पृथिवी की औरही आता है। अग्नि सूर्य्यकी ओर ही जाता है। चेतन जगत में भी यही नियम है। पशु का पशुसे सम्बन्ध होता है। मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध होता है। निष्कर्ष यही है-तत्तज्जातीय पदार्थों का तत्तज्जातीय पदार्थों से ही सम्बन्ध होता है। यह सामान्य परिभाषा है। इस वैज्ञानिक नियम से सिद्ध होजाता है-दिव्याग्नि का दिव्य अग्निसे ही मेल होसकता है न कि पार्थिव अग्नि से। ऐसी अवस्था में अहोरात्रादि के दिव्याग्नि को अध्यात्म

में प्रतिष्ठित करनेंके लिए पहिले अध्यात्म में दिव्य अग्निका आधान आव-श्यक है। जिस कर्म से यह आधान किया जाता है उसीको अग्न्याधान कहते हैं। अग्न्याधान से जब अध्यात्ममें दिव्याग्नि आजाता है तो सजातीया कर्षणा सिद्धान्त के अनुसार अहोरात्रादि का अग्नि अध्यात्म में प्रतिष्ठित हो जाता है। अग्निहोत्रादि संवत्सर यज्ञके अंग हैं, एवं अग्न्याधान अंगों का अंग बनता हुआ सर्वाङ्ग है। अग्न्याधानके बिनां अग्निहोत्र व्यर्थ है। अग्नि-होत्र के बिनां दर्शपूर्णमास व्यर्थ है। द० पू० के बिनां चातुर्मास्य व्यर्थ है। चातुर्मास्य के बिनां पशुबन्ध व्यर्थ है। बिनां पशुबन्ध के ज्योतिष्टोम करनां व्यर्थ है। उससे सिद्ध होजाता है—स्वर्ग कामनां से ज्योतिष्टोम करनें वाले को पहिले अधिकार समर्पणरूप १ अग्न्याधान, २ अग्निहोत्र, ३ दर्श-पूर्णमास, ४ चातुर्मास्य, ५ पशुबंध, इतनीं इष्टिएं करनां नितान्त आवश्यक है। सोम यज्ञ के बाद है "चयन" यज्ञ। बस शतपथब्राह्मण में इन्हीं दो यज्ञों का सांगोपांग विवेचन है। पहिले काण्डसे प्रारम्भ कर पांचवें तक सोमयज्ञ है। यद्यपि पांचवें काण्ड में बतलाए हुए राजसूय वाजपेय सोमयाग नहीं कहेजाते तथापि उन्हें हम सोमयाग में ही अन्तर्भूत मानसकते हैं। कारण इसका यही है—सोमकी—राजा, वाज, ग्रह, हवि, यह चार जाति हैं। हवि सोमसे होने वाला सोमयाग "हविर्यज्ञ,, कहलाता है। ग्रहस-म्बन्धी ग्रहयाग कहलाता है। वाजसम्बधी वाजपेय कहलाता है। एवं राज सम्बन्धी राजसूय कहलाता है। इसप्रकार "ग्रहयाग,, नामसे प्रसिद्ध सोम-यागत्रय—हविर्यज्ञ, राजसूय, वाजपेय का हम अवश्यही सोमयाग में अन्त-र्भाव मानसकते हैं॥ इसप्रकार प्रथमसे पञ्चमतक सोमसत्ता सिद्ध होजाती है। इसके अनन्तर ६ ठे काण्ड से ९ वें काण्ड तक चयनयज्ञ (अग्नियज्ञ) की इति कर्त्तव्यता है। एवं १० वें से १३ वें काण्ड तक यज्ञरहस्य का प्रतिपादन किया गया है। अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, ग्रह, राजसूय, वाज-पेय, चयन आदि सारे यज्ञों की उपपत्ति बतलाई गई है। एवं १४ वें

कारड में आत्मा का स्वरूप बतलाया गया है। अतएव वैदिक महर्षि ज्ञान प्रधान इस चौदहवें काण्ड को "बृहदारण्यकोपनिषत्,, कहते हैं। यदि यज्ञतेन सोम-और चयन दोनों को मिला लिया जाता है, तो ९-४-१ इसप्रकार तीन विभाग होजाते हैं ९ तक यज्ञकाण्ड है। १३ तक विज्ञान-काण्ड है। चौदहवां "ज्ञान,, काण्ड है। इसप्रकार इस "वेदग्रन्थ,, में ज्ञानसहित विज्ञान का, और कर्म्म प्रपञ्च का, तीनों का समावेश हो जाता है। इन तीन काण्डों के बाहर कोई भी विषय नहीं बचता अतएव हम निःसन्देह इस अद्भुत ग्रन्थ के लिए—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति नतत् क्वचित्।

यह कहसकते हैं। यदि पाठक महाशय आनुपूर्वी से शतपथ को देख जांयगे तो उन्हें हमारे कथन की सत्यता भली भांति विदित होजायगी। पूर्व के काण्डादि क्रम को बतलाने का अभिप्राय यही है-शतपथ के १४ काण्डों में-तीसरे काण्डसे १४ वें तक तो कोई विप्रतिपत्ति नहीं है-विप्रतिपत्ति है १ और २ काण्डमें। पहिले काण्डमें दर्शपूर्णमासका निरूपण है। एवं दूसरे काण्ड में "अग्निहोत्र" चातुर्मास्य का निरूपण है। यहांपर प्रश्न होता है-अग्निहोत्र पहिला कर्म्म है। दर्शपूर्ण मास अग्निहोत्र के अनन्तर होनेवाला कर्म्म है। ऐसी अवस्था में-न्यायतः पहिले अग्निहोत्र का स्वरूप बतलाना चाहिए था। ऐसा न करके जो पहिले दर्शपूर्णमास की इति कर्त्तव्यता बतलाई जाती है इसका क्या कारण है ? इस प्रश्नका उत्तर यज्ञों के "प्रकृति विकृति" भेदपर अवलम्बित हैं। सारे यज्ञ प्रकृति, विकृति भेदसे दो भागों में विभक्त हैं। प्रकृति यज्ञ में जो कुछ होता है-खास खास कर्मों को छोडकर (जिनसे कि प्रकृति यज्ञ से इसका भेद होता है) विकृति यज्ञ में प्रायः सारा कर्म्म प्रकृति के अनुसार ही होता है। अतएव "प्रकृतिवद्-विकृतिः कर्त्तव्या" यह कहा जाता है। यही कारण है-ब्राह्मण ग्रन्थों में

विकृति यज्ञमें पूरी इति कर्त्तव्यता नहीं बतलाई जाती। अग्निहोत्रादि दर्श-पूर्णमास की विकृतिएं हैं। दर्शपूर्णमास इष्टियों की प्रकृति है। बिना प्रकृति ज्ञान के विकृतिज्ञान नहीं होसकता—अतएव क्रम का उल्लंघन करके सबसे पहिले प्रकृतिभूत दर्शपूर्णमास का ही निरूपण कियाजाता है।

इस दर्शपूर्णमास में "पुरोडाश" की आहुति दी जाती है। पुरोडाश को हवि कहते हैं अतएव यह "हविर्यज्ञ" कहलाता है। इस हविर्यज्ञ में सबसे पहिले "व्रतोपायन" कर्म्म होता है। "मैं आजसे अमुक कर्म्म में प्रवृत्त होताहूं, इस कर्म्म में जो जो नियम हैं उन सबका मैं मनसा वाचा कर्म्मणा पालन करूंगा" इस प्रकार से सर्वारम्भ में आहवनीयाग्नि की साक्षी में जो प्रतिज्ञा की जाती है वह प्रतिज्ञा कर्म्म ही "व्रतोपायन कर्म्म" कहलाता है। मिथ्या भाषण से आत्मा सत्यपथ पर नहीं रहता, एवं असत्य भावोपेत आत्मा से की हुई प्रतिज्ञा निष्फल होजाती है—अतः इस दोषको हटाने के लिए व्रतोपायन से भी पहिले आचमन किया जाता है। मेध्य एवं पवित्र गुणयुक्त पानी के आचमन से जब आत्मा पवित्र एवं मेध्य बनजाता है तो तदनन्तर आहवनीय अग्नि की साक्षी में मन्त्र बोलता हुआ यह यजमान सत्यभावोपेत आत्मासे व्रतग्रहण करता है। पूर्व में बतलादिया गया है कि आहवनीयअग्नि सूर्य्यस्थानापन्न है, एवं गार्हपत्य पार्थिवअग्नि है। आहवनीयाग्नि सौरअग्नि है। यही अग्नि सौरप्राण देवताओं के व्रतपति हैं। व्रत कहते हैं अन्न को। चान्द्रसोम (जोकि परमेष्ठी की वस्तु है) इन आग्नेय सौर देवताओं का अन्न है। जैसाकि श्रुति कहती है—

"एषवै सोमोराजा देवाना मन्नं यच्चन्द्रमाः"

(यह सोमराजा देवताओं का अन्न है जोकि चन्द्रमा है शत० ब्रा० १।६।४।५) इति। देवताओं के इस सोमरूप अन्नके अधिपति यही सौरअग्नि

है। अग्निही देवताओं के लिए हव्यवहन करते हैं। जिस किसी भी देवताके लिए आहुति दी जायगी आहवनीय में ही दी जायगी। अतएव इस अग्नि को "हव्यवाहन" कहाजाता है। जैसे प्रकृति में सौरअग्नि हव्य वहन करने के कारण प्राणदेवताओं के व्रतपति हैं तथैव तत प्रतिकृतिभूत आहवनीय अग्नि वैधयज्ञ में होने वाली आहुतियों को प्राणदेवताओं में पहुंचाने के कारण देवताओं के व्रतपति हैं ॥ अपिच सौर देवता आग्नेय हैं। अग्नि की अवान्तर ३३ अवस्थाओं का नामही वसुरुद्रादित्यादि ३३ देवता हैं। क्योंकि यज्ञकर्त्ता यजमान को सारे प्राणदेवताओं को आत्मसात् करनां है अतः सबकी साक्षी मे व्रत ग्रहण करनां आवश्यक है। सर्वदेवतास्वरूप यह आहवनीय है अतः-आहवनीय की साक्षी में ही व्रत ग्रहण किया जाता है ॥

हे व्रतपते अग्ने ! मैं व्रत ग्रहण करूंगा। आप व्रतपति है। अतः ऐसा आशीर्वाद दीजिए जिस से मैं व्रत ग्रहण करने मे समर्थ होसकूं। हे अग्ने आपके अनुग्रह से मेरा यह यज्ञ व्रत (प्रतिज्ञा) समृद्ध बनैं। अर्थात् मेरी यज्ञसम्बन्धिनी प्रतिज्ञा पूरी होजाय। मन्त्रका यही अर्थ है ॥२॥

(मू०) अथ संस्थिते विसृजते—"अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधि" (२ अ० २८ मं०) इति। अशकद्ध्येतद्—यो यज्ञस्य संस्थामगन्। अराधि ह्यस्मै—यो यज्ञस्य संस्थामगन् ॥ एतेन न्वेव भूयिष्ठा इव व्रतमुपयन्ति, अनेन त्वेवोपेयात् ॥ द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति—सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवाः, अनृतं मनुष्याः। "इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि" (१ अ० ५ मं०) इति। तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति स वै सत्यमेव वदेत्। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति—यत् सत्यम्;

तस्मात्ते यशः । यशोह भवति—य एवं विद्वान् सत्यं वदति ॥
अथ संस्थिते विसृजते—"इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि" (२ अ० २८ मं०) इति । अमानुष इव वा एतद् भवति—यद् व्रतमुपैति । न हि तदवकल्पते यद् ब्रूयाद्—'इदमहंसत्याद-नृतमुपैमि'—इति, तदु खलु पुनर्मानुषो भवति । तस्मादिद-महं य एवास्मि सोऽस्मीत्येव व्रतं विसृजेत ॥३—४—५—६॥

(अनु०) यज्ञ (हविर्यज्ञ) समाप्त होजानें पर (वह यजमान) "अग्नेव्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधि,, यह मन्त्र बोलता हुआ व्रत विसर्जन करता है । जो यजमान यज्ञकी समाप्ति पर जापहुंचा, अर्थात् जिसनें निर्विघ्न पूर्वक यज्ञ समाप्त करालिया वह यज्ञ कर्म्म करने में समर्थ होचुका । यज्ञ समाप्ति ही यजमान के यथाविधि कर्म्म करनें में पूरा प्रमाण है । अपिच जो—यज्ञसंस्था को प्राप्त करचुका (समझलो) उस यजमान के लिए वह यज्ञकर्म्म सिद्ध होगया । अर्थात् उसे यज्ञफल मिलगया । अधिक मनुष्य (आगे वतलाए जानेवाले इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि) इस मन्त्रसे ही व्रत ग्रहण करते हैं । (जब कि अधिक याज्ञिकों की सम्मति इसी मन्त्रसे व्रत ग्रहण करनेकी ओर है तो हमारे (याज्ञवल्क्य के) हिसाब से भी) इसीसे व्रतग्रहण करनां चाहिए ॥३॥ संपूर्ण ब्रह्माण्ड में सत्य और अनृत से अन्य कोई तीसरी वस्तु नहीं है । (इस सत्यानृत के युग्म में) सत्यही देवता हैं । अनृत मनुष्य हैं । "मैं अनृत से सत्यभावको प्राप्त होताहूं,, यह कहताहुआ यजमान मनुष्यों की मण्डली से देवताओं की मण्डली में आता है । देवता बन-जाता है ॥४॥ व्रतग्रहणानन्तर वह यजमान सत्यही बोले । देवतालोग इसी नियम का पालन करते हैं जोकि सत्य है । अर्थात् देवता सदा सत्य बोलते हैं । इसी लिए वे यशस्वी हैं (सारेत्रैलोक्य में सौरप्राण देवताओं का यश व्याप्त होरहा है—सारे संवत्सर यज्ञमण्डल में इन्हीं की सत्ता है) । इस प्राकृतिक यशो विज्ञान को

जागता हुआ जो मनुष्य देवताओं की तरह सत्यपथ का अनुसरण करता है, एवं सदा सत्यभाषण करता है वहभी (देवताओं की तरह) यशस्वी होजाता है ॥५॥ (इसप्रकार "इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि,, इस मन्त्र से वृतग्रहण करके) यज्ञ समाप्त होनेपर "इदमहं यएवास्मि सोऽस्मि,, यह बोलताहुआ वृत विसर्जन करता है। जो यजमान वृत ग्रहण करता है वह अमानुष तुल्य (देवतुल्य) होजाता है। ऐसी अवस्था में वृत विसर्जन करते समय "इदमहंसत्यादनृतमुपैमि,, (मैं सत्य से अनृत भावको प्राप्त होताहूं) यह बोलकर वृत विसर्जन करनां उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि—"मैं सत्यसे अनृतभाव को प्राप्त होरहाहूं,, यह बोलने से मिथ्या-भावको प्राप्त होताहुआ यज्ञकर्त्ता यजमान वापस मनुष्य भावोपेत होजाता है। ऐसी अवस्था में यज्ञ करनां सर्वथा व्यर्थ होजाता है। (देव भावसे हटकर हम वापस साधारण मनुष्य न बनजायं) इसलिए "इदमहं यएवास्मि सोस्मि,, यह बोलकर ही वृत विसर्जन करनां चाहिए ॥६॥

विवेचना।

जितनें भी कर्म्म हैं उन सबके आद्यन्त में उपाकर्म और उत्सर्ग दो कर्म्म करनें पडते हैं। उन उन कर्म्मों में नियुक्त होनें के लिए, उन उन कर्म्मों से सम्बन्ध रखने वाले खास खास नियमों के पालन के लिए, उन उन कर्म्मों के प्रारम्भ में प्रतिज्ञा करनीं पडती है। एवं जब वे कर्म्म समाप्त होजाते हैं तो उनके अन्त में उन नियमोंका विसर्जन करनां पडता है। यही उत्सर्ग कहलाता है। इसीको "उद्यापन" कहते हैं। यही आद्यन्त के कर्म्म वैदिक परिभाषा में "व्रतग्रहण" "व्रतविसर्जन" कहलाते हैं। बिनां इनके कर्म्मका स्वरूप ही नहीं बनता है। यजमान हविर्यज्ञ करने वाला है। अत-एव इसे अप उपस्पर्श करके सबसे पहिले व्रतग्रहण करनां पडता है। एवं यज्ञके समाप्त होजानेपर मन्त्र बोलतेहुए व्रतविसर्जन करनां पडता है। सारा-यज्ञ स्वर्ग प्रतिकृतिभूत आहवनीय अग्निपर प्रतिष्ठित है। आहवनीय अग्नि

में हीं देवताओं के लिए आहुति दीजाती है। अतएव उसकी साक्षी में-मन्त्रपूर्वक व्रतग्रहण होता है, एवं उसी की साक्षी में व्रतविसर्जन होता है। इन ग्रहण-विसर्जन सम्बन्धी मन्त्रों में दो मत हैं। कितनेही याज्ञिकों के मतानुसार "अग्नेव्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मेराध्यताम्" इस मन्त्र से व्रतग्रहण होता है और "अग्नेव्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधि" इस मन्त्रसे व्रत विसर्जन होता है। एवं कितनेहीं याज्ञिक लोग "इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि,, इस मन्त्रसे व्रतग्रहण करते हैं, और "इदमहं यएवास्मि-सोऽस्मि,, इस मन्त्रसे व्रतविसर्जन करते हैं। याज्ञिक संप्रदाय में प्रायः यह दूसराही मत अधिक प्रचलित है। अतएव "अनेनत्वेवोपेयात्,, यह कहा है। "एव,, पदसे पूर्वमतका खण्डन नहीं है—केवल द्वितीय मतकी प्रशंसा है। दोनों हीं पक्ष हैं। एवं दोनों में कामचार है। जैसाकि महर्षि कात्यायन कहते हैं—

"अन्तरेणापराग्नीगत्वा परेणाहवनीयं प्राङ्ऽतिष्ठन्नग्निमीक्षमाणोऽपउपस्पृश्य व्रतमुपैत्यग्ने व्रतपते, इदमह मितिवा" (का० श्रौ० सू० २।११ इति)॥

जिनके मतमें "इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि,, "इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि,, इन मन्त्रों से ग्रहणविसर्जन होता है उनके मतको प्रधान मानने का कारण यही है कि संवत्सर प्रजापति सत्यस्वरूप है। एवं आज यह यजमान उसी सत्य प्रजापति की सत्तामें प्रविष्ट होना चाहता है। इसलिए उचित है—यह यजमान सत्यका आश्रय लेकर ही ग्रहणविसर्जन करै। "मैं आज अनृतभावसे सत्य भावको प्राप्त होरहाहूं,, "मैं जोहूं सोही हूं,, यजमानके ग्रहण विसर्जन सम्बन्धी यह दोनों वाक्य सर्वथा सत्य हैं। वास्तव में यज्ञमण्डल में प्रविष्ट होना सत्यमण्डल में प्रविष्ट होना है—क्योंकि यज्ञही प्रजापति है। एवं प्रजापति सत्य है। ऐसी अवस्था में सत्यवाक् द्वारा

ग्रहण विसर्जन करताहुआ यजमान सत्यरूप यज्ञप्रजापति को अवश्यमेव प्राप्त करलेता है ॥

श्रुति नें देवताओं के लिए "सत्यमेवदेवाः,, कहा है, एवं मनुष्यों के लिए "अनृतंमनुष्याः,, कहा है । देवता सत्यसंहित हैं । मनुष्य अनृतसंहित हैं । जिस यज्ञ प्रजापति से देवमनुष्य प्रजाका निर्म्माण होता है उस प्रजापति के सत्य और विश्व दोभाग हैं । सत्य अमृत है, विश्व मृत्यु है । अमृत अविनाशी है । मृत्यु विनाशी है । सत्यतत्व पूर्ण है, शान्त है, नित्य है, आनन्द रूप है । विश्व अपूर्ण है, अशान्त है, अनित्य है, दुःख रूप है । यद्यपि दोनों तत्व तमः प्रकाशवत् अत्यन्त विरुद्ध हैं तथापि दोनों सदासाथ रहते हैं । अमृत मृत्यु के बिनां नहीं रहता, एवं मृत्यु अमृत के बिनां रहनहीं सकता । पानीं से घोर शत्रुता रखने वाला अग्नि, पानी में प्रविष्ट हो—पानीं को गरम करके जैसे अपने शत्रु पानीं के साथ मिला रहता है । चन्द्रमाके पृष्ठ भागका (जोकि हमें नहीं दीखता) अंधकार और आगेकी ओर का (सूर्य्य की ओर का) प्रकाश भाग-दोनों विरुद्ध होते हुए भी जैसे साथ मिले रहते हैं । सर्वथा शान्तपानी और सर्वथा अशान्त लहरें जैसे परस्पर ओतप्रोत रहती हैं ठीक इसी प्रकार अमृत और मृत्यु (सत्य और विश्व) अन्तरान्तरीभाव सम्बन्धसे (जोकि सम्बन्ध षड्विकल्प नामसे प्रसिद्ध है) परस्पर ओतप्रोत रहते हैं । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"अन्तरं मृत्यो रमृतं मृत्यावमृत माहितम्" इति (श० १०।३।६।४)

मृत्युके पेटमें अमृत है और मृत्यू में अमृत अभिव्याप्त है । उसके भीतर भीतर यह है, और इसके भीतर भीतर वह है, तात्पर्य्य इसका यही है कि इन दोनों में आधाराधेय भावनहीं है । जिस प्रकार एक कमरे में रक्खे हुए दीपक के प्रकाश में उसी प्रकाशस्थान में दूसरे दीपक का प्रकाश

समाजाता है। जैसे इन दोनों प्रकाशों में आधाराधेय भाव नहीं होता ठीक इसीतरह एकदेशावच्छिन्न होने से अमृत मृत्यु में भी आधाराधेय भाव का निश्चय नहीं हो सकता। और भी स्पष्ट करने के लिए उदाहरणार्थ अंगुली को अमृत समझिए और अंगुली में जो हिलनें की क्रिया है उसे मृत्यु समझिए। आप अपनीं अंगुली हिलाते हैं। हम आपसे पूछते हैं बतलाइए आपकी अंगुली क्रिया में है या क्रिया (हिलनां) अंगुली में है। प्रयास करनें पर भी आप अंगुली और क्रियाके आधाराधेय भावका निश्चय नहीं करसकते। कारण इसका सत्तैक्य है। अमृत मृत्यु दो होते-हुए भी सत्ताके एक होनें से दोनों दो नहीं एक है। अतएव इनके अभेद को भेदसहिष्णुअभेद कहाजाता है। अतएव दो मानलेनें पर भी "एकमेवाद्वितीयंब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन" इस श्रुतिका विरोध नहीं होता। अस्तु इस विषय को हम अधिक नहीं बढाना चाहते। यहांपर केवल यही समझलेनां पर्य्याप्त होगा कि प्रजापति में सत्य और विश्व दोभाग हैं। मर्त्यविश्व प्रजापति का शरीर है। एवं अमृतसत्य उस शरीर का आत्मा है। आत्माशरीर, सत्यविश्व, अमृतमृत्यु, रसबल, ब्रह्मकर्म, सब पर्याय हैं। दोनों की समष्टि ही प्रजापति है। अतएव वेदभगवान् कहते हैं—

"तस्यह प्रजापतेः—अर्धमेव मर्त्यमासीदर्धममृतम्"

(शत० १०।१।३।२)

मर्त्यभाग क्षणिक एवं विनाशी होने से अनृत है। मायारूप है। एवं अमृतभाग नित्य होनें से सत्य है। त्रिकालाबाध्य तत्वही सत्य कहलाता है। जो सदा एकरूप रहता है वही सत्य है। एवं जो बदलता रहता है वही अनृत है। अमृत तत्व सदा एक रूप रहता है अतएव हम अवश्यही इसे "सत्य" कहनें के लिए तय्यार हैं। एवं क्षणिकक्रियासंतानरूप विश्व प्रतिक्षण बदलता रहता है अतएव वह अवश्य ही अनृत कहलाने योग्य

है। इस प्रकार सिद्ध होजाता है-सृष्टिनिर्म्माता प्रजापति में सत्य और अनृत दोनों भाग हैं। अमृतमृत्युविशिष्ट इसी समीम प्रजापति को दार्शनिक परिभाषा में "ईश्वर" कहाजाता है। ईश्वर में सत् (अमृत) असत् (मृत्यु) दोनों भाग हैं-अतएव ईश्वरावतार पूर्णकलोपेत भगवान् कृष्ण कहते हैं—

"अमृतंचैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन" (गी० ९।१९ इति)।

इसी सदसत् प्रजापति से सारी प्रजा उत्पन्न होती है। क्योंकि उत्पादक प्रजापति में सत्य और अनृत दोही भाग हैं अतएव उससे प्रजाभी सत्य और अनृत दोही प्रकारकी उत्पन्न होती हैं। सत्य प्रजाको देवता कहते हैं। अनृत प्रजाको मनुष्य कहते हैं। प्रजापति में भी सत्य अनृत दो भाग हैं। प्रजा में भी सत्य अनृत दो भाग हैं। जहां देखो तहां यही दो भाव हैं। भाव सत्य है, अभाव अनृत है। दिन सत्य है, रात्रि अनृत है। आनन्द सत्य है, दुःख अनृत है। एक सत्य है, अनेक अनृत है। इस प्रकार जहां कहीं जोभी कुछ देखेंगे वहां आपको सिवाय दो तत्वों के और कोई तीसरी वस्तु मिलही नहीं सकती। कारण इसका यही है-कि इनको पैदा करनेवाले के पास उत्पत्ति के साधन भूत उपादान कारण यही दो हैं। जब उसी में तीसरी वस्तु नहीं है तो फिर उस भावद्वयोपेत प्रजापति से उत्पन्न होनेवाली प्रजा में तीसरी वस्तु कैसे मिलसकती है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर-"द्वयं वा इदं नतृतीयमस्ति सत्यंचैवानृतं च" यह कहा है। हमनें अनुपद में ही देवताओं को सत्यप्रजा बतलाया है, एवं मनुष्यों को अनृत भावोपेत बतलाया है। जिस प्रजापति का पूर्व में वर्णन किया है उस प्रजापति शब्दसे प्रकृत में सौर प्रजापति ही अभिप्रेत समझना चाहिए। ईश्वर प्रजापति के उदर में (महिमा मण्डल में) प्रतिमाभूत परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी यह चार प्रजापति हैं। महामायावच्छिन्न विश्वचर

चारों, ईश्वरके समान भुवनसंस्था (महिमामण्डल) रखनें के कारण एवं उसके उदर में भुक्त रहने के कारण प्रतिमा प्रजापति कहलाते हैं। (देखो शत० ११।१।६ कं० १६।१७।१८ इति) हम पार्थिव मनुष्यों की अपेक्षा से, उन चारों प्रतिमा प्रजापतियों में सबसे नजदीक पृथिवी प्रजापति है। इससे ऊपर चन्द्र प्रजापति है। इससे ऊपर सूर्य्य प्रजापति है। इससे ऊपर परमेष्ठी प्रजापति है। इन सब में परस्पर दहरोत्तर (एकका दूसरे के पेट में रहनांही दहरोत्तर भाव कहलाता है) सम्बन्ध समझनां चाहिए। इन चारों को अपने महिमा मण्डल में रखने वाला वही ईश्वर प्रजापति है। उस परम प्रजापतिरूप ईश्वर के ज्ञानके लिए पहिले इन ४ रों प्रतिमा प्रजापतियों की उपासनां करनीं पडती है। कहनां यही है यद्यपि आदि प्रजापति वही ईश्वर है, किन्तु अवतार रूप होने से यह चारों प्रजापति भी ईश्वर कहलानें लगते हैं। इन चारों मण्डलों में वह ईश्वर ही तो अभिव्याप्त होरहा है। हमारे यज्ञका सम्बन्ध सूर्य्यसे है। अतएव प्रकृत में प्रजापति शब्द से सूर्य्य प्रजापति का ही ग्रहण करेंगे। हमनें बतलादिया है सूर्य्य में अनवरत अग्नीषोमात्मकयज्ञ होता रहता है। अतएव इसे यज्ञप्रजापति भी कहते हैं। सौर यज्ञप्रजापति के पास अग्नि और सोम दो वस्तु है। इन्हीं दोनों के मेल से यह प्रजापति सारी रोदसी त्रिलोकीका निर्म्माण करते हैं। अग्नि सत्यपदार्थ है। सोम ऋत पदार्थ है। सहृदय सशरीर पदार्थ को सत्य कहते हैं। एवं हृदयशून्य (केन्द्ररहित) पिण्डावस्थाशून्य पदार्थको ऋत कहते हैं। आप जितने भी पिण्ड देखरहे हैं—उन सबका एक शरीर है। एवं साथही में उनका कोई न कोई हृदय (केन्द्र–सेन्टर) है। अतएव यच्चयावत् पिण्डों को हम सत्य कहनें के लिए तय्यार हैं। सारे पिण्ड अग्नि से ही बनते हैं। सोम द्रव पदार्थ है। यही सोम जब अग्नि की पकड में आजाता है तो उसी क्षण अग्नि पिण्ड रूप में परिणत होजाता है। सोमगर्भित अग्नि ही पिण्डरूप में परिणत

रहता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारा शरीर है। हमारा शरीर पिण्डरूप में तभीतक परिणत रहता है जबतक कि हम इस शरीराग्नि में अन्नरूप सोमकी आहुति दिए जाते हैं। यदि सोमान्न की आहुति बंद करदी जायगी तो-शरीराग्नि पिण्डको ही खानें लगेगा। अस्थि मांस चर्वी आदिको खाने लगेगा। जब वहभी न रहैंगे तो उत्क्रान्त होजायगा एवं शरीरकी पिण्डावस्था (घनावस्था) नष्ट होजायगी। पृथिवी एक पिण्ड है। एवं पार्थिव यच्चयावत् पदार्थपिण्ड है। पिण्ड अग्निका बनता है। अतएव "अग्निः पृथवी स्थानः"-(यास्क० निरुक्त दै० का० ७।५।२) यह कहा जाता है। पिण्ड में से चारोंओर निकलनें वाली रश्मिएं पिण्डके केन्द्र से बद्ध रहकर नियत मार्गसे ही बाहरकी ओर फैलती हैं। सूर्य्य चन्द्रमा दीपक आदि ज्योतिष्मान् पिण्डों से निकलनें वाली रश्मियों का तो सर्व साधारण को प्रत्यक्ष है ही किन्तु जो पृथिवी आदि ज्योतिष्मान् पिण्ड नहीं है उनसे भी चारों ओर रश्मिएं निकलती हैं जिनका प्रत्य विज्ञान चक्षुसे किया जासकता है। वस्तुतस्तु आपामर आविद्वज्जन सबको इन रश्मियोंका ही प्रत्यक्ष होता है। जिस वस्तु पिण्ड को सर्वसाधारण मनुष्योंने दृश्य समझ रक्खा है वह सर्वथा अदृश्य है। उसका केवल स्पर्श मात्र होता है। प्रत्यक्षतो वेदमयरश्मि मण्डलका ही होता है। अस्तु इस विषयका हम आगे विस्तारसे निरूपण करनें वाले हैं अतः अप्राकृतभिया हम इस विषय को यहीं छोड़कर प्रकृतका अनुसरण करते हैं। यहांपर कहनां केवल इतनांही है-पिण्ड से निकलनें वाली रश्मिएं अपनें नियत प्रदेशसे विचालित नहीं होती। उदाहरणार्थ एक दीपक सामनें रखलीजिए। उस दीपक में से (दीपशिखा में से) चारों ओर फैली हुई अनन्त रश्मिएं निकल रही हैं। सबका स्थान नियत है। पूर्वदिक् की ओर जानें वाली रश्मि (किरण) कभी पश्चिम दिक् में नहीं जासकती। एवमेव पश्चिम भागकी ओर जानें वाली रश्मि कभी पूर्वकी ओर नहीं आसकती। पूर्वदिक् की ओर जाती हुई रश्मि वे

आगे यदि आप एक तिल भी रखदेंगे तो उस ओर जाती हुई रश्मि उस तिलसे टकराकर प्रतिफलित होतीहुई उसी नियत मार्ग से (जिससे वह गई थी) वापस लौट आवेगी किन्तु इधर उधर विरुद्ध मार्ग का अनुसरण कदापि नहीं करेगी। बस इसी नियत भावके कारण हम अग्नि को (पिण्ड रूप सत्य अग्नि को) सत्य कहनें के लिए तय्यार हैं॥ इस सत्य अग्निका परम मित्र, अग्निकी स्वरूप रक्षा में अपने आप को न्योछावर करने वाला सोम सर्वथा "ऋत" है। पानीं, वायु (साम्ब सदाशिव नामसे व्यवहृत हेनें वाला शिव वायु) सोम तीनों एक जाति की वस्तु है। घनावस्था में परिणत रहता हुआ सोम "पानीं" कहलाता है। तरलावस्था युक्त सोम "वायु"कहलाता है। एवं विरलावस्था युक्त प्राणरूप)सोम"सोम"कहलाता है। तीनों एक वस्तु की तीन अवस्थाएं हैं न कि वस्तु तीन हैं। सोम ऋत है, एवं पानी, वायु, सोम, तीनों एक वस्तु है तो ऐसी अवस्था में सुतरां तीनों का ऋत होनां सिद्ध होजाता है। सोम और वायुका अत्रि प्राण के अभाव के कारण चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता अतएव उनके ऋतभावका अग्निकी तरंह आपको साक्षात कार नहीं करवासकते। किन्तु अत्रिप्राण के अधिक मात्रा से रहनें के कारण चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष दृष्ट पानीं में (जोकि सोमही है) आप ऋतभावको प्रत्यक्ष देख सकते हैं। पानीं बहताहुआ जारहा है। आप उस बहतेहुए पानीं के आगे अपनां हाथ लगादीजिए—दीपरश्मि की तरह हाथसे टकराकर वह वापस नहीं लौटेगा अपितु हाथसे इधर उधर होके निकल जायगा। कारण इसका यही है कि अग्नि पिण्डोंकी तरंह पानींका कोई केन्द्र नहीं हैं। बस केन्द्राभाव के कारणही पानीं में सत्यभाव उत्पन्न नहीं होता। यहीबात वायु और सोम में समझनीं चाहिए॥ इसप्रकार अग्नि सत्य है, सोम ऋत है, यह भली भांति सिद्ध होजाता है। इसी सत्यानृतरूप अग्नी षोमसे देवमनुष्य प्रजा उत्पन्न होती है। सूर्य्य में रहनें वाले जो ३३ आग्नेय प्राण हैं वह देवता

कहलाते हैं। सौरमण्डलस्थ प्रकाशी प्राणका नाम ही देवता है। अतएव "चित्रंदेवानामुदगादनीकम्" (यजुः संहिता) यह कहाजाता है। यह सारे देवता (सौरप्राण) सूर्य्य पिण्डसे बद्ध रहते हैं अतएव यह सदा सत्यमार्गकाही अनुसरण करते हैं। उधर सूर्य्यमण्डल में सर्वत्र अभिव्याप्त ऋतसोम ऋत भावके कारण सूर्य्यके केन्द्रसे अलग रहता है। हम पार्थिव मनुष्यों की उत्पत्तिका प्रधान कारण यही सोम है। सोमही को महान् कहते हैं। जिसप्रकार काचपर सूर्य्य का प्रतिबिम्ब पडता है तथैव इस महान् सोमके ऊपरही उस विश्व व्यापक अव्यय पुरुषका (चित् का) प्रतिबिम्ब पडता है। अव्ययात्मा की योनि यही महान्है। इसीमें अव्ययपुरुष गर्भ धारण कर "जीवात्मा" कहलाने लगता है। जैसाकि वैज्ञानिक शिरोमणि भगवान् कृष्ण कहते हैं—

"मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ १ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनि रहं बीजप्रदः पिता ॥ २ ॥"

इति (गीता)

सोमकी अवस्था विशेषका ही नाम पानी है यह हम अनुपदमें ही बतला आए हैं। उसी पानीसे, दूसरे शब्दोंमें सोमसे पांचवीं आहुति में "पुरुष" की उत्पत्ति होती है। जैसाकि श्रुति कहती है—

"इतितु पञ्चम्या माहुतावापः पुरुष वचसो भवन्ति" इति

(छांदोग्यउपनिषत् ५।९।१)

सूर्य्यसे ऊपर सूर्य्यके चारों ओर अभिव्याप्त रहनेवाला पानी "अम्भः" कहलाता है। सौर पानी "मरीचि" नामसे प्रसिद्धहै। पार्थिव

पानी म्रियमाण होनेसे "मर" कहलाताहै । एवं चान्द्र पानी "आप" कहलाताहै । इसप्रकार संपूर्ण ब्रह्माण्ड में पानी कुल चाँरही जातिका है। (देखो ऐ० उप० १।२) इन चारों में से चान्द्र पानी ही "श्रद्धा" कहलाता है इसीलिए "श्रद्धावा आपः"-(वाजिश्रुति) कहाजाता है । चन्द्रमण्डल का श्रद्धा पानी सोमकी पहिली अवस्थाहै । सोम श्रद्धाकी द्वितीय अवस्थाहै। श्रद्धाही सोममें परिणित होती है । अग्नि विशकलन (विकास) धर्म्माहै। सोम नामका श्रद्धा पानी स्नेहगुण युक्तहै। यही कारणहै-मनुष्य का श्रद्धाभाग (चान्द्ररस) जिस ओर झुकजाताहै वह उसीके साथ बद्ध होजाताहै । उसका आत्मा उससे चिपक जाताहै । गुरुकी ओर शिष्यकी श्रद्धाका झुकावहै श्रद्धाके कारण शिष्यनें गुरुको पकड लिया है, किंवा श्रद्धाके प्रभावसे वह स्वयं गुरुसे बद्ध होगयाहै । अब गुरुकी चाहे कोई कितनी ही निन्दाकरै किन्तु उस श्रद्धासूत्र द्वारा होने वाले बंधन के प्रभावसे शिष्य कभी गुरुके प्रति बुरी भावना नहीं करसकता । पुरुष का स्वरूप उसी श्रद्धासे बना हुआहै । अतएव वह जिसपर (अपनी) श्रद्धा करता है-उसका मन तद्रूप बनजाताहै । इसका आत्मा और श्रद्धेयका आत्मा अभिन्न होजाताहै । इसी विज्ञान को लक्ष्यमें रखकर श्रुति कहतीहै-

"तंयथायथोपासते तथैवभवति" (छांदोग्य उपनिषत्) इति

इसी श्रौत अर्थका स्पष्टी करण करते हुए वेदैकवेद्य अव्यय पुरुष कहते हैं—

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो योयच्छ्रद्धः सएवसः" इति (गीता)

इसी श्रद्धासे सोम उत्पन्न होताहै। सोमसे वर्षा होतीहै। अर्थात् वही सोम स्थूलरूपमें परिणत हो बरसने लगताहै । वर्षारूप में परिणित इस सोमसे-जिसे कि हम "पानी" कहैंगे अन्न उत्पन्न होता है।

अन्नसे रेत बनताहै। इस रेत सोमकी जब स्त्रीकी रक्ताग्निमें आहुति होतीहै तो इसी "अग्नीषोमात्मक" यज्ञसे पुरुष उत्पन्न होताहै। इसप्रकार पुरुषकी उत्पत्ति श्रद्धानामके चान्द्र सोमसे होतीहै यह बात भली भांति सिद्ध होजातीहै। "पार्थिव आकर्षणसे निकले बाद जो वस्तु जिस-स्थानकी होतीहै–अपने प्रभवके आकर्षण से आकर्षितहो वह उसीमें लीन होजातीहै" इस वैज्ञानिक सिद्धान्तके अनुसार प्राणिमात्र पार्थिव आकर्षणसे निकलतेही प्रतिसंचर क्रमसे अपने प्रभव चन्द्रमामें चले जाते हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्यमें रखकर वेद भगवान् कहते हैं—

"येवैकेचास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति"

(कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषत् १।१) इति।

सूक्ष्म शरीर धारण करके जो पुरुष चन्द्रलोकमें चला जाताहै--उस का अपने पुत्रसे सम्बन्ध बना रहताहै। क्योंकि पुत्रमें पिताकाही श्रद्धा-रस आयाहै। इसी श्रद्धासूत्रके द्वारा चन्द्रलोकमें जाते हुए प्राणीको उस का पुत्र सोममय तण्डुलोंसे निर्मित पिण्डदानसे उसके पास अन्न पहुंचा-देताहै। इस अन्नके पहुंचनेका द्वार यही श्रद्धासूत्र है। अतएव "श्रद्धया (श्रद्धासूत्रेण) दीयते यस्मिन्कर्मणि" इस व्युत्पत्तिसे यह कर्म "श्राद्ध" नामसे व्यवहृत होता है, जिसकाकि विस्तृत विवेचन हम आगेके "पिण्ड-पितृयज्ञ ब्राह्मण" में करने वाले हैं। प्रकृतमें इस प्रपञ्चसे हमे यही बत-लानाहै कि मनुष्यका आत्मा सोमप्रधान होनेसे निसर्गतः सत्य भावसे च्युत रहता है। एवं भुवन स्वर्गवासी भौम मनुष्य देवताओं का आत्मा यज्ञ द्वारा आत्मामें आहित सत्य अग्निकी उल्बणता के कारण सत्यभावो-पेत रहताथा। बस इसी आधिदैविक आधिभौतिक उभयविध प्रजाके सत्या-नृत विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर ही—"सत्यमेवदेवाः, अनृतंमनुष्याः" यह कहा है॥

यज्ञद्वारा आज यह यजमान उन सत्यस्वरूप देवताओं में जानेवाला है। सत्यप्राणदेवताओं का आत्मासे सम्बन्ध जोड़नेवाला है, अतएव आजसे यह यज्ञ समाप्ति पर्यन्त सत्य बोलनें की प्रतिज्ञा करता है। यज्ञके समाप्त होनेपर व्रत विसर्जन करताहुआ यह यजमान यदि "मैं सत्यसे अनृतभाव को प्राप्त होरहाहूं" यह बोलेगातो वाग्बलके प्रभावसे सचमुच यह वापस साधारण मनुष्य का मनुष्यही रहजायगा। यज्ञद्वारा प्राप्तदेवभाग नष्ट न हो अतः "इदमहं यएवास्मि" इसी मन्त्रको बोलते हुए व्रतविसर्जन करना चाहिए। यद्यपि मनुष्य कभी सत्य नहीं बोलसकता। क्योंकि इसके आत्मा में निसर्गतः सोम भागही उल्बण रहता है। तथापि "चक्षुर्वैसत्यम्" इस सिद्धान्तको आगे रखकर ही श्रौत सत्यादेश की संगति लगानी चाहिए। ऐतरेय श्रुतिमें भी अन्तमे यही निर्णय कियेगया है। वहांपर "स वै सत्यमेव-वदेत्" इस आज्ञाका विरोध करतेहुए पूर्व पक्ष किया है—जबकि (सोमभाव के कारण) मनुष्य सत्य बोलही नहीं सकता तो ऐसी अवस्थामें उसे सर्वथा असंभव सत्यबोलने की आज्ञा कैसे दीजाती है। इस पूर्व पक्षका—"एतद्ध वै मनुष्येषु सत्यं निहितं यच्चक्षुः" यह समाधान कियागया है। यही कारण है "मैनें आखों से देखा है" "मैने सुना है" यह कहने वाले मनुष्यों में से जो—"मैनें आखोंसे देखा है" यह कहताहै उसी की बात सत्यमानी जाती है। (देखो ऐत० ब्रा० १।६) कारण इसका यही है कि चक्षुरिन्द्रियका निर्माण सूर्य्य से होता है। जैसाकि श्रुति कहती है—"आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्" (आदित्यरस चक्षुरिन्द्रिय स्वरूप में परिणत हो—अक्षिगोल में प्रविष्ट होगया ऐ० उप० २।४ इति) सूर्य्य अग्निमय है। अग्नि को हमने सत्य बतलाया है। इसी से चक्षुरिन्द्रिय बनती है। अतएव चक्षुको सत्य बतलायागया है। सारे प्रपञ्च का निष्कर्ष यही हुआ कि प्राणरूप सत्यसंहित देवताओं में मिथ्याभावोपेत मनुष्यका प्रवेश करना अनधिकार चेष्टा है,

अतएव यह यजमान "देवो भूत्वा देवं भावयेत्" इस सिद्धान्त के अनुसार, सत्य बोलनेकी प्रतिज्ञा करताहुआही व्रत ग्रहण करता है ॥

अथातोऽशनानशनस्यैव । तदु हाषाढः सावयसोऽनशनमेव व्रतं मेने । मनो ह वै देवा मनुष्यस्याऽऽजानन्ति, त एनमेतद् व्रतमुपयन्तं विदुः—'प्रातर्नो यक्ष्यते' इति । तेऽस्य विश्वेदेवा गृहानागच्छन्ति, तेऽस्य गृहेषूपवसन्ति—स उपवसथः ॥ तन्वेवानवक्लृप्तम्—यो मनुष्येष्वनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयात्, अथ किमु—यो देवेश्वनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयात तस्मादु नैवाश्नीयात् ॥ तदु होवाच याज्ञवल्क्यः । यदि नाश्नाति—पितृदेवत्यो भवति, यद्यु अश्नाति—देवानत्यश्नाति, इति । स यदेवाशितमनशितं तदश्नीयाद्—इति यस्य वै हविर्न गृह्णन्ति तदशितम्—अनशितम् । स यदश्नाति—तेनापितृदेवत्यो भवति, यद्यु तदश्नाति—यस्य हविर्न गृह्णन्ति तेनो देवान् नात्यश्नाति ॥ स वा आरण्यमेवाश्नीयात् । या वा आरण्या ओषधयः, यद्वा वृक्ष्यम् । तदु ह स्माऽऽहापि वर्कुर्वार्ष्णः—'माषान्मे पचत, न वा एतेषां हविर्गृह्णन्तीति' । तदु तथा न कुर्यात् । व्रीहियवयोर्वा एतदुपजम्—यच्छमीधान्यम्, तद् व्रीहियवावेवैतेन भूयांसौ करोति । तस्मादारण्यमेवाश्नीयात् ॥ ७।८।९।१० ॥

(अनु०) (व्रतग्रहणके अनन्तर—"अशनानशन" नामसे प्रसिद्ध आरण्य औषधि अथवा फलभोजन का विधान है अतः व्रतग्रहणके अनन्तर (क्रमशः

प्राप्त) अशनानशनका ही निरूपण करते हैं। इस अशनानशन के विषयमें "सत्रयस" के पुत्र अतएव "सात्यस" नामसे प्रसिद्ध "अषाढ" नामके महर्षि ने अनशन को ही (नखानेको ही) व्रतमाना है। (अपने अनशन पक्ष को विज्ञान संमत बतलाते हुए अषाढ ऋषि कहते हैं) देवतालोग मनुष्य के मनको (मनके भावोंको) सब ओर से जानतेहैं (अर्थात् देवताओंसे मनुष्यों के मनकी कोई भी बात छुपी हुई नहीं है)। अतएव देवता व्रतग्रहण करते हुए यजमानको "यह प्रातःकाल हमारा यजन करेगा" इसप्रकार पहिचान-लेतेहैं। अर्थात् जिससमय यजमान व्रतग्रहण करताहै उसीसमय देवता लोग उसके मनकी "मैं कल देवताओंका यजन करूंगा" इस वृत्तिको पहि-चान जातेहैं। (जब देवताओंको निश्चय होजाता है कि यह कल (प्रतिप-दको) हमारा यजन करेगा तो) यहसारे देवता उसदिन (पहिलेदिन) इस यज्ञकर्त्ता यजमान के घर आजातेहैं। आकर वेलोग इसके समीप बसजाते हैं। (क्योंकि इसदिन देवता यजमान के समीप बसते हैं अतएव) यह दिन "उपवसथ" दिन कहलाता है ॥७॥ (अतिथि रूपसे घरमें आएहुए) मनुष्य के भोजन करानेसे पहिले जो गृहस्थ आप खालेता है- यही सर्वथा अनुचितहै-भला उस अनौचित्य का तो कहनाही क्या है अतिथिरूपसे घरमें आएहुए देवताओं के खानेसे पहिले ही जो यजमान भोजन करलेता है। अर्थात् जबकि मनुष्य अतिथि को ही (सामान्य अतिथि को) भोजन कराए पहिले स्वयं भोजन करना अनु-चित है तो जिसके घरमें सर्वपूज्य देवता अतिथि बनकर आएहों और उन श्रेष्ठ अतिथियों को भोजन न कराए पहिले जो यजमान स्वयं खालेता हो- इसप्रकार के-(आतिथ्यविरुद्ध) अशनके अनौचित्य का तो कहनाही क्याहै। अतः अतिथिधर्म्म का पालन करनेके लिए हमारे (अषाढके) मतानुसार इस दिन कुछभी नहीं खाना चाहिए ॥८॥ (अषाढऋषि के इस अनशन पक्षको दूषित बतलाते हुए मधुश्रवा नामके याज्ञवल्क्यके पट्टशिष्य अपनेगुरू याज्ञ-

वल्क्य का मत बतलाते हैं) यदि (इसदिन) यजमान कुछ नहीं खाता है तो (इसका यज्ञकर्म्म देवदेवत्य न रहकर) पितृदेवत्य होजाता है। यदि खालेता है तो (अषाढ ऋषिके कथनानुसार) अतिथि बनेहुए देवताओं का अतिक्रमण करके खाता है। (इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए हमारे (याज्ञवल्क्य के) विचार से) वह यजमान जो अन्न या फल "अशित अनशित" हो वही खाय। जिस अन्नकी देवता हवि नहीं लेते हैं वही अशितअनशित है। (यह अन्न अशित होताहुआ भी अनशितवत् होजाता है अतएव इसे "अशितानशित नामसे पुकारा जाता है जैसाकि विवेचना में बतलाने वाले हैं)। वह यजमान इस अन्नको खालेता है इसलिएतो उसका कर्म अपितृदेवत्य होजाता है। एवं जिस अन्नको देवता नहीं खाते उसे खाता है इसलिए देवताओंका अतिक्रमण करके भी नहीं खाताहै। ऐसा करने से अतिथि मर्यादा का भी उलंघन नहीं होता एवं देवकर्म्म पितृदेवत्य भी नहीं बनता यही तात्पर्यहै ॥९॥ वह यजमान आरण्य वस्तु (प्रकृति से पकाहुआ अन्न) ही खाय। जो जंगली अन्न हैं, एवं फल हैं, उन दोनों में से किसीको भी खावे (क्योंकि इनकी हविदेवता ग्रहण नहीं करते हैं अतएव यह अन्न "अशनानशन" होजाता है)। (इस पितृदेवत्य और देवतातिक्रमण दोषको लक्ष्यमें रखकर ही) वृषाके पुत्र अतएव "वार्ष्ण" नामसे प्रसिद्ध "वर्कु" महर्षिने (दर्शेष्टि करनेके लिए अमावास्याको व्रतग्रहण करके अपनी पत्नी से कहाथा कि) आज मेरेलिए केवल माष (उर्द) पकाओ। क्योंकि देवतालोग इनकी हवि ग्रहण नहीं करते हैं। (परन्तु यह मत याज्ञवल्क्य के मतानुसार अशुद्ध है अतएव इसमतका खण्डन करतेहुए कहते हैं कि) ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। अर्थात् उपवास के दिन माष कभी नहीं खाने चाहिए। क्योंकि व्रीहि और यवका यह "उपच" है जोकि शमीधान्य है। इस माषसे व्रीहि और यव को बढाते हैं। अर्थात् माष डाल देनेसे चावलों की और जोकी फसिल अच्छी होती है अतएव किसान लोग

इनकी वृद्धि के लिए माषों को इनके खेतमें डाल देते हैं) ऐसी अवस्था में इन माषों में हविष्यान्नरूप व्रीहिरस और यवरस का मिलना अनिवार्य है अतएव (माष न खाकर) आरण्य औषधि ही खानी चाहिए ॥१०॥

(वि०) दर्श और पूर्णमास दोनों इष्टिएं अमोत्तर प्रतिपत् को होती हैं। शुक्लपक्षकी प्रतिपदा को "दर्शेष्टि" होती है। एवं कृष्णपक्षकी प्रतिपदाकों पूर्णमासेष्टि होती है। इष्टि होती है प्रतिपत् को किन्तु दर्शेष्टि में अमावास्या में व्रतोपायनादि यज्ञाङ्ग कर्म करने पडते हैं-इसलिए यह इष्टि "दर्शेष्टि" (अमावस्येष्टि) कहलाने लगती हैं। अतएव च कृष्णप्रति पत्में होनेवाली इष्टि पूर्णिमामें होनेवाले यज्ञाङ्गकर्म्मों के सम्बन्ध से पूर्णमासेष्टि कहलाने लगती है। इन दोनों इष्टियों में से पहिले दर्शेष्टि का ही निरूपण किया जाता है। क्योंकि मासका आरम्भ अमोत्तर प्रतिपत् से ही होताहै। यद्यपि आजकल लौकिक व्यवहार में पूर्णिमान्त मासमाना जाता है किन्तु वैदिक पद्धति के अनुसार अमान्त मासको ही प्रधान माना जाता है। कारण इसका यहीं है कि चन्द्रमाकी पूरी परिक्रमा अमापर ही समाप्त होती है। अमासे चलकर अमापर पहुंचकर अपने परिभ्रमण वृत्तकी (जोकि वृत्त दक्षवृत्त नामसे प्रसिद्ध है) एक परिक्रमा लगालेता है। यही कारण है-पञ्चाङ्गों में पूर्णिमाके स्थान में १५ का अंक होता है और अमाके स्थानमें ३० का अंक होता है। क्योंकि पूर्णिमा महिनेकी १५ वीं तिथि है, और अमावास्या ३० वीं तिथि है। इस अमान्तमासमें शुक्लपक्ष-पूर्वपक्ष कहलाता है, एवं कृष्णपक्ष-अपरपक्ष कहलाता है। इसप्रकार अमरकारका "पक्षौपूर्वापरौशुक्लकृष्णौ मासस्तु तावुभौ" (पूर्वपक्ष नामका शुक्लपक्ष और अपरपक्ष नामका कृष्णपक्ष दोनों की समष्टि "मास" कहलाती है-अमर० १।१.२ इति) यह कथन हमारे अमान्तमास में पूरा प्रमाण बनजाता है। ऐसी अवस्था में अमोत्तर प्रतिपत्, मासका आरम्भ दिन मानाजाता है, और अमावास्या मासका अन्तिम दिन

माना जाताहै। पहिले अमाहै वादमें पूर्णिमाहै। अतएव इन पक्षेष्टियोंको "दर्शपूर्णमासेष्टि" कहाजाताहै। यदि पूर्णिमान्त मास माना जाता तो "पूर्णमासदर्शेष्टि" व्यवहार होता। पक्षाग्निको दूसरे शब्दोंमें मासाग्निको आत्मसात् करनेके लिए दर्शपूर्णमासेष्टिकी जातीहै। क्योंकि मासका पूर्वभाग अमोत्तर प्रतिपत्से प्रारम्भ होताहै अतः पहिले दर्शेष्टिका ही निरूपण होना न्याय प्राप्तहै। अतएव "शतपथ" में पहिले दर्शेष्टि की ही इतिकर्त्तव्यता बतलाई गईहै। इष्टि प्रतिपत् को होती है। उसके लिए पहिलेदिन [अमावास्याको] क्योंकि उपवास कियाजाताहै अतएव यहदिन "उपवसथदिन" कहलाताहै। इस उपवसथ दिनमें १ आचमन, २ व्रतोपायन (व्रतग्रहण) और ३ व्रतपालन तीन कर्म होतेहैं। इन तीनोंमें जो तीसरा व्रतपालन कर्महै उसके—१ सत्यभाषण, २ आरण्याशन [अथवा फलाहार] ३ अधःशयन, (गार्हपत्यागारमें अथवा आहवनीयागारमें दम्पतीका अधः शयन), और ४ ब्रह्मचर्य्यपालन, यह ४ अंग कर्म्म हैं। इन चारोंसे "व्रतपालनकर्म्म" का स्वरूप बनताहै। इसप्रकार अमावास्यामें होनेवाले—आचमन, व्रतोपायन, व्रतपालन इनतीनों कर्म्मोंको हम "उपवसथ दिनकर्म्म" कहेंगे। इन उपवसथ दिन कर्म्मोंमें से आचमन, व्रतोपायन और व्रतपालनान्तर्गत सत्यभाषण, इन तीन कर्मोंका तो सोपपत्तिक निरूपण करदिया गयाहै। अब क्रमप्राप्त "आरण्याशन" का निरूपण करतेहैं।

अषाढऋषिके मतानुसार इसदिन (अमावास्याको) यज्ञकर्त्ता यजमान को कुछ नहीं खाना चाहिए। कारण इसका यहीहै कि यजमान "अग्नेव्रतपते०" इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ सर्वदेवस्वरूप आहवनीय अग्नि की साक्षी में व्रतग्रहण करता है। बस इसी समय से यजमान अपने मन को देवताओंकी ओर झुकादेताहै। व्रतग्रहणकालसे व्रतसमाप्तिपर्यन्त यह अपने मन प्राण वाङ्मय आत्माको देवताओंके अर्पण करदेताहै।

सौरप्राणका नाम ही देवताहै जैसाकि व्रतोपायन कर्ममें बतला आएहैं। एवं चान्द्रसोमही इन अग्निरूप प्राणदेवताओंका अन्नहै। सोमही अन्नाद अग्निकी खुराकहै। सोमको देखतेही आग्नेयप्राण उसे अपनी ओर उसीप्रकार खेंचलेता है— जैसेकि चुम्बकलोहा लोहेको अपनी ओर खेंचकर उसे आत्मसात् करलेताहै। यही चान्द्रसोम पूर्वप्रतिपादित पञ्चाहुतिविज्ञानके अनुसार हमारा अन्न बनाहुआहै। इस अन्नरूप सोम को जब हम खातेहैं तो सबसे पहिले उस भुक्तान्नके रस और मल यह दो विभाग होतेहैं। रसभागको आत्मा पकडलेताहै— और विष्ठारूप मलभागको धक्का देकर बाहर निकालदेताहै। मलभागके निकले बाद जो "रस" भाग बचताहै वहभी शुद्धरस नहीं है - उसमेंभी रस मल दो भाग रहतेहैं। इस रसभागका जो "रसभागहै वह असृक् (रुधिर) कहलाताहै - एवं मलभाग "रस" ही कहलाताहै। रसभागके रसरूप इस असृक्में भी रसमल दोनों रहतेहैं। उनकी जब छांट होतीहै तो दोनों विभाग अलग अलग होजातेहैं। जो रसभागहै वह "मांस" कहलाताहै - एवं मलभाग "असृक्" कहलाताहै। इस रसरूप मांसमें भी रसमल दोनों मौजूदहैं। इसका रसभाग "मेदा" कहलाता है। मेदामें भी रसमल दोनोंहै। मेदाका रसभाग "अस्थि" कहलाता है। अस्थिमें भी रसमल दोनोंहैं। इसका रसभाग "मज्जा" (मींगी नामसे प्रसिद्ध चर्बी) कहलाताहै। मज्जामें भी रसमल दोनोहैं। इसके रसभागका नामही "शुक्र" है। जिसप्रकार औषधीको काटकर उसका रस निकालाजाताहै। रसका सार खेंचाजाताहै, उसीप्रकार वही भुक्त अन्न उत्तरोत्तर होनेवाली क्रमिक छांटसे १ रस, २ असृक्, ३ मांस, ४ मेदा, ५ अस्थि, ६ मज्जा, ७ शुक्र इन सात अवस्थाओंमें परिणत होजाताहै। यह सातों पृथिवीकी वस्तुहै। शरीरमें यह सातों पार्थिवधातु एकदूसरेके ऊपर चिनेहुएहैं। सबसे ऊपर चर्महै। चर्म

के भीतर रसहै । रसके भीतर असृक्है । असृक्के भीतर मांसहै । मांसके भीतर मेदाहै । मेदा के भीतर अस्थिहै । अस्थिके भीतर मज्जा है । मज्जाके भीतर शुक्रहै । इन पार्थिव धातुओंका क्योंकि चिनाव हो रहाहै अतएव इन सातों धातुओंकी "चिति" को "भूतचिति" कहतेहैं । इन सातों धातुओंमें जो सातवां "शुक्र" नामका अन्तिम धातुहै - यह वही अन्नगतसोमहै । किन्तु यह शुद्धसोम नहींहै । इसमें अभी पार्थिव रस और आन्तरिक्ष्यरस और मिलाहुआहै । पूर्वोक्त ७ वों धातु पृथिवीकी वस्तुहै । एवं पृथिवी "वाक" कहलातीहै । अतएव इन ७ वों की समष्टिको हम "वाक" कहनेके लिए तय्यारहैं । इनमेंसे सातवें शुक्र नामके अन्तिम पार्थिव धातुमेंसे जब पार्थिवरस निकल जाताहै तो केवल आन्तरिक्ष्य और दिव्यरस बाकी बचजाताहै । बस शुक्रकी इसी अवस्थाको "ओज" कहतेहैं । ओज अन्तरिक्षकी वस्तुहै । यही ओज प्राणस्थानीयहै । अन्तरिक्षमें रहनेवाला सदागतिधर्म्मा वायु पार्थिव आकर्षणसे विमुक्त रहताहै । यही ओज बनताहै । अतएव जिस मनुष्य में ओजकी मात्रा जितनी अधिक होतीहै उसका शरीर उतना ही अ-धिक हलका रहताहै । एवं जिसमें ओजकी मात्रा जितनी कम होतीहै वह उतनाही अधिक गुरु और अल्पप्राण रहताहै । ओजस्वीके मुखपर दिव्यका-न्ति विराजमान रहतीहै । ओजशून्य मनुष्यके मुखपर मक्खिएं भिनभिनाया करतीहैं । अन्तरिक्षमें व्याप्तवायुकोही प्राण कहतेहैं (शत ५।२।३।९) । अतएव इस ओजको हम प्राण कहनेकेलिए तय्यारहैं । इसमेंसे जब आन्तरिक्ष्य रस निकल जाताहै तो शुद्धसोम रहजाताहै । दिव्यलोकमें रहनेवाला वही सोम संचरक्रमसे अन्न बनजाताहै । एवं प्रतिसंचर क्रमसे वही सोम - रसादि रूपमें परिणत होताहुआ अपनी शुद्ध अवस्थामें परिणत होजाताहै । बस इसी शुद्ध सोमका नाम मनहै । संसारमें तेज चलने वालोंमें वायु सबसे अधिक तेज चलने वालाहै । परन्तु यह सोमरूप

मन वायुसे भी कई हजार गुना अधिक तेज चलताहै । एक सेकिन्डके भीतर भीतर आपका मन जयपुरसे कलकत्ते चलाजाताहै और वापस लौटआताहै । कलकत्तेकी तो कथाही क्याहै यह दिव्यभाव तो क्षण मात्र में १४ हों भुवनोंमें फिर आताहै । मनकी इस शीघ्र गतिका वर्णन करते हुए वेद वेदपुरुष कहतेहैं—

"दूरङ्गमंज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनःशिवसंकल्पमस्तु"

(जो मन दूरसे दूर दौड़ने वालाहै, एवं जो मन सूर्य्य चन्द्रादि ज्योतियोंका ज्ञान करवानेके कारण ज्योतियोंका भी ज्योतिहै - ऐसा वह मेरामन शुभ संकल्पवाला बनें—यजुः ३४।१. इति) । इसप्रकार "अन्नमें आयाहुआ रस मल के क्रमिक विशकलनसे शुद्धरूपमें (अणिमा भावमें) परिणत होता-हुआ वही सोम"मन"कहलानें लगताहै" यह बात पूर्वके निदर्शनसे भलीभांति सिद्ध होजातीहै । अतएव मनको अन्नमय कहा जाता है (छांदोग्य. ५।४) । सातों धातु वाक्है । ओज प्राणहै । शुद्ध सोम मनहै । सातों धातु पार्थिव है । ओज आन्तरिक्ष्यहै । मन दिव्यहै । तीनोंकी समष्टिका नाम ही क्षर आत्माहै । इसी आत्माका निरूपण करती हुई बृहदारण्यक श्रुति कहती है—

"सवा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः" इति ।

१ अन्न २ मल	रस, असृक्, मांस, मेदा अस्थि, मज्जा, शुक्र,—				पार्थिवधातु—	"वाक्"
	ओज	...	...	...	आन्तरिक्ष्य—	"प्राण"
	शुद्धसोम	...	...	...	दिव्य —	"मन"

इस पूर्वके निदर्शनसे, " मन साक्षात् चान्द्रसोम है " यह सिद्ध होजाताहै । क्योंकि मन साक्षात् सोमहै, एवं सोम आग्नेय प्राणदेवताओंका अन्नहै । अतएव यदि मनका देवताओंकी ओर झुकाव होजाता

है तो सारे आग्नेय देवता मनकी ओर अपना रुख करलेतेहैं । आज यजमाननें "मैं कल देवताओंका यजन करूंगा" यह संकल्प कियाहै । अतएव सारे देवताओंका रुख यजमानके मनकी ओर होगयाहै । अपिच त्रैलोक्य व्यापक प्राणदेवताओंसे मनका भाव नहीं छुपाया जासकता "वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः" के अनुसार प्राणदेवता और प्राणदेवताओंको यज्ञद्वारा आत्मामें आहित करनेवाले मनुष्यदेवता–यजमान जो कुछ संकल्प करताहै उसीसमय पहचान लेतेहैं । यजमानकी भावनाके साथही सर्वज्ञ चेतनामय प्राणदेवता यजमानके यज्ञमण्डलमें प्रविष्ट होजातेहैं । उपवासके दिन व्रतग्रहणके समयसेही प्राणदेवताओं का यजमानकी यज्ञशालाकी ओर रुख होजाताहै । क्योंकि इसदिन देवता यजमानके पास आजातेहैं अतएव "यजमानसमीपे वसन्ति यस्मिन् दिवसे देवताः" इस व्युत्पत्तिसे यह दिन "**उपवसथ**" कहलाने लगताहै । यजमानकी यज्ञशालामें आज सारे प्राणदेवता अतिथि रूपसे व्याप्त होरहेहैं । अतः अतिथि धर्म्मके अनुसार इसदिन यजमानको "अनशन" ही करना चाहिए । परन्तु इसमें एक बडा भारी झगडा उपस्थित होजाता है । यदि यजमान "अतिथिधर्म्म" को प्रधान मानके अनशन करता है तो इस का यह देवकार्य पितृदेवत्य (पितृकार्य) होजाताहै । अमावास्याके दिन उपवास करनेसे देवकार्य पितृदेवत्य कैसे होजाताहै इसके लिए निम्न-लिखित विज्ञानको ध्यानमें रखना आवश्यक है ।

सदसद्रूप ईश्वर प्रजापतिके-स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी यह पांच अवयव बतलाए गए हैं । यह पांचों वेदात्मा– प्रजापति पुरुष के "वैकारिक" आत्मा कहलातेहैं । यही पांचों "अधियज्ञ" नामसे प्रसिद्ध हैं । इन पांचोंमें पांच प्रकारके भिन्न भिन्न प्राणहै । स्वयम्भू मण्डलके प्राणको "ऋषि" कहतेहैं । पारमेष्ठ्य सौम्यप्राण पितर कहलाताहै ।

आप्यप्राणको असुर कहतेहैं। सौरप्राण–देवता कहलाताहैं। चान्द्र प्राण गन्धर्व नामसे प्रसिद्धहै। एवं पार्थिव प्राण वैश्वानर नामसे व्यवहृत होताहै। इनमें ऋषि प्राण कुल ७ जातिकाहै। पितर ८ जातिकेहैं। देवता ३३ हैं। असुर प्राण ९९ जातिकाहै। गन्धर्व २७ हैं। वैश्वानर एकप्रकारकाहै। साथहीमें इतना और समझलेना चाहिएकि जैसे अधिदैवतमें यह ऋषि पितर आदि प्राणहैं तथैव अधिदैवतसे उत्पन्न होनेवाले अध्यात्ममें भी यह सारे प्राण मौजूदहैं। एवं इतिहास सम्बन्धी मनुष्य ऋषि, पितर, गन्धर्व आदि भी थे। यहां पर केवल विज्ञानसे सम्बन्ध है अतएव हमने वैज्ञानिक प्राणरूप ऋषि पितरादि का ही स्वरूप बतलाया है। आगेके ब्राह्मणोंमें समय समय पर पाठकों को आध्यात्मिक और आधिभौतिक (ऐतिहासिक) ऋषि पितर गन्धर्वादिका भी स्वरूप बतलाते रहैंगे। अस्तु हम कहरहेथे कि- पांचोंमें पूर्वोक्त पांच प्राणहैं। यदि पारमेष्ठ्य आप्य प्राणको शामिल करलिया जाताहै तो ६ प्राण होजाते हैं। इनमें से- ज्ञानज्योति स्वरूप "स्वयम्भू,, और स्वज्योति स्वरूप स्वज्योतिर्म्मय सूर्य्यको छोड कर अवशिष्ट - परमेष्ठी, चन्द्रमा, पृथिवी इन तीनोंमें ज्योतिके अभावसे लगोपग आसुरप्राण रहताहै। इन सब प्राणोंमें मण्डलके क्रमानुसार पहिला प्राण "ऋषि" है। यह ऋषिप्राण सर्वथा मौलिक प्राण है। ऐसे ऐसे विजातीय अनेक प्राणोंके मेलसे जो यौगिक प्राण उत्पन्न होतेहैं उन्हें हीं पितर कहतेहैं। इन पितरोंके कितनेही अवान्तर भेद होजातेहैं। ऐसे ऐसे कई पितर प्राणोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले प्राणको "देवता" कहतेहैं। एवं उसी पितरप्राण प्रधान परमेष्ठीसे आसुरप्राण उत्पन्न होताहै। असुर और देवता एक परमेष्ठी प्रजापतिकी संतानहै। एक आप्यप्रधानहै, एक अग्निप्रधानहै। अतएव दोनोंमें स्वाभाविक वैर है। अतएव ब्राह्मण ग्रन्थोंमें- बार बार- "देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे" इसका उल्लेख रहताहै। बस परमेष्ठी प्रजापति द्वारा इन्हीं देवासुर

नामके दोनों प्राजापत्योंसे आगेकी मनुष्यादि सृष्टिएं होतीहैं। देवभाग गुणसंपत्तिहै। असुर भाग दोषसंपत्तिहै। सृष्टिके प्रभव यही दोनोंहैं। अतएव- "गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी" यह कहा जाताहै। इसी पूर्वके सृष्टि विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भगवान् मनु कहते हैं—

ऋषिभ्यः पितरो जाता पितृभ्यो देवदानवाः ।
देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चरंस्थाण्वनुपूर्वशः ॥ (मनु.३।२.१)

देवेभ्यश्च के चकारको "असुरेभ्यः" का उपलक्षण समझना चाहिए। इन सारे प्राणोंमेंसे प्रकृतमें केवल पितरप्राणसे ही कामहै। अतएव और और प्राणोंके विषयमें कुछ न कहकर यहांपर हम सूक्ष्मरूपसे केवल पितरप्राणका ही स्वरूप बतलावेंगे।

पितरप्राण क्या है ? इसका उत्तरहै— "सौम्यप्राण"। सोम "भूत" है। भूत बिना प्राणके क्षणमात्रभी नहीं रहसकता। प्राणही भूतकी प्रतिष्ठाहै। बस सोममें रहनेवाला सोमका आधारभूत जो प्राण विशेषहै उसीका नाम पितरहै। यह सोम "भास्वरसोम" और "दिक्सोम" भेदसे दो प्रकारका होजाताहै। पिण्डरूपमें परिणत चान्द्रसोम सौरप्रकाशसे प्रकाशित होकर "भास्वरसोम" कहलाने लगताहै। एवं सर्वत्र ऋतरूपसे व्याप्तसोम दिकसोम कहलाताहै। इसी दिक्सोमके लिए "त्वमाततन्थो-र्वन्तरिक्षम्" यह कहा जाताहै। चान्द्रसोमभी वही पारमेष्ठ्य सोमहै। पारमेष्ठ्य दिक्सोमही भास्वरसोम बनाहुआहै। अतएव हम परमेष्ठिकी तरह इस चन्द्रमण्डलको भी "पितृमण्डल" कहनेके लिए तय्यारहैं। चन्द्रमा का जो भाग सूर्य्यकी ओर रहताहै उतने भागमें तो (जो कि हमें दीखताहै) सौरप्रकाशी प्राण (देवता) की सत्ता रहतीहै। अतएव उस भागमें पितर प्राण नहीं रहने पाता। परन्तु जिसओर सौर प्रकाश नहींहै उस भाग

में (जो कि भाग हम पृथिवी लोक निवासियोंकी अपेक्षासे "ऊर्ध्वभाग" कहलाता है) पितरप्राण अपनी सत्ता जमा लेताहै । अतएव "विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति" (चन्द्रमाके ऊपर के हिस्सेमें पितर निवास करतेहैं-) यह कहा जाताहै । यह पितर प्राण चन्द्रमण्डलसे उसी पूर्वोक्त श्रद्धासूत्र द्वारा पृथिवी लोकमें आया करताहै । यद्यपि पितरप्राण सदा ही आया करताहै - परन्तु इसकी प्रधानता कृष्णपक्षमें ही रहतीहै । क्योंकि कृष्णपक्षमें ही चन्द्रमाके अप्रकाशी ऊर्ध्व भागका रुख पृथिवीकी ओर होताहै । यहांतककि अमावास्याको चान्द्रसोम द्वारा वह सौम्यप्राण रूप पितर प्राण पूर्ण मात्रासे पृथिवी लोकमें आजाताहै । कल्पना कर लीजिए- सामने सूर्य्यहै । इस सूर्य्यके चारों ओर स्वाक्षपरिभ्रमणसे अहोरात्रका स्वरूप बनाती हुई पृथिवी घूमरहीहै और पृथिवीकी अक्षिके साथ दर्शपूर्णमास करताहुआ चन्द्रमा पृथिवीके चारोंओर परिक्रमा लगा रहाहै। घूमते घूमते एकदिन चन्द्रमा-सूर्य्य और पृथिवी इन दोनोंके बीचमें आजाताहै। इस दिन चन्द्रमा पृथिवीसे अलग रहताहै- एवं सूर्य्य से मिलाहुआ रहताहै । अतएव उसका वह अप्रकाशित भागही (जिसेकि हमने ऊर्ध्व भाग बतलायाथा) हमारी ओर रहताहै । मर्त्यपिण्डरूप सूर्य्य में रहने वाले अन्यतम अमृतप्राणको "इन्द्र" कहतेहैं । अतएव सूर्य्यको भी इन्द्र कहदिया जाताहै- (शतपथब्राह्मण)। क्योंकि इसदिन चंद्रमा इन्द्रके साथ रहता है अतएव ["यस्मिन् दिवसे चन्द्रमाइन्द्रेण अमा- (सह) वसति"] इस व्युत्पत्तिसे यह दिन "अमावास्या कहलाने लगता है (शत १।६।४।५) इसदिन सूर्य्य चन्द्रमाका योग रहताहै अतएव "दर्शः सूर्येन्दु संगमः" के अनुसार इसे दर्श भी कहा जाताहै। परन्तु ध्यान रहे पूर्वविद्धा और अपरा विद्धा" अमावास्याको "दर्श" नहीं कहतेहैं । वे अमावास्याएं दर्श न कहला कर "सिनीवाली" और "कुहू" नामसे व्यवहृत होतीहैं । अब चलिए पूर्णिमाकी ओर - जिस दिन घूमते घूमते पृथिवी-सूर्य्य और चन्द्रमाके बीच

में आजातीहै- उसदिन चन्द्रमाका प्रकाशीभाग हमारी ओर रहताहै। यही पूर्णिमा कहलाती है। इसप्रकार पूर्णिमाको प्रकाशी देवप्राणकी सत्ता सिद्ध होजाती है, और अमावास्याको पितरप्राणकी सत्ता सिद्ध होजाती है। शुक्ल-पक्षकी अष्टमी देवताओंका प्रातःकाल है। पूर्णिमा मध्यान्हहै। कृष्णाष्टमी सायङ्काल है। अमावास्या अर्द्धरात्रि है। ठीक इसके विपरीत कृष्णाष्टमी पितरोंका प्रातःकाल है। अमावास्या मध्यान्ह है। शुक्लाष्टमी सायङ्काल है एवं पूर्णिमा अर्द्धरात्रि है। हमारे हिसाब से जो ३० दिन है- वह सौम्य प्राणरूप पितरोंका एक दिनहै। परिभ्रमणवृत्तसे "अहः" का स्वरूप बनताहै हमारा स्वरूप पृथिवीके स्वाक्षपरिभ्रमणसे सम्बन्ध रखताहै। यह स्वाक्ष परिभ्रमण २४ घन्टोंमें होजाता है- अतएव हमारा "अहः" – २४ घन्टोंका ही होताहै। १२ घन्टेकी रात्रि है- १२ घन्टेका दिन है। एवं पितर चन्द्रमा की वस्तुहै। चन्द्रमा अपने दक्षवृत्तकी परिक्रमा "एकमास" में लगाताहै। अतएव परिभ्रमण कालसे सम्बन्ध रखनेवाला पितरोंका अहोरात्र ३०दिनका होजाताहै। हमारे हिसाबसे तीस दिनहैं। पितरोंके हिसाबसे तो वह एकही अहो-रात्रहै। अतएव– "मासेनस्यस्यादहोरात्रः पैत्रः" (अमर० प्र० कां० कालवर्ग २१ श्लो०) यह कहाजाताहै। अतएव इनके लिए "मासि मासि वोऽशनम्" ("महिने महिनेमें तुम्हें भोजन मिलैगा" शत. २।४।२।१) यह कहा जाताहै। वेदतत्वसे कोसों दूर जो मनचले-"पितृश्राद्ध" का "जीवित पितादिको भोज-न कराना" यह अर्थ करतेहैं, उन्हें- पूर्व श्रुतिसे शिक्षा लेनी चाहिए। कहना प्रकृतमें हमें यहीहै कि अमावास्यामें पितरप्राण पूर्णरूपसे पृथिवीमें अभिव्याप्त होजाताहै। इसदिन सारा सोम औषधि वनस्पतियोंमें व्याप्त होजाताहै। जैसा कि श्रुति कहतीहै—

"एष वै सोमोराजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः। स यत्रैष एतां रात्रिं न पुर-स्तान्न पश्चाद्ददृशे तदिमं लोकमागच्छति। स इहैवापश्चौषधीश्च प्रविशति"

यह सोमराजा देवताओंका अन्नहै जोकि चन्द्रमाहै। जिसदिन (अमावास्याको) यह किसी ओरसे नहीं दिखलाई देताहै (समझलो) उसदिन यह इस पृथिवी लोकमें आजाताहै। एवं आकर ओषधि वनस्पतियोंमें प्रविष्ट होजाताहै— (शत. १।६।४।५ इति)। इसप्रकार पूर्वके निदर्शनसे भलीभांति सिद्ध होजाता है- अमावास्यामें पृथिवीलोकमें पितरप्राण (सौम्य प्राण) पूर्णरूपसे अभिव्याप्त रहताहै। ऐसी अवस्थामें यदि यजमान अनशनव्रत करेगा तो अशनाया सूत्रसे खिंचाहुआ पितरप्राण इसके आत्मामें प्रविष्ट होजायगा। यदि कुछ भी नहीं खायाजाताहै तो शरीरका वैश्वानराग्नि मन्द होजाताहै। क्योंकि अग्निसत्ता अन्नसोमकी आहुति परही अवलम्बितहै। अग्निके मन्द होतेही हृदयमें से अशनायाबल (बुभुक्षा—भूख) प्रादुर्भूत होजाताहै। एक प्रकारकी "खांऊं-खांऊं" रूपा जो वृत्तिहै जिसकाकि बुभुक्षितावस्थामें पूर्णरूपसे अनुभव होताहै— उसीको अशनाया कहतेहैं। इसी बलके द्वारा- अन्न लाया जाताहै- भूखही अन्नको पकडकर शरीराग्निमें आहुत करती है अतएव इसे अशनाया कहाजाताहै। जिस समय यह अशनायाबल जागृत होताहै- उस समय यदि इसे अन्नादि नहीं मिलताहै तो- उस समय प्रकृतिमण्डलमें जो- भी प्राणव्याप्त रहताहै- उसेही यह अपनी ओर खैंचलेती है। एवं उसी प्रकृतिमण्डलके प्राणका इसके आत्मासे सम्बन्ध होजाताहै। शिवरात्रिमें साम्बसदाशिव नामका जीवनप्रद पारमेष्ठ्य प्राण भूमण्डल पर अभिव्याप्त रहताहै। एकादशीके दिन विष्णु प्राण अभिव्याप्त रहताहै। शरत्पूर्णिमाको चक्षुरिन्द्रियकी सारी बीमारिऐं दूर करनेवाला अश्विनी नक्षत्रका रसपूर्ण रूपसे हमारे लोकमें व्याप्त रहताहै। गणपतिचतुर्थीको विघ्नविनाशक रुद्रपुत्र की सत्ता रहती है। इन इन प्राणोंको आत्मसात् करनेके लिए इन इन दिनों में उपवास कियाजाताहै। वे वे प्राणदेवता अशनाया बल द्वारा आकर्षित हो आत्मामें बसजातेहैं अतएव पौराणिक भाषामें यह दिन "उपवास" नाम से पुकारा जाताहै। हमारा निर्म्माण आधिदैविक अग्नि, रुद्र, विष्णु, आदित्य,

अश्विनीकुमार, मित्रावरुण, इन्द्र, त्वष्टा, पूषा आदि आदि प्राणदेवताओंसे होताहै। हमारेही नहीं अपितु उत्पन्न होनेवाले चेतन अचेतनोभयविध यच्चयावत् पदार्थोंके उपादान और निमित्त कारण यही आधिदैविक प्राणदेवताहैं। अतएव श्रुति कहती है—

"जायमानो वैजायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एवदेवताभ्यः" (इति......)

सबमें देवता रहते हैं। केवल मात्रा और सन्निवेशक्रममें भेदहै। किसीमें किसी देवताकी अधिक मात्रा रहती है। वहां वही प्रधान बनजाताहै। एवं किसी में किसीकी प्रधानता रहती है। इसी तारतम्यके कारण उन्ही देवताओंसे उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंमें परस्पर वैजात्य होजाताहै। प्रत्येकके लिए देवताओं की मात्रा नियतहै। यदि उससे अधिक मात्रा होजातीहै तबभी रोगहै, एवं कम मात्राहै तबभी रोगहै। समीक्रिया ही शान्तिका कारणहै। एवं हीन-योग और अतियोग ही रोगके कारणहैं। शरीरका जो देवता कम होजाता है, जिस औषधिमें वह देवता अधिक मात्रासे रहताहै उसके द्वारा वह कमी पूरी करदीजातीहै। यदि बढजाताहै तो विरोधी दवा देकर उसे समभावपर प्रतिष्ठित करदिया जाताहै। उदाहरणार्थ जिन प्राणदेवताओंका पूर्वमें जिकर कियाहै उन उन दिनोंमें वे अधिक मात्रासे पृथिवी पर व्याप्त रहतेहै। उन्हें लेनेका उपायहै-"उपवास"। उपवाससे वह प्राण सीधा आत्मामें प्रविष्ट होजाताहै एवं आत्मस्थित देवताओंकी कमी पूरा करताहुआ यह प्राण सामान्य मनुष्योंकी अपेक्षा इसमें एकप्रकारका अतिशय उत्पन्न करदेताहै। बस कमी पूरी करने के लिए और अतिशयाधानके लिएही उपवास कियाजाताहै। उपवासका यही वैज्ञानिक रहस्यहै। उपवासकी मर्य्यादाके अनुसार यदि यह यजमान अमावास्यामें कुछ नहीं खाताहै तो सर्वत्र व्यापक पितरप्राणका इसके आत्मासे सम्बन्ध होना अनिवार्य है। ऐसी अवस्थामें इसका देवकार्य पितृदैवत्य होजाताहै। अतः इसदिन "अनशन" नहीं करना चाहिए। यजमान जब

भोजन करलेताहै तो-शरीरमें रहनेवाले आग्नेय देवता उल्वण होजातेहैं। इन के उल्वण होजानेसे सौम्य प्राणरूप पितरोंकी सत्ता नहीं होने पाती। इस प्रकार भोजन करनेसे देवकर्म्म पितृदेवस तो नहीं होता किन्तु अतिथिधर्म्म का उल्लंघन होजाताहै। तात्पर्य्य यहीहै कि अन्न खानेसे पार्थिवदेवता तृप्त होकर शरीर निर्म्माण क्रियामें सन्निविष्ट होजातेहैं। जिस कामके लिए उन का निनाव कियाजाताहै वह काम नहीं होनेपाता जैसाकि हम आगे बतलाने वालेहैं। इस विप्रतिपत्तिको दूर करनेका एकमात्र उपायहै "अशनानशन" अन्न खाना। मानलीजिए आपके कोई अतिथि आयाहै। वह अतिथि और तो सब कुछ खाताहै किन्तु फल और आरण्य औषधि (बिनाखेती किए जो अन्न अपनेआप सौरतापसे उत्पन्न होताहै वही आरण्य औषधि नामसे व्यवहृत होताहै) नहीं खाता। ऐसी अवस्थामें यदि अतिथिको भोजन कराने से पहिले उन दोनोंमें से कोई चीज खालेंगे तो वह अप्रसन्न न होगा। बस आज यजमानको भी वही वस्तु खानी चाहिए जिसेकि देवता (पार्थिवदेवता) न खाते हों। जिसको देवता नहीं खाते हैं उसे यदि यजमान खालेताहै तो देवता अप्रसन्न भी नहीं होते। और खालेनेसे अग्निके प्रबल होजानेसे यह कर्म्म पितृदेवस भी नहीं होने पाता। जिस अन्न की आहुति पार्थिवदेवता ग्रहण नहीं करते ऐसा अन्नहै-आरण्य औषधि और वृत्त्य (फल)। फलोंमें सोम नहीं रहता। यद्यपि सोमका सर्वथा अभाव नहीं होता किन्तु वह इन वनस्पतियोंमें इतनी अल्पमात्रासे रहताहै-उसका रहना न रहनेके समानहै। एवमेव आरण्य औषधियोंमें भी सोम अल्पमात्रामेंही रहताहै। जिसमें सोम अत्यल्पमात्रामें रहताहै-देवताओंका (पार्थिवदेवताओंका) उससे सम्बन्ध नहीं होता। फल और आरण्य ऐसेही हैं अतएव इन दोनोंको हम "अशना-नशन" कहनेके लिए तय्यारहैं।

देवता कई प्रकारके होतेहैं। प्रकृतमें देवता शब्दसे आध्यात्मिक पार्थिव आग्नेयदेवताही अभिप्रेतहैं। पृथिवीमें से जो प्राणदेवता हमारेमें आतेहैं

उनसे "प्रज्ञानात्मा" बनताहै। एवं सौरप्राणदेवताओंसे "विज्ञानात्मा" बनता है। वैदिकविज्ञानसे बहुत दूर चलेजानेके कारण आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि हमारेमें एक आत्मा नहीं हैं अपितु कई आत्माहैं। आत्मसमष्टिका नाम "हम" हैं। "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेहनानास्तिकिंचन" वाले अखण्ड आत्माके अद्वैतभावका हम विरोध नहीं करते। वह आत्मा वास्तवमें सबका एक आत्माहै। उसमें भेद नहींहै। वेदान्ताभिमत इस व्यापक अतएव अखण्ड "परात्पर" ब्रह्मका न जन्म होताहै। न मृत्यु होतीहै। इस अखण्डात्माका कैसा स्वरूपहै। यह क्या काम करताहै-इन सबका एक मात्र उत्तरहै—"नेतिनेति"। क्योंकि शास्त्रोंमें इसके लिए अन्ततोगत्वा "नेतिनेति" यहही निर्णय कियागयाहै। हमारा धर्म्मशास्त्र हेयपादेयका उपदेश देताहै। कुछ लेना और कुछ देना। अच्छी बातोंको लेना और बुरी बातोंको छोडना बस सारे धर्म्मशास्त्रमें इन्हीं दो विषयोंका निरूपणहै। जिनसे आत्माके स्वरूपको हानि होतीहैं-वे कर्म्म एवं पदार्थ "हेय" कहलाते हैं। एवं जिनसे आत्माका अभ्युदय होताहै वे "उपादेय" कहलातेहैं। धर्म्मशास्त्र हेयको छोडनेका उपदेश देताहै और उपादेयको ग्रहण करनेका उपदेश देताहै।

"यान्य नवद्यानि कर्म्माणि तानि सेवितव्यानि। नोऽइतराणि।
यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि। नोऽइतराणि"—

धर्म्मशास्त्रके यच्चयावत् उपदेशोंका यही निष्कर्षहै। बतलाना इससे हमें यही हैकि धर्म्मशास्त्र जिस आत्माकी रक्षाके लिए हेयोपादेयकी व्यवस्था करतेहैं वह आत्मा "परात्पर" नामका अखण्ड आत्मा कथमपि नहीं हो सकता। क्योंकि परात्परसे अच्छे बुरेकी व्यावृत्ति नहीं कीजासकती। वह तो ग्राह्य अग्राह्य (उपादेयहेय) दोनोंका आधारहै। परात्परमें अच्छा बुरा सब है। दूसरे शब्दोंमें-वह अच्छे बुरे सबमें है। जबकि उससे अच्छा और बुरा

दोनोंही अलग नहीं होसकते तो ऐसी अवस्थामें धर्म्मशास्त्र प्रतिपाद्य आत्माको हम अवश्यही-परा पर ब्रह्मसे पृथक माननेके लिए तय्यारहैं। धर्म्मशास्त्रका क्षर-आत्मासे ही सम्बन्धहै। क्षर-आत्माका ही जन्म होताहै। इसी की मृत्यु होतीहै। इसीकी लोकान्तरमें गति होती है। यही सुख दुःख भोक्ताहै। परात्पर तो नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध, नित्यमुक्तहै। इसका शास्त्रोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है इसकी अविज्ञेयता बतलाते हुए वेदमहर्षि कहतेहैं—

"संविदन्ति न यंवेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" ॥ इति।

सारेविश्वका विज्ञान बतलाने वाले वेद, विष्णु, ब्रह्मा आदि कोई भी उसे नहीं जानता। वहांपर जाके वाणी मनके साथ वापस लोटआती है। अर्थात् व्यापक होनेसे-वह वाङ्मनसातीतहै। अतएव अनिर्वचनीय और अविज्ञेयहै। भला धर्म्मशास्त्रोंका मूल वेद भी जब उसे नहीं पहिचानता। वेदोंको प्रकट करनेवाले चतुर्मुख-ब्रह्मा, और वेदोंकी रक्षा करनेवाले विष्णु तक जिसे नहीं पहिचानते ऐसी अवस्थामें "धर्म्मशास्त्र उस आत्माका प्रतिपादन करताहै"—यह कैसे सम्भव होसकताहै। अतएव सिद्धान्त समझना चाहिए कि धर्म्मशास्त्रमें क्षर-आत्माओंका ही प्रतिपादनहै। यह क्षर-आत्मा कितनेहैं। इनका क्या क्या कामहै। इनका प्रभव, प्रतिष्ठा, योनि, आशय कौन कौनहै—इत्यादि विषयोंका निरूपण प्रकृतमें नहीं किया जासकता। इन सब विषयोंका-आगे आनेवाले "सृष्टिब्राह्मण" में निरूपण किया जायगा। यहांपर केवल यही समझलेना पर्य्याप्त होगा कि हमारे शरीरमें-(शरीरको मिलाकर) पांच स्थूल आत्माहैं। हमने बतलायाहै कि, सृष्टिनिर्म्माण करनेवाले प्रजापतिके—स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, यह पांच अवयवहैं। मौलिकब्रह्मसे यह पांच यज्ञात्मा उत्पन्न होतेहैं। "संयोगा विप्रयोगान्ता" इस सिद्धान्तके अनुसार यह पांचों आत्मा "क्षर"

हैं। मरणधर्म्मा हैं। इन पांचोंका सम्बन्ध अध्यात्मजगत् में भी होताहै। जो कुछ वहां है वह सबकुछ यहां है बल्कि अविद्या, अस्मिता, रागद्वेषादि हमारे में अधिकहैं। उन पांचोंके जो प्राण हमारेमें आतेहैं-उनसे क्रमशः अव्यक्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, भूतात्मा, इन पांच आत्माओंका स्वरूप बनताहै। भूतात्मा शरीरहै। प्रज्ञानात्मा सर्वेन्द्रिय नामका इन्द्रियाधिष्ठाता मनहै। भूतात्मा पृथिवी है। प्रज्ञानात्मा चन्द्रमाहै। विज्ञानात्मा सूर्य्यहै। महानात्मा परमेष्ठीहै। अव्यक्तात्मा स्वयम्भूहै। अध्यात्मवत् पाषाणादि आधिभौतिक जगत्में भी यह पांचों मौजूदहैं। वहां यह पांचों क्रमशः—गुहा (स्व०) आप (पर०) ज्योति (सू०) रस (पृ०) अमृत (चन्द्र०) इन नामोंसे व्यवहृत होते हैं। एक तिलमें भी यह सारे पदार्थ विद्यमानहैं जोकि—आधिदैविक मण्डलमें हैं। पूर्णब्रह्मकी इसी पूर्णताका प्रतिपादन करतेहुए ऋषि कहते हैं—

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ॥ इति।

अस्तु इस विषयको अधिक बढाना प्रकृतसे दूर जानाहै- अतः इसे यहीं छोडकर पुनः प्रकृतका अनुसरण करते हैं। अध्यात्मजगतके जिन पांच क्षर-आत्माओंका—पूर्वमें निरूपण कियागयाहै. वे "अधियज्ञात्मा" कहलाते हैं। इन पांचों अधियज्ञात्माओंकी समष्टिका नामही "मैं" हूं। जैसा कि गीताचार्य कहते हैं—

"अधि यज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर"— (गीता) इति।

इन पांचोंमें से- महान्- और अव्यक्त दो आत्माओं को अप्राकृत होनेसे छोडते हैं- शेष. तीन आत्माओंकी ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं। भूतात्मा पार्थिवप्राणहै। प्रज्ञानात्मा चान्द्रप्राणहै। विज्ञानात्मा सौरप्राणहै। इन तीनों में- पार्थिव- और सौरप्राण दोनों आग्नेयहैं- और चान्द्रप्राण सौम्यहै।

पार्थिवप्राण यद्यपि सूर्य्यकी ही वस्तुहै तथापि-प्रवर्ग्य बनकर अन्तर्याम सम्बन्धसे पृथिवीमें अभिव्याप्त रहनेके कारण यह पृथिवीकी ही प्रातिस्विक वस्तु कहलाने लगता है। पृथिवीकी वस्तु बनकर यह पार्थिव आग्नेय प्राण चारों ओर निकलता रहताहै। पृथिवीमेंसे निकलनेवाले इसी अग्निको "अङ्गिराग्नि" कहते हैं। एवं सूर्य्यसे पृथिवीकी ओर आनेवाला सौर अग्नि "सावित्राग्नि" कहलाताहै। इन दोनों प्राणोंसे अध्यात्मका निर्म्माण होता है। तीसराहै-आन्तरिक्ष्य चान्द्ररस। वह साक्षात रूपसे प्रविष्ट नहीं होता। अपितु पार्थिवप्राण शुक्र अन्नमें प्रविष्ट हो पूर्वकथनानुसार क्रमशः शुक्ररूपमें परिणत होताहुआ आत्मनिर्म्माणमें उपयुक्त होताहै। अन्नमें पार्थिव आग्नेय प्राणभी है और चान्द्र सोमभी है। इसी अन्नसे वीर्य बनताहै। वीर्य्य ही अध्यात्मका उपादानहै। बस इस वीर्य्यमें प्राणरूपसे प्रविष्ट पार्थिव और चान्द्ररससे जिस क्षर-आत्माका स्वरूप बनताहै उसेही "प्रज्ञानात्मा" कहतेहैं। "प्रज्ञानात्मा" में प्रज्ञाभाग चान्द्ररसहै। और "प्राण" पार्थिव-आग्नेय रसहै। इसप्रकार प्रज्ञा और प्राण दोनोंके मेलसे प्रज्ञानात्माका स्वरूप बनताहै। यद्यपि प्राण और प्रज्ञा दोनों भिन्न भिन्न वस्तुहैं तथापि क्योंकि अध्यात्ममें दोनोंका अविनाभावहै, दोनों एकदूसरेके विना सर्वथा अनुपन्न हैं। अतएव दोनोंको एक वस्तु बतलादिया जाताहै (देखो कौ. उप. ३।४)। यह प्रज्ञानात्मा नखाग्रभागको और केशलोमोंको छोडकरके सर्वाङ्ग शरीरमें व्याप्त रहताहै(कौ.४।१.६)। यद्यपि इसमें पार्थिव आग्नेय भागभी रहताहै तथापि चान्द्रसोमकी प्रधानताके कारण इस प्रज्ञानात्मामें केन्द्रभाव नहीं रहता। अपितु ऋतरूपसे यह सारे शरीरमें अभिव्याप्त रहताहै। इसी प्रज्ञान पर विज्ञानका प्रतिबिम्ब पडताहै। विज्ञान सूर्य्यकी वस्तुहै जैसाकि अनुपदमें ही बतलाया जायगा। सूर्य्यकेन्द्रभावके कारण सत्यहै। अतएव केन्द्रप्रदेशमें ही यह प्रतिबिम्बित होताहै। बस इस विज्ञानात्माके केन्द्रभावके कारण ही ऋतप्रज्ञानात्मा (जोकि प्रज्ञान सर्वेन्द्रिय मननामसे प्रसिद्धहै) के लिए—

"हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु" यह कहाजाताहै। वस्तुतः इस प्रज्ञानात्माको प्रातिस्विकरूपसे सर्वथा "अमृत" ही समझना चाहिए। इन्द्रिय द्वारा आए हुए विषयको पकड़ना इसी प्रज्ञानात्माका कामहै। विना इस प्रज्ञानमनकी सहायताके किसीभी इन्द्रियका विषयसे सम्बन्ध नहीं होसकता। यदि चक्षुरिन्द्रियके साथ प्रज्ञान नहीं है तो सामने रक्खी हुई वस्तुभी नहीं दीखती। उस समय यदि उस द्रष्टासे कोई अन्य मनुष्य— "क्योंजी तुमने सामने रक्खीहुई पुस्तकको देखा या नहीं" यह पूछताहै तो इसके उत्तरमें वह "मेरा मन और तरफ चलागया था इसलिए मैं नहीं देखसका" यह कहताहै। इस सर्वानुभूत व्यवहारसे सिद्ध होजाताहै कि इन्द्रियोंका इन्द्रियपना इसी प्रज्ञानपरही निर्भरहै। यह प्रज्ञान सारी इन्द्रियोंमें अनुस्यूत रहताहै इसलिए तो यह "सर्वेन्द्रिय" कहलाताहै। एवं सर्वविषयानुभवके कारण "निरिन्द्रिय" कहलाताहै। क्योंकि जिसका विषय नियत होताहै वही इन्द्रिय कहलातीहै। चक्षु केवल रूपका ही ग्रहण करताहै। श्रोत्र शब्दमात्रका ही अनुभव करते हैं। रसनासे स्वादही का ज्ञान होताहै। परन्तु प्रज्ञानका सबके साथ सम्बन्धहै। बस इस अनियत भावके कारणही इसे "निरिन्द्रिय" कहाजाताहै।

दर्शनशास्त्र— १ चक्षु, २ श्रोत्र, ३ घ्राण, ४ रसना, ५ त्वक्, ६ वाक्, ७ पाणि, ८ पाद, ९ पायू, १० उपस्थ, ११ मन, यह ११ इन्द्रिएं मानताहै। इनमें पूर्वकी पांच ज्ञानेन्द्रिएं हैं- उत्तरकी पांच कर्मेन्द्रिएं हैं। मन उभयात्मकहै। दोनोंका अधिष्ठाता यही ज्ञानकर्म्मोभयात्मक "मन" है। अन्य राष्ट्रकी प्रजाको अपने अधिकारमें करनेके लिए जैसे उस प्रजाके अधिष्ठाता राष्ट्रपतिको अपने वशमें करना आवश्यकहै- वैसेही इन्द्रियवर्गपर विजय प्राप्त करनेके लिए मनपर विजय प्राप्त करना नितान्त आवश्यकहै। अतएव भगवान् मनु कहतेहैं—

"एकादशं मनोज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौगणौ" ॥ (मनुः) ।

इन ११ इन्द्रियोंका वैदिकदर्शनके अनुसार– १ वाक्, २ प्राण, ३ चक्षु, ४ श्रोत्र, ५ मन, इन पांचही इन्द्रियोंमें अन्तर्भाव करलिया जाताहै। जिसका कि स्वरूप आगेके ब्राह्मणोंमें बतलाया जायगा । इन पांचोंमें जो मनहै—उसका कामहै–सुखदुःखानुभव । अनुकूलवेदनीय और प्रतिकूलवेदनीय बस इस मनके यह दो विषय नियतहैं । अतएव "नियतविषयत्वमिन्द्रियत्वम्" इस लक्षणके अनुसार इसे-"इन्द्रिय" मन कहाजाताहै । ११ इन्द्रियोंके पक्षमें इसीके लिए– "मनःषष्ठानीन्द्रियाणि" यह कहाजाताहै । यह मन प्रज्ञानमनसे (जिसेकि हमने सर्वेन्द्रियमन बतलायाहै) सर्वथा भिन्न है । जैसे प्रज्ञानमन-चक्षुरादि इन्द्रियों पर अधिष्ठित रहताहै वैसेही इस इन्द्रियमन परभी अधिष्ठित रहताहै । प्रज्ञानमन पांचों इन्द्रियों पर अधिष्ठित है । इसी सर्वेन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञानात्माका स्वरूप बतलाते हुए वेदमहर्षि कहतेहैं—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचोह वाच स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ (के० १।२ इति)

"वही प्रज्ञानात्मा श्रोत्रका श्रोत्रहै मनका (इन्द्रियमनका) मनहै, वाक्का वाक् है, प्राणका प्राणहै, चक्षुका चक्षुहै । (इसको पहिचाने बाद) धीरमनुष्य शरीरत्यागानन्तर परलोकमें जाकर अमृतस्वरूपमें परिणत होजातेहैं" । (केनोपनिषत्) । विषयको पकडना इसी प्रज्ञानात्माका कामहै इसीपर–कर्म्म जन्य वासनासंस्कारका, और ज्ञानजन्य भावनासंस्कारका लेप होताहै । इसी संस्कारलेपके कारण इसे "कर्म्मात्मा" कहा जाताहै । "देही कर्म्मगतिं गतः" से यही प्रज्ञानात्मा अभिप्रेतहै । अन्न खानेसेही इसकी स्वरूपसत्ता रहती है-

क्योंकि यह अन्नसे ही उत्पन्न होताहै। शरीरको स्थिर रखनेवाले प्रज्ञानात्मका स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित रहना, और शरीरका पुष्ट होना, "अन्नयज्ञ" परही निर्भरहै। यह तो हुआ प्रज्ञानात्माका संक्षिप्त विवेचन। अब चलिए—सावित्राग्निसे सम्बन्ध रखनेवाले विज्ञानात्माकी ओर। यह सौर-सावित्र प्राण अन्नके द्वारा न आकर सीधा अध्यात्ममें प्रविष्ट होताहै। इसके आने का और निकलनेका स्थान केशान्तहै। जहांपर मस्तकके केश समाप्त होते हैं-वहां एक चक्र होताहै। वहीं एक अतिसूक्ष्म छिद्रहै। इसी छिद्रको ब्रह्मरूप सौर दिव्यप्राणके आनेके कारण ब्रह्मरन्ध्र कहाजाताहै। मूलद्वार पर रहनेवाला प्राण "ब्रह्मग्रन्थि" नामसे व्यवहृत होताहै, एवं यह मस्तकरन्ध्र "ब्रह्मरन्ध्र" कहलाताहै। लोहा तमोमयप्राणसे (जोकि तमोमय भाग प्रकाशी दिव्यप्राणका प्रतिद्वन्द्वी होनेसे असुर कहलाताहै) बनताहै। ब्रह्मरन्ध्रसे आनेवाला प्राण सौरप्राणहै। इसमें और लोहगत तमोमय प्राणमें घोर विरोध रहताहै। ऐसी अवस्थामें यदि इस ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर लोहनिर्म्मित छुरा फेर दियाजायगा तो लोहगत आसुरप्राणके प्रवेशसे आनेहुए उस दिव्य सौर प्राणका सम्बन्ध टूटजायगा। भौतिक (मेटीरियल) जगतकी अपेक्षा आत्माको प्रधान माननेवाला सनातनधर्म्म आत्मरूप इस सौरदिव्यप्राणकी रक्षाके लिएही केशान्त स्थान पर शिखा रखनेका आदेश करताहै- जिससे कि चौर बनवाते समय उस स्थानमें आसुरप्राणके सम्बन्धका डरही न रहै। अस्तु-प्रकृतमें इस प्रपंचसे यही बतलानाहै कि सावित्रप्राण इसी मार्गमें प्रविष्ट होकर शरीरस्थ प्रज्ञान पर प्रतिबिम्बित होताहै। इसी प्रतिबिम्बित सौरप्राणको विज्ञानात्मा कहते हैं। विज्ञानकी प्रतिष्ठा यही ऋतप्रज्ञानहै। ऋतके पेटमें ही सत्यविज्ञान प्रतिष्ठित रहताहै। प्रज्ञानकी प्रतिष्ठा अन्नहै। अतएव दोचार दिन अन्न नहीं खायाजाताहै तो प्रज्ञान कमजोर होजाताहै। प्रज्ञानके निर्बल होनेही उसपर रहनेवाला विज्ञान भी शिथिल होजाताहै-जिसकाकि प्रत्यक्ष दोचारदिनके भूखे मनुष्यसे बातचीत करनेसे होजाताहै।

जैसे प्रकृतिमण्डलमें सूर्य्य—पृथिवी और चन्द्रमा दोनों पर अपना प्रभुत्व रखताहै – ठीक इसी तरह पार्थिवप्राण और चान्द्रप्राणसे निर्मित प्रज्ञानात्मा पर विज्ञानरूप सूर्य्य अपना प्रभुत्व रखताहै। विज्ञानकर्म्म करवानेवाला है, प्रज्ञान कर्म्म करनेवालाहै। जब हम किसी बुरे काममें प्रवृत्त होतेहैं तो उसी क्षण अन्तःकरणमें एक आवाज निकलती है कि "अरे यह काम तो बुराहै - इसे भूलकर भी नहीं करना चाहिए" - यह आवाज उसी विज्ञानात्मा की है। परन्तु दूसरे ही क्षणमें विचार पलटजाते हैं। और "अरे करलो देखाजायगा" यह भाव प्रादुर्भूत होजाते हैं। यह भाव प्रज्ञानात्मासे सम्बन्ध रखते हैं। रोकनेवाला विज्ञानहै। उस ओर प्रवृत्त करनेवाला प्रज्ञानहै। ऐसे समयमें दोनोंमें संघर्ष होताहै। जो अधिक बलवान होताहै वही जीतजाता है। हम पार्थिवप्राणियोंमें निसर्गतः पार्थिव प्रज्ञानात्माही प्रबल रहताहै। अतएव ऐसे समयमें प्रायः विजयश्री इसीको मिलती है। अतएव संसारमें अधिक मनुष्य दुःखमें ही निमग्न रहतेहैं। दुःखको दूर करनेका एकमात्र उपायहै– विज्ञान-वृद्धि। विज्ञान-वृद्धिका उपायहै–वेदविद्या। क्योंकि "धियो योनः प्रचोदयात्" - "उदुत्यं जातवेदसम" इत्यादि श्रुतिवचन सूर्य्यकोही विज्ञानवृद्धिका कारण बतलातेहैं। सूर्य्यवेदघनहै– (देखो शतपथ० काण्ड १०)। शब्दमय वेदब्रह्म द्वारा उस अर्थवेदको प्राप्त करनाही विज्ञानोन्नतिका एकमात्र कारणहै। अतएव विज्ञानवृद्धि द्वारा अपनेआपको सुखी बनानेके लिए द्विजातिमात्रको मनसा वाचा कर्म्मणा- वेदविद्याकी ओर झुकजाना चाहिए।

पूर्वके निदर्शनसे शरीरमें पार्थिव और सौर दोनों देवताओंकी सत्ता सिद्ध होजाती है। पार्थिवदेवताओंका प्रज्ञानात्मासे सम्बन्धहै। सौरदेवताओंका विज्ञानात्मासे सम्बन्धहै। दोनों आत्माओंके कर्म्म सर्वथा विभक्त हैं। आप रास्तेमें चलरहेहैं। और साथहीमें किसी वैज्ञानिक विषय पर वि-

पारभी करते जारहेहैं । क्रिया बिना प्राणव्यापारके नहीं होती । एवं बि-
ना ज्ञानके प्राणव्यापार नहीं होता । इस सिद्धान्तके अनुसार माननापडता
है कि-पैरोंका चलना ज्ञानपरही निर्भरहै । साथही में हम विचारभी करते
जाते हैं । इस विचारशृंखलाका भी ज्ञानमे सम्बन्धहै । एक ज्ञान एकसमयमें
दो व्यापार करनेमें सर्वथा असमर्थहै । एवं हम दो कामोंका प्रत्यक्ष कररहे
हैं-अतएव वाध्य होकर हमें दो ज्ञान मानने पडते हैं । बस वे दोनों ज्ञान
प्रज्ञानज्ञान, और विज्ञानज्ञान-नामसे प्रसिद्धहैं । पैर जिस ज्ञानके आधार
पर अपनेआप आगे जारहे हैं वह प्रज्ञानज्ञानहै । एवं जिस ज्ञानसे विचार-
धारा चलरहीहै वह विज्ञानज्ञानहै। विज्ञानज्ञान विषयसे सम्बन्ध किये बिना
ही अपने व्यापारमें समर्थ है । परन्तु प्रज्ञानज्ञान विषयसम्बन्धके बिना सर्व-
था अनुपन्नहै । इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टिसे देखने पर प्रज्ञान विज्ञान दोनोंके
भेदका स्पष्टरूपसे प्रत्यक्ष होजाताहै । हमने बतलायाहै कि मनुष्योंमें स्वभाव-
तः पार्थिवप्राण प्रबल रहताहै । बस उस पर दिव्यप्राणको अधिकमात्रासे
प्रतिष्ठित कर आत्माको अमृतत्व पर पहुंचानेकी जो वैज्ञानिक प्रक्रियाहै उसी
का नाम "यज्ञ" है । आज यह यजमान यज्ञद्वारा अपने प्रज्ञानपर (पार्थि-
वदेवताओं पर) उन सौरदेवताओंको प्रतिष्ठित करना चाहताहै । इसके लिए
पहिले आत्मापर प्रज्ञानदेवताओंका चिनाव आवश्यकहै। कदाचित् कोई प्रश्न
करे कि प्रज्ञानात्मस्वरूप पार्थिवदेवता शरीरमें पहिलेसे ही प्रतिष्ठितहैं । यज्ञ
द्वारा आनेवाले सौरदेवता इन्हींपर प्रतिष्ठित होजायंगे । फिर नए प्रज्ञान
देवताओंकी क्या आवश्यकताहै । इसके उत्तरमें हमें यही कहनाहै कि जो
पार्थिवदेवता पहिलेसे शरीरमें अवस्थितहैं वेतो शरीरनिर्म्माण प्रक्रियामें नि-
युक्त होरहे हैं । उनका काम शरीर बनानाहै । वे अन्य काममें नियुक्त होते
हुए- नए आनेवाले सौरदेवताओंकी प्रतिष्ठा नहीं बनसकते । इसके लिए
तो अन्यही पार्थिवप्राणदेवताओंको शरीरमें लाना पडेगा । बस इसीके लिए
"दर्शपूर्णमासेष्टि" "चातुर्म्मास्यादि" अङ्गकर्म्म किए जातेहैं । स्वर्ग मिलताहै

अग्निष्टोमापरपर्यायक ज्योतिष्टोमसे । उसके पहिले तदङ्गभूत दर्शपूर्णमासादि से सौरप्राण प्रतिष्ठाके लिए पार्थिवदेवताओंको अध्यात्ममें प्रविष्ट किया जाताहै । आज भावना द्वारा सोमपार्थिवदेवता इस यजमानके शरीरमें प्रतिष्ठितहैं । प्रकरणके प्रारम्भमें हमने सौरप्राणदेवताओंका आगमन बतलाया था । एवं यहां पार्थिवदेवताओं की प्रतिष्ठा बतलाई गई है । इसका एकमात्र कारण प्रज्ञान और विज्ञानका अविनाभावहै । स्वरूपसे दोनों आत्मा सर्वथा भिन्नहैं । परन्तु दोनों अविनाभूतहैं । प्रज्ञान (पार्थिवप्राण) विज्ञान (सौरप्राण) के बिना नहीं रहसकता और विज्ञान प्रज्ञानके बिना नहीं रहसकता । प्रज्ञानात्मा सदा विज्ञानात्मासे परिष्वक्तही रहताहै । बस इसी लिए प्रकरणके प्रारम्भमें सौरदेवताओंका नाम लेदियाहै । वस्तुतः देवता शब्दसे प्रकृतमें पार्थिवदेवताही समझने चाहिए । आज सौर पार्थिव देवता यजमानके अध्यात्ममें अभिव्याप्तहैं । कल (प्रतिपत्को) यजमान इनका यजन करनेवाला है । आहुतिसे प्रकृतिके देवताओंको तृप्तकर उनका अपने आत्माके साथ सम्बन्ध जोडनेवालाहै। अतएव इनको बिना तृप्त किए आज (उपवसथदिनमें) यह यजमान कुछभी नहीं खासकता । जब कि कुछभी नहीं खाताहै तो सर्व व्यापक पितरप्राणके व्याप्त होजानेसे देवकर्म्मका पितृदेवत्व बनजानेका डरहै । अतएव बिलकुल न खानाभी अनुचितहैं । इस विप्रतिपत्तिको हटानेका एकमात्र उपाय यही हैकि यह यजमान इस दिन वही अन्न खाय जिसकी कि हवि पार्थिवदेवता न लेतेहों । ऐसा अन्नहै– वृक्ष्य (फल) और अकृष्टपच्या औषधि। दोनोंमें सौररसकी ही प्रधानता रहती है। खेतीसे जो अन्न उत्पन्न होताहै- उसमें पार्थिव अग्निकी प्रधानता रहती है । क्योंकि हलसे जमीनको कोडा (खोदा) जाताहै । जमीनको कोडनेसे पृथिवीके स्तर में (भूगर्भमें) दबाहुआ जो पार्थिवप्राणहै वह प्रबल वेगसे निकलने लगताहै। इसीसे उस खेतीके अन्नका परिपाक होताहै । अतएव खेतीके अन्नको हम अवश्यही पार्थिवप्राण प्रधान कहनेके लिए तय्यारहैं । उधर बिना खेतके

उत्पन्न होनेवाला जो अन्नहै—पार्थिवप्राण तो भूगर्भमें दबे रहनेके कारण उसमें अधिक मात्रासे प्रविष्ट होने नहीं पाता—अतएव सौर आग्नेय प्राणसे ही इन अकृष्टपच्या औषधियोंका परिपाक होताहै। यही बात वृक्षमें है। जैसे खेतीसे उत्पन्न होनेवाली औषधियोंका सम्बन्ध पार्थिवप्राण और चान्द्रसोमसे है—एवमेव वनस्पतिमात्रका सौरप्राणसे ही सम्बन्ध है। इस प्रकार वृक्ष्य, और आरण्य दोनोंमें सौरप्राणकी सत्ता सिद्ध होजाती है। सूर्य्यही विज्ञान का प्रदाताहै। अतएव फल और जंगली अन्न खानेसे बुद्धि बढती है। वृक्ष्य और आरण्य दोनों सौरदेवताओंके (विज्ञानात्माके) अन्नहैं। फलोंसे शरीर बल नहीं बढता-क्योंकि इनमें सोम नहीं होता—अपितु बुद्धि बढती है। एवं खेतीसे उत्पन्न होनेवाला अन्न पार्थिवदेवताओंका अन्नहै। ऐसी अवस्था में—"फल और आरण्य औषधि दोनों पार्थिवदेताओंका (प्रज्ञानात्माका) "अनशन" (अभोज्य) है- और सौरप्राणदेवताओंका "अशन" (अन्न) है" यह भलीभांति सिद्ध होजाताहै। अतएव आज यजमानको यही अन्न खाना चाहिए। इससे विज्ञान प्रधान सौरदेवताओंकी पुष्टि होगी नकि प्रज्ञान प्रधान पार्थिव देवताओंकी। ऐसी अवस्थामें वृक्ष्य और आरण्य दोनोंमेंसे एकका खाना पार्थिवदेवताओंकी अपेक्षा "अनशन" के समानही होगा। बस इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर भगवान् याज्ञवल्क्यने वृक्ष्य और आरण्य औषधिका ही विधान कियाहै। एक बात और बतलाकर हम इस "अशनानशन" प्रकरणको समाप्त करते हैं। संहिताके प्रारम्भमें "इषेत्वोर्जेत्वा वायवस्थदेवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय०" इत्यादिमन्त्रहै। इस मन्त्रसे इन्द्रके लिए साम्नाय्य (दधि) तय्यार कियाजाताहै। दर्शेष्टिमें इसी साम्नाय्यकी आहुति दीजाती है। संहितामें सबसे पहिले साम्नाय्य सम्बन्धी मन्त्रहै- अतएव पूर्णमासेष्टिसे पहिले दर्शेष्टिका होनाही प्राप्तहै। तथापि "व्रतमुपैष्यन्०" इत्यादि ब्राह्मण श्रुतिके अनुरोधसे, और "पूर्वा पौर्णमासीम्" इस सूत्रके अनुरोधसे एवं औरभी कई कारणोंसे जिनकाकि विस्तारभयसे प्रकृतमें उल्लेख नहीं

किया जासकता पहिले पौर्णमासेष्टिही कीजाती है। शतपथब्राह्मणमें पहिले पूर्णमासेष्टिका निरूपणहै, अनन्तर दर्शेष्टिकी इतिकर्तव्यता बतलाई गईहै। दर्श और पौर्णमासेष्टि कहनेको दो इष्टिहैं वस्तुतः दोनों मिलकर एक यज्ञ है। अतएव इन्हें- "दर्शपूर्णमास" इस एक नामसेही पुकाराजाताहै। अतएव पौर्णमासेष्टिसे सम्बन्ध रखनेवाले उपवसथ (उपवास) दिनमें जिन जिन नियमोंका पालन कियाजाताहै, उन्ही नियमोंको दर्शेष्टिमें अपनाया जाताहै। दोनोंका उपवसथ दिन समानहै। अभिन्नहै। एकहै। ऐसी अवस्थामें यदि पौर्णमासेष्टिके उपवसथमें अनशन व्रत किया जायगा तो सारा दर्शपूर्णमास यज्ञ देवदेस न होकर पितृदेवत्य होजायगा। क्योंकि दोनों इष्टियोंका उपवसथ अभिन्नहै। अमावास्यामें पितरप्राण रहताहै। न खानेसे आत्मामें उसका प्रवेश होजायगा- उसी क्षणमें सारा यज्ञ नष्ट होजायगा। बस उपवास सम्बन्धिनी इसी अभिन्नताको लक्ष्यमें रखकर भगवान् याज्ञवल्क्यने पूर्णमासेष्टिके उपवसथमें ही पितरप्राण सम्बन्धी दोषोंका उद्घाटन करके- वृक्ष्य और आरण्य इन दोनोंमेंसे किसी एकके अशनका विधान कियाहै।

वेदका अर्थ करते समय द्रष्टा-ऋषिके अभिप्रायपर दृष्टि रखनी होती है। निरुक्तकार यास्कने लिखाहै "एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्र दृष्टयो भवन्ति" ऋषियों(द्रष्टाओं)के भिन्नभिन्न अभिप्रायके अनुकूलही उन्हें मन्त्रदर्शन होताहै। मन्त्रपद उपलक्षणहै। ब्राह्मणमें भी यही न्याय समझना चाहिए। शतपथ-ब्राह्मणके द्रष्टा "याज्ञवल्क्य" ऋषिहैं, वे विवादास्पद विषयोंपर भिन्नभिन्न ऋषियोंका मत बतलाकर अपने नामसे अपना मतभी कहते हैं, जिससे कि उनके शिष्य उनके नामसे उस मतका पारायण करें। इसी अभिप्रायसे यहां "तदुहोवाच याज्ञवल्क्यः" यह कहाहै। पढाते समय याज्ञवक्यने और और मत बतलातेहुए इस पूर्वोक्त मतको अपना मत बतलायाथा। उसीका प्रतिपादन करते हुए मधुश्रवाने "तदुहोवाच याज्ञवल्क्यः" यह कहाहै। बर्कु महर्षिने माषका भोजन बतलायाथा। परन्तु माष जो गेहूंकी खेती में उत्पन्न होते हैं अतएव इनमें पार्थिव रसका प्रविष्ट होना अनिवार्य्यहै। अतः बर्कु महर्षिका मतभी अवैज्ञा-

निकही है। अतएव याज्ञवल्क्यने इस मतका भी खण्डन करडालाहै। सारे प्रकरणका निष्कर्ष यही हुआ कि अतिथि मर्यादाकी रक्षाकेलिए. और पितृ दोषको हटानेके लिए इसदिन यजमानको फल अथवा आरण्य औषधिही खानी चाहिए। इसी अभिप्रायसे भगवान् कात्यायन कहते हैं—

" वृक्षारण्यौषधीनामश्नीयाद्वा " (का०श्रौ०सू० २ अ० १४ सू० इति)
" ७।८।६।१० "

—०—

स ऽआहवनीयागारे वैताᳬ रात्रिᳬ शयीत। गार्हपत्यागारे वा देवान्वाऽएष उपावर्त्तते यो व्रतमुपैति स यानेवोपावर्त्तते तेषामेवैतन्मध्ये शेतेऽधः शयीताधस्तादिव हि श्रेयस ऽउपचारः ॥ ११ ॥

स आहवनीयागारे वैतां रात्रिं शयीत, गार्हपत्यागारे वा। देवान् वा एष उपावर्तते—यो व्रतमुपैति। स यानेवोपावर्तते—तेषामेवैतन्मध्ये शेते। अधः शयीत। अधस्तादिव हिं श्रेयस उपचारः॥ १ ॥

वह यजमान आहवनीयागारमें ही उस रात्रिको शयन करे, अथवा गार्हपत्यागारमें शयन करे। वह देवताओंकी ओर (देवमण्डलकी ओर) रहताहै जो कि व्रतग्रहण करताहै। वह जिनकी ओर आताहै - उन्हींके बीचमें सोताहै। यजमानको जमीन पर सोना चाहिए। (क्यों कि) आतिथ्य नीचेसे ही अच्छा होताहै। अर्थात् अतिथि धर्म्मानुसार सेवकको सेव्यके सामने जमीन परही सोना चाहिए। यही सच्ची सेवाहै।

गार्हपत्य पृथिवी स्थानीयहै और आहवनीय द्युस्थानीयहै। गार्हपत्य

का पार्थिवप्राणदेवताओं से सम्बन्धहै, एवं आहवनीयका सौरदेवताओं से सम्बन्धहै। आज पार्थिवप्राणदेवता यजमानके घरमें आएहुएहैं। पार्थिवप्राण देवता सौरप्राणदेवताओं से अविनाभूतहैं- अतएव पार्थिवदेवताओंके साथ सौरदेवताओंका भी आना सिद्ध होजाताहै। आज उभयविध देवता इस यजमानकी यज्ञशालामें आए हुएहैं। अतः आतिथ्य मर्यादाके अनुसार इसे अपनी धर्म्मपत्नीके साथ- गार्हपत्यागारमें अथवा आहवनीयागारमें - दोनोंमें से किसी एक आगारमें ही सोना चाहिए। जिस स्थान पर इष्टि कीजाती है उसे "देवयजन" कहतेहैं। इस देवयजन भूमिमें एक बडी शाला बनाई जाती है। यह शाला छप्परके आकार जैसी बनाई जाती है इस शालाके मध्य का वंश (जिसकेकि आधार पर छप्परके दोनों भाग झुके रहतेहैं) पूर्वकी ओर होताहै। अर्थात् बीचका वंश उत्तर दक्षिण नहीं रहता अपितु पूर्व पश्चिम रहताहै। अतएव इसे "प्राग्वंशशाला" कहाजाताहै। गार्ह० आह० दक्षि० आदि सारा यज्ञ प्रपञ्च इसीके नीचे प्रतिष्ठित रहताहै। इस प्राग्वंश शालाके भीतर गार्हपत्य और आहवनीयके पश्चिम पूर्व भागमें (क्रमशः) छोटे छोटे दो छप्पर और बनाए जातेहैं। यही दोनों छोटी शालाएं "गार्हपत्यागार" एवं "आहवनीयागार" इन नामोंसे व्यवहृत होती हैं। लोकभाषामें जिसे "कमरा" कहते हैं- उसेही वेदभाषामें आगार कहते हैं। बस यहीं पर इसे शयन करना चाहिए। स्वामीके सामने सेवकका खट्वारूढ होना धृष्टताहै- अतः गा० आ० स्थ देवताओंकी मण्डलीके बीच में सोनेवाले यजमानको जमीन परही सोना चाहिए। यही सच्चा और श्रेष्ठ आतिथ्यहै। इसी अभिप्रायसे कात्यायन कहतेहैं—

"आहवनीयगृहशाय्यधो गार्हपत्यस्य वा" (का० श्रौ० २।१।५ इति)।

इसप्रकार इष्टिके पहिले दिनमें (जो कि उपवसथ दिन कहलाताहै) १ आचमन, २ व्रतोपायन, ३ व्रत-पालन तीन कर्म्म करनेपडतेहैं। इन तीनोंमें जो

तीसरा व्रतपालन कर्म्महै उसके— १. सत्यभाषण, २ आरण्याशन, ३ अधः शयन, ४ ब्रह्मचर्यपालन यह चार अङ्गकर्म्महै । इसप्रकार उपवसथ दिनमें यजमानको इतने कर्म्म करनेपड़ते हैं । इन सारे कर्म्मोंका व्रतोपायन कर्म्ममें ही अन्तर्भाव मानलिया जाताहै ।

१

---

२ ब्रह्मवरणम्

दर्श और पूर्णमास दोनोंमें पहिले पूर्णमास कियाजाताहै । अनन्तर दर्श कियाजाताहै । जो मनुष्य सर्व प्रथम दर्शपूर्णमास करना चाहताहै वह फाल्गुनी पूर्णिमोत्तर प्रतिपत्में पूर्णमासेष्टि करताहै । तदनन्तर अमावास्योत्तर प्रतिपत्में दर्शेष्टि करताहै । इसके पश्चात् प्रतिपत्के अन्तमें यथोक्त विधिके अनुसार दर्शपूर्णमास कियाकरताहै । इस दर्शपूर्णमासके विषयमें एक वार प्रारम्भ करके "जरामर्यसत्र" नामसे प्रसिद्ध अग्निहोत्रकी तरह यावज्जीवन दर्शपूर्णमास करते रहना, अथवा ३० वर्ष तक करना, अथवा एक वर्ष तक ही करना यह तीन मतहैं । तीनोंमें कामचारहै । हमने बतलादियाहै कि यद्यपि क्रमानुसार पहिले अग्न्याधान और अग्निहोत्रका ही निरूपण होना चाहिएथा तथापि "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या" इस परिभाषाको लक्ष्यमें रखकर पहिले दर्शपूर्णमासका ही निरूपण कियागयाहै । दर्श और पूर्णमासमें पहिले पूर्णमासेष्टि होतीहै अतएव सबसे पहिले शतपथमें पूर्णमास काही प्रतिपादनहै । इस पूर्णमासके अग्नि और सोम दो देवताहैं । अतएव पौर्णमास हवि "अग्निषोमीय" नामसे व्यवहृत होतीहै । इष्टिसे पहिले दिन (जो कि दिन उपवसथ नामसे प्रसिद्धहै) व्रतोपायनादि कर्म्म होतेहैं । व्रतोपायनादि उपवसथदिन कर्म्मोंसे भी पहिले अन्वारम्भणीयेष्ट्यादि चार सह-

१०	६	वेदिनिर्माण	६-(वेदिनिर्माणाधिकार)
१२	७	प्रोक्षणीस्थापन, इध्मस्थापन,	७-(अन्तर्वेदि द्रव्याधिकार)
१३		बर्हिस्थापन	
१४		स्रुक्-संमार्जन,प्रतपन, समर्पण	
१६		पत्नीसंनहन, आज्यवेक्षण,	
१८		आ० विलापन, स्थापन,	
२०	८	आज्यप्रोक्षणीउत्पवन,	
२१		आज्यग्रहण	
२२		इध्म, वेदि, बर्हि, प्रोक्षण।	
२३		पवित्रस्थापन।	
२४		बर्हिस्तरण।	
२५	९	अग्निकरण	८-(अग्निक्रियाधिकार)
२६		परिधिकरण	
२८		समिधादान, उपस्थान	
२९	१०	जुहूपस्थान	९-(हविःस्थापनाधिकार)
३१		हविःस्थापन, आलम्भन	
३२		अपांस्पर्श	
*०		व्रतोपायन (विकल्पसे)	(व्रतग्रहणाधिकार उत्तमस्थानीय)

'पाङ्क्तो वै यज्ञः" (यज्ञ पञ्चावयवहै) इस श्रुतिके अनुसार दर्शपूर्णमासेष्टिमें (प्रत्येकमें) पांच पांच कर्म्म होतेहैं। जिन ३२ संनिपत्योपकारक कर्म्मोंका पूर्व, में निदर्शन कराया गयाहै, उनका प्रधान कर्म्मसे पहिले होनेवाले बहिरङ्ग, और अन्तरङ्ग इन दो कर्म्मोंमें ही अन्तर्भाव होजाताहै। कहनेको ३२ कर्म्महैं; वस्तुतः दो कर्म्महैं। प्रथमस्थानीय व्रतोपायनसे प्रारम्भकर मध्यमस्था-

नीय व्रतोपायनसे पूर्वतकके सारे कर्म्म— बहिरङ्ग कर्म्ममें अन्तर्भूतहैं । एवं वेदिनिर्म्माणसे प्रारम्भकर उत्तमस्थानीय व्रतोपायनसे पूर्वतकके सारे कर्म्म अन्तरङ्ग कर्म्ममें अन्तर्भूतहैं । दूसरे शब्दोंमें वेदिनिर्म्माणसे पहिलेके कर्म्मोंकी समष्टि एक कर्म्महै, वही बहिरङ्ग कर्म्महै । एवं वेदिनिर्म्माणसे उत्तरके कर्म्मोंकी समष्टि एक कर्म्महै । यही अन्तरङ्ग कर्म्महै । इन दोके अनन्तर प्रधान कर्म्म होताहै । इसके अनन्तर एक अन्तरङ्ग, और एक बहिरङ्ग इस प्रकार दो कर्म्म और होतेहैं । इसप्रकार कुल पांच कर्म्म होजाते हैं । इन पांचों में मध्यका इष्टिकर्म्म "पुरुषार्थ" होनेसे प्रधान कर्म्म कहलाताहै, एवं आद्यन्तके चारों कर्म्म क्रत्वर्थ होनेसे "अङ्गकर्म्म" किंवा गौणकर्म्म कहलाते हैं । इन पांचों कर्म्मोंमेंसे उत्तरके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग छोड़दीजिए । बाकी तीन कर्म्म- (१ बहिरङ्ग, २ अन्तरङ्ग, ३ प्रधान) बचतेहैं । व्रतोपायनके विषयमें तीन मतहैं । बहिरङ्ग कर्म्मसे पहिले व्रतोपायन करना यह पहिला मतहै । अन्तरङ्ग कर्म्मसे पहिले करना, यह दूसरा मतहै । एवं प्रधान कर्म्म से पहिले करना, यह तीसरा मतहै । "प्रधान कर्म्मसे पहिलेही व्रतोपायन करना चाहिए" इस तीसरे मतको माननेवाले आचार्य्य अपने मतकी पुष्टि करते हुए कहते हैं कि व्रतोपायन कर्म्म अन्तरङ्ग बहिरङ्गवत् क्रत्वर्थहै । अतएव "गुणानांच परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्" मीमांसाके इस सिद्धान्तके अनुसार प्रधान कर्म्मके साथही अङ्गभूत व्रतोपायनका सम्बन्ध होना उचितहै । एवं "अन्तरङ्ग कर्म्मसे पहिले व्रतोपायन करना चाहिए" इस मतको मानने वाले सांप्रदायिकोंका कहनाहै कि अंतरङ्ग कर्म्मका प्रधान कर्म्मसे घनिष्ट संबन्धहै । अतः उसे प्रधान कर्म्मसे पृथक् नहीं माना जासकता । जबकि अंतरङ्गका प्रधानमें अन्तर्भावहै तो ऐसी अवस्थामें इससे पहिलेही व्रतोपायन करना चाहिए । एवं— "बहिरङ्ग कर्म्मसे पहिले व्रतोपायन करना चाहिए" इस सिद्धांतको माननेवाले वैज्ञानिकोंका कहनाहै कि- यज्ञमें प्रविष्ट होनेसे पहिले यज्ञ सम्बन्धी तत्तन्नियमोंके पालनके लिए जो प्रतिज्ञा करनी पड़ती है

वही कर्म्म "व्रतोपायन" कहलाताहै। "पाङ्क्तो वै यज्ञः" के अनुसार पांचोंकी समष्टिसे यज्ञका स्वरूप बनताहै। जबकि यज्ञस्वरूप पांचोंपर निर्भरहै तो ऐसी अवस्थामें बहिरंग कर्म्मसे पहिलेही व्रतोपायन करना उचितहै। कितने ही आचार्य निम्नलिखित उपपत्ति बतलाते हुए तीनोंमें कामचार बतलाते हैं। उनका कहनाहै कि जो यजमान सबलहै उसे बहिरंग कर्म्मसे पहिलेही व्रतोपायन करना चाहिए। क्योंकि वह दीर्घसमय तक व्रतपालनमें समर्थ होसकताहै। एवं सामान्य स्थितिके यजमानको अन्तरङ्ग कर्म्मसे पहिले व्रतोपायन करना चाहिए। एवं अशक्त यजमानको प्रधान कर्म्मसे पहिले व्रतोपायन करना चाहिए। ऐसा करनेसे उसे थोडेही समय तक बन्धनमें रहना पडेगा। इसप्रकार तीनों विकल्पोंके विषयमें यद्यपि यह उपपत्ति यथाकथंचित् होसकती है, तथापि "पाङ्क्तो वै यज्ञः"—इस विज्ञानके प्रधान होनेसे प्रथम स्थानीय व्रतोपायनको ही सिद्धान्त पक्ष समझना चाहिए। भला जो निर्बल मनुष्यहै वह यज्ञही क्यों करेगा। जो व्रतपालनमें ही असमर्थहै वह सारा कर्म्म करनेमें कैसे समर्थ होसकेगा। अतः इस पूर्वोपपत्तिको आपात रमणीयही समझना चाहिए। अतएव भगवान् याज्ञवल्क्यने प्रथम स्थानीय व्रतोपायनको ही अपना मत मानाहै। वही हमको भी मान्यहै।

पूर्वप्रदर्शित अन्वारम्भणीयादि चार सहकारी कर्म्मोंके विषयमें दो मतहैं। कितनेही याज्ञिकोंके मतानुसार उपवसथ दिनमें ही (व्रतोपायन और उपवसथदिन सम्बन्धी कर्म्मोंसे पहिले) यह चारों कर्म्म होते हैं। एवं कितने ही याज्ञिकोंके मतानुसार इष्टीके दिनही (ब्रह्मवरणसे पहिले) यह चारों कर्म्म होते हैं। दोनोंमें कामचारहै। अतएव "सद्योवा प्रातः" (का० श्रौ० सू० २।१।१६) यह कहाजाताहै। उपवसथदिनमें होनेवाले जितने भी कर्म्महैं उनका सोपपत्तिक निरूपण करदिया गयाहै। अब दूसरे दिन होनेवाले कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता बतलातेहैं। हमने बतलायाहै कि वितानयज्ञ (श्रौतयज्ञ) में

गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, तीन अग्नि होते हैं। गार्हपत्य पृथिवीलोक है। दक्षिणाग्नि अन्तरिक्ष लोकहै। आहवनीय स्वर्गलोकहै। तीनों अग्नियों के लिए तीनही अग्निकुण्ड बनाए जाते हैं। आहवनीय कुण्ड चोकोर होता है। दक्षिणाग्नि कुण्ड अर्द्धचन्द्राकार होताहै। एवं गार्हपत्य कुण्ड गोल होताहै। आहवनीय कुण्ड यज्ञपुरुषका मस्तकहै। गार्हपत्य अपान प्राणहै। दक्षिणाग्नि वैश्वानराग्नि (जठराग्नि) है। प्रकृतिसिद्ध नित्ययज्ञमें-पार्थिव अग्निही १७ वें स्थानमें स्थित आहवनीयमें जाताहै अतएव- इस वैधयज्ञमें भी गार्हपत्य कुण्डमेंसे ही आहवनीयमें अग्नि लेजाया जाताहै। अध्यात्मयज्ञ में मध्यस्थ जठराग्निमें ही अन्नका परिपाक होताहै अतएव यहांभी मध्यस्थ दक्षिणाग्निमें ही पुरोडाश पकाया जाताहै। अतएव इस अग्निको "अपचनाग्नि" कहाजाताहै। एवं आहवनीय और गार्हपत्यके बीचमें पुरुषके धडके आकारकी वेदि होतीहै। हविर्यज्ञ सम्बन्धके कारण इस वेदिको हविर्वेदी कहाजाताहै। पूर्वोक्त तीनों अग्नियोंमें आहुति आहवनीयमें ही दीजाती है। क्योंकि आहवनीय मस्तकहै। एवं अध्यात्म यज्ञमें आहवनीय रूप शिरस्थ मुखमें ही अन्नकी आहुति दीजाती है। इसीकी नकल पर इस वैध यज्ञका वितान कियाजाताहै - अतएव मुखरूप आहवनीयमें ही आहुति देना उचित है। इष्टिके दिन प्रातःकालमें नित्याग्निहोत्र होताहै। अनन्तर "ब्रह्मवरण" कर्म्म होताहै। ब्रह्मवरणके अनन्तर "अपांप्रणयन" कर्म्म होताहै। यही कर्म्म यज्ञका पहिला कर्म्महै। यज्ञके प्रवर्त्तक ब्रह्मा ही है। सूर्य्यमण्डलके ऊपर परमेष्ठि-मंडलहै। परमेष्ठिके अन्तमें और सूर्य्यसे ऊपर बृहस्पतिहैं। बृहस्पतिही ब्रह्महै। पारमेष्ठ्य यज्ञको रोदसी त्रिलोकी (जिसमेंकि हमहैं) की और सविताप्राणकी प्रेरणासे प्रवृत्त करनेवाले पारमेष्ठिनी आम्भृणी वाक् के अधिपति होनेसे वाचस्पति नामसे प्रसिद्ध बृहस्पतिही ब्रह्मा कहलाते हैं। सारे रोदसी यज्ञकी रक्षाका भार इन्ही बृहस्पतिपरहै। अतएव इन्हें हम "यज्ञगोप्ता" कहनेके लिए तय्यारहैं। क्योंकि प्रकृतियज्ञमें यज्ञके प्रभव बृह-

स्थाति ब्रह्माहै। वहींसे आपोमय यज्ञ प्रवृत्त होताहै अतएव अपांप्रणयनसे भी पहिले इस वैधयज्ञमें ब्रह्माका वरण कियाजाताहै। ऋग्-यजुः-साम इस वेद त्रयीसे ही यज्ञका स्वरूप बनताहै (शत. १।१।४।३)। एवं वेदके प्रभव ब्रह्मा है अतएव यज्ञके पहिले यज्ञके मूलभूत ब्रह्माको प्रतिष्ठित करना नितान्त आवश्यकहै। बस- अपांप्रणयनके पहिले "ब्रह्मवरण" कर्म्म क्यों किया जाताहै- इसका यही उत्तरहै। सूर्य्य वेदत्रयी घनहै(देखो शतपथ० १० कां.)। एवं बृहस्पति ब्रह्म वेदत्रयीरूप त्त्रसूर्य्य पर अधिष्ठितहै अतएव वैधयज्ञमेंभी ब्रह्मा वही बनायाजाताहै जोकि तीनों वेदोंका विद्वान् होताहै। हम यद्यपि शतपथ का अनुवाद कररहे हैं- अतः हमें "अनुवाद" की मर्य्यादाके अनुसार उन्हीं कर्म्मों के निरूपणका अधिकारहै जोकि शतपथमें आएहैं। इतना होनेपरभी- सम्बन्ध जाननेके लिए अनुक्त कर्म्मोंका सूक्ष्मरूपसे उल्लेखमात्र करदेना हमने आवश्यक समझाहै। व्रतोपायन कर्म्मके अनन्तरही शतपथमें अपांप्रणयन कर्म्म आरम्भ होजाताहै। इन दोनोंके बीचमें होनेवाले "ब्रह्मवरण" की इतिकर्त्तव्यता नहीं बतलाई गईहै। अतः- श्रौत-सूत्रके अनुसार इस कर्म्मकी सूक्ष्म रूपसे इतिकर्त्तव्यता बतलादेते हैं।

इष्टिके दिन प्रातःकालमेंही अग्निहोत्रके अनन्तर "ब्रह्मा" का वरण कियाजाताहै। इस दिन गार्हपत्यसे उद्धृत जो आहवनीय अग्निहै उसीमें प्रातरग्निहोत्र होम होताहै। इसके लिए नया उद्धरण नहीं कियाजाताहै। इसप्रकार इष्ट्यर्थ उद्धृत अग्निमें अग्निहोत्र होम करके- सूर्य्योदयके समय ब्रह्मवरणके लिए निम्नलिखित क्रमसे ब्रह्मा, अध्वर्यु, यजमानादिके लिए आसन बिछाए जाते हैं। ब्रह्मवरणके लिए दो आसन विहारसे उत्तर भाग में बिछाए जातेहैं। एकपर यजमान बैठताहै- एवं दूसरे पर ब्रह्मा बैठते हैं। इन दो आसनोंके अलावा एक आसन आहवनीयसे दक्षिणभागकी ओर

बिछायाजाताहै। वरणानन्तर मन्त्र बोलते हुए ब्रह्मा इसी आसन पर बैठते हैं। एवं एक आसन ब्रह्मासनसे पश्चिम भागमें बिछायाजाताहै। इस पर "वरण" कर्म्मानन्तर यजमान बैठताहै। इसप्रकार चार आसन तो यजमान और ब्रह्माके लिए बिछाए जातेहैं। एवं एक आसन गार्हपत्यके उत्तरभागमें बिछायाजाताहै। इसपर बैठकर अध्वर्यु अपांप्रणयन करताहै। एवं एक आसन अध्वर्युके बैठनेके लिए आहवनीयके उत्तर भागमें ब्रह्मासनसे पूर्व बिछायाजाताहै। इसीपर बैठकर अध्वर्यु आहवनीयाग्निमें आहुति देताहै। इसप्रकार कुल ६ आसन बिछाए जाते हैं। इनमें जो दो आसन विहारके उत्तरभागमें बिछाएजाते हैं- उनपर क्रमशः यजमान और ब्रह्मा बैठजाते हैं। यजमान उत्तराभिमुख बैठताहै, ब्रह्मा पूर्वाभिमुख बैठते हैं। इसप्रकार पूर्वा-भिमुख बैठेहुए ब्रह्माके दक्षिणजानुका स्पर्श करताहुआ यजमान नाम गोत्र पूर्वक "पौर्णमासेष्ट्याहं यक्ष्ये तत्र,,— "ॐ ब्रह्मिष्ठं भूपते भुवनपते महतो भूतस्य पते ब्रह्माणं त्वा वृणीमहे" (अमुक नामवाला एवं अमुक गोत्र वाला मैं पौर्णमास इष्टिसे देवताओंका यजन करूंगा- इस यजन कर्म्ममें- चराचर के अधिपति जो ब्रह्माहैं- उनके रूपसे आपका वरण करताहूं- अर्थात् जैसे प्रकृति यज्ञके अधिपति ब्रह्माहैं तथैव मैं आपको इस वैधयज्ञका गोप्ता बनाता हूं) यह बोलताहुआ ब्रह्माका वरण करताहै। इसी अभिप्रायसे भगवान् कात्यायन कहतेहैं—

"अग्निहोत्रं हुत्वा ब्रह्माणं वृणीते ब्रह्मिष्ठं भूपते भुवनपते महतो भूतस्यपते ब्रह्माणंत्वा वृणीमहे इति" (का० श्रौ० सू० २।१।१७ इति)।

इसप्रकार यजमानसे वृतब्रह्मा निम्नलिखित मन्त्र बोलताहै—

"अहं भूपतिरहं भुवनपतिरहं महतो भूतस्यपतिर्भूर्भुवःस्वर्देव सवितरेतंत्वा वृणते बृहस्पतिं ब्रह्माणं तदहं मनसे प्रब्रवीमि मनोगायत्र्यै, गायत्री

त्रिष्टुभे, त्रिष्टुब् जगत्यै, जगत्यनुष्टुभे, अनुष्टुप् प्रजापतये, प्रजापतिर्विश्वेभ्यो देवेभ्यो, बृहस्पतिर्देवानां ब्रह्माहं मनुष्याणाम्" इति । (का० श्रौ० २।१।१८)
जिसप्रकार बृहस्पतिदेवता गार्ह० दक्षि० आह० रूप पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोकके वसु, रुद्र आदित्य देवताओंके "ब्रह्मा" हैं– तथैव त्रैलोक्यरूप तीनों वैध अग्नियोंपर अधिष्ठित होताहुआ मैं इन मनुष्योंका (मनुष्य यजमानका) ब्रह्मा बनगयाहूं "मन्त्र" का यही तात्पर्यहै । इसके बाद यजमान ब्रह्माके प्रति "वाचस्पते यज्ञं गोपाय" (हे वाचस्पते आप यज्ञकी रक्षा कीजिए) इस प्रार्थना वाक्का प्रयोग करताहै । वाक्को ही यज्ञ कहतेहैं- जैसा कि दूसरे ब्राह्मणमें बतलाया जायगा । इस यज्ञरूप वाक्के अधिपति बृहस्पति नामके ब्रह्माही हैं । आज इस मनुष्य ब्रह्माको यही पद मिलाहुआहै । अतएव ब्रह्मा पर जिम्मेवरी डालतेहुए– यजमान कहताहै कि आप वाचस्पति हैं । अर्थात् यज्ञपति हैं । अतएव इस यज्ञकी रक्षा करना आपका आवश्यक कर्त्तव्यहै । इसके अनन्तर ब्रह्मा वरणासनसे उठजातेहैं- और "अपरेण वाहवनीयं दक्षिणातिक्रामति" (२।१।२० का० श्रौ० सू०), के अनुसार आहवनीयसे पूर्व भागमें होकर वेदिसे दक्षिणभागमें स्थापित आसनके पास जाकर आसनसे पश्चिमोत्तर भागमें प्राङ्मुख खडा होकर "अहे दैधिषव्योदतस्तिष्ठान्यस्य सदने सीद योऽस्मत्पाकतरः" (का० श्रौ० २।१।२१) यह मन्त्र बोलता हुआ ब्रह्मसदनकी ओर देखताहै । अनन्तर "निरस्तः पाप्मासह तेन यं द्विष्मः" यह बोलता हुआ ब्रह्मासनसे एक कुशतृण लेकर उसे नैर्ऋतकोणमें फैंकदेताहै । अनन्तर—

"इदमहं बृहस्पतेः सदसि सीदामि प्रसूतो देवेन सवित्रा तदग्नये प्रब्रवीमि तद्वायवे तत्पृथिव्यै"–(अग्नि-वायु-पृथिवी इन तीनों देवताओंकी साक्षी में सवितादेवताकी आज्ञासे इस बृहस्पतिके आसनपर मैं बैठताहूं, का० श्रौ०

सू० २।१।१) यह मन्त्र बोलते हुए ब्रह्मा अपने आसन पर बैठजातेहैं। अनंतर ब्रह्मासनसे पश्चिमभागमें स्थापित आसनपर यजमान बैठजाताहै।

ब्रह्मवरणोपपत्ति—

ब्रह्मा यज्ञके दक्षिणभागमें प्रतिष्ठित होकर यज्ञकी रक्षा किया करतेहैं। प्राकृतिक यज्ञसत्ता ब्रह्मापरही निर्भरहै। अतएव इस वैधयज्ञमें भी (जोकि प्राकृतिक नित्ययज्ञकी प्रतिकृति है) यज्ञके दक्षिणभागमें ब्रह्माको प्रतिष्ठित कियाजाताहै। प्राकृतिक यज्ञसे सम्बन्ध रखनेवाले ब्रह्माका क्या स्वरूपहै ? ब्रह्मा दक्षिणमें ही क्यों रहतेहैं ? दक्षिणमें रहकरही वे यज्ञकी रक्षा करनेमें समर्थ क्यों होते हैं ? इत्यादि प्रश्न जितनेहीं सरलहै इनका उत्तर उतनाही कठिनहै। "इन प्रश्नोंका शास्त्रोंमें उत्तर नहीं है इसलिए उत्तर कठिनहै, अथवा हम इनका उत्तर देनेमें असमर्थ हैं इसलिए उत्तर देना कठिन है" हमारी कठिनताका यह कारण नहीं है। शास्त्रोंमें अति विस्तारके साथ इन प्रश्नोंका समाधान कियागयाहै। एवं गुरुकृपासे हमभी अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार शास्त्रोंके आधार पर इन प्रश्नोंका समाधान करहीसकते हैं। फिर कठिनता क्यों ? पूर्व प्रश्नोंका उत्तर देना जितनाही कठिनहै इस कठिनताका उत्तर देना— उतनाही सरलहै। इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। प्रत्येक शास्त्रकी भिन्न भिन्न परिभाषाएं हुआ करती हैं। जबतक उन परिभाषाओंको नहीं जानलिया जाता तबतक अत्यन्त सरल होनेपरभी वह शास्त्र हमारेलिए अतिदुरूह बनजाताहै। विना परिभाषा ज्ञानके क्या कोई विद्वान् व्याकरणशास्त्रकी—घी, टी, नदी, घु, आम्रेडित आदि संज्ञाएं समझसकताहै ? बिना परिभाषाज्ञानके क्या कोई विद्वान न्यायशास्त्रके—"साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न" के अवच्छेदकावच्छिन्न को समझ सकताहै ? अद्वैतसिद्धान्तकी परिभाषाओंको जाने बिना क्या शु-

ष्कवैयाकरणी अख्याति, असत्ख्याति, अन्यथाख्याति, आत्मख्याति, रयि, प्राण आदि सांकेतिक शब्दोंके मर्म समझसकताहै? ज्यौतिषके त्रिज्या, कुज्या, रनियग्ग, सायन, क्रान्ति, परमक्रान्ति, लम्ब, वदम्ब, क्रान्त्यंशा, अयनांश, नाडीवृत्त, कर्कवृत्त आदि पारिभाषिक पदार्थोंसे परिचय प्राप्त किएबिना क्या शुष्कवेदान्ती ज्यौतिषशास्त्रका मर्म्म समझ सकते हैं ? अनुभव, विभाव, उद्दीपन, बीभत्स, रौद्र, शृङ्गार आदि अलङ्कार एवं रसोंके मर्म्म समझे बिना क्या अवच्छेदकावच्छिन्नमात्रमें ही अपनी जीवनलीला समाप्त करदेने वाले शुष्क नैय्यायिक साहित्यका मर्म्म समझनेके अधिकारी बनसकते हैं ? आयुर्वेदशास्त्रके अतिसुप्रसिद्ध "परिभाषाग्रन्थ" को पढे बिना क्या कोई साहित्यज्ञ "वैद्य" कहलानेका दावा करसकताहै ? नहीं । कभी नहीं । सर्वथा नहीं । तत्तच्छास्त्रोंकी परिभाषाएं जानेबिना उन उन शास्त्रोंको समझलेना कठिनही नहीं अपितु असंभवहै । ऐसी अवस्थामें वैदिक परिभाषाओंके जाने बिना जो कि परिभाषा-ज्ञान पठनपाठनके प्रचार न होनेसे प्रायः महाभारतके बादसे विलुप्तप्राय होरहाहै— यदि इतर-शास्त्रोंके प्रकाण्ड विद्वान् वेदका अर्थ समझनेमें कुण्ठित बुद्धि होजाते हैं तो इसमें वेदका क्या दोषहै । श्रीपू० गुरुवर ओझाजीके मतानुसार परिभाषा-ज्ञानके बाद वेदशास्त्र उतनाही सरलहै जितना कि परिभाषा-ज्ञानके बाद व्याकरणशास्त्र । एवं साहित्यशास्त्र संबन्धिनी परिभाषाओंके ज्ञानके बाद रघुवंश । वेद सत्य तत्वहै । सत्यसदा ऋजु(सरल) ही होताहै । मिथ्याभाव कुटिल- अतएव दुरूह होताहै । वैदिकभाषा नव्य-न्यायकी तरंह कृत्रिमतासे लाखों कोसों दूरहै । वैदिकसाहित्य—महर्षियोंकी स्वाभाविक सरल वाणी है । यह सबकुछ होतेहुएभी आज जो वेदशास्त्र विद्वानोंकी दृष्टिमें अतिकठिन बनाहुआहै - उसका एकमात्र कारणहै— परिभाषाज्ञानका अभाव । बस इसी कठिनताके कारण पूर्वके प्रश्नोंका समाधान करना कठिनहै । वेद मौलिकतत्वहै । यज्ञ योगिकतत्वहै । वेद ब्रह्महै । कर्म-

काण्ड "यज्ञ" है। ब्रह्मके—ब्रह्म और यज्ञ यह दोही विवर्त्त हैं। ब्रह्म कारणहै। यज्ञ कार्यहै। ब्रह्म परही यज्ञ प्रतिष्ठितहै अतएव यज्ञविज्ञान तब-तक समझमें नहीं आसकता जबतक कि ब्रह्मविज्ञानको[1] अच्छीतरहसे न समझ लिया जाय। ब्रह्मविज्ञानही यज्ञविज्ञानकी प्रतिष्ठाहै। "शतपथ-ब्राह्मण" यज्ञ ग्रन्थहै। इसमें यज्ञविज्ञानमात्रका निरूपणहै। अतएव इसका सम्यग ज्ञान ब्रह्मविज्ञानपरही निर्भरहै-जो कि ब्रह्मविज्ञान वेदसंहिताओंसे सम्बन्ध रखता है। बस इसी कठिनताके कारण पूर्वके प्रश्नोंके समाधानके लिए हमने "कठिन" शब्दका प्रयोग कियाहै। जिस समय शतपथका दर्शन हुआथा उस समय भारतवर्षमें ब्रह्मविज्ञान और यज्ञविज्ञान दोनोंकाही खूब प्रचारथा। अतएव शतपथमें- सारे विषयोंका सूत्ररूपसेही निदर्शन आयाहै। परन्तु आज परिभाषाओंके लुप्त होजानेसे वही शतपथ हमारेलिए वज्र बनगयाहै। शतपथ के आख्यानोपाख्यानोंका वैज्ञानिक रहस्य क्याहै— इसका उत्तर शतपथमेंहीं है- परन्तु सूत्ररूपसे। आप उसे देखलेनेमात्रसे ही उसका रहस्य नहीं समझ सकते- जबतक कि तत्सम्बन्धी ब्रह्मविज्ञानका बोध न हो। अतएव अप्राकृत होनेपरभी- यज्ञविज्ञानकी ग्रन्थिएं सुलझानेके लिए समय समयपर हमें अपने पाठकोंके सामने- ब्रह्मविज्ञान सम्बन्धिनी परिभाषाओंका स्वरूप बतलानापडैगा। शतपथके अनुवाद करनेका हमारा एकमात्र उद्देश्यहै- वैदिक विज्ञानका प्रचार करना और तद्द्वारा पाश्चात्य शिक्षाकी चकाचौंधमें अपने आपको भूलेहुए भारतीयोंको उनके स्वरूपका ज्ञान करवाना। इसी लिए हमने "पुनरुक्ति" दोषको इस अनुवादमें "गुण" मानाहै। पहिले तो वेदका विषय विद्वानोंके लिएही कठिनहै। ऐसी अवस्थामें केवल भाषाभिज्ञ मनुष्यों

---

[1] इसकेलिए पूज्यगुरुवर ओझाजी कृत "ब्रह्मविज्ञान" नामका अति सुविस्तृत ग्रन्थ देखना चाहिए, जोकि ग्रन्थरत्न पराधीन भारतके दुर्भाग्यसे अभीतक अमुद्रित ही है।

की कठिनताका तो कहनाही क्याहै। विद्वान् अपने पथके अनुगामी हैं। अतएव उनके विषयमें हमें कुछ नहीं कहना। जो संस्कृत भाषासे अपरिचित हैं- उन्हें मार्ग दिखलानाहै। बस इसीलिए हम एकही विषयको रूपान्तरमें परिणत करके बारबार उसका प्रतिपादन करेंगे, जिससे कि सर्वसाधारण मनुष्यभी उसे समझजाय। इसके लिए यदि विद्वान् हमें दोष देंगे तो उसे हम सहर्ष स्वीकार करनेके लिए तैय्यारहैं। बहुत हुआ। हमें जो कुछ आवश्यक निवेदन करनाथा करचुके। आशाहै-प्रेमीपाठक इन पङ्क्तियोंको ध्यानमें रखतेहुए-विषयके गाम्भीर्य्यको सामने रखतेहुए-आगे आनेवाले पुनरुक्ति-दोषोंको और आवश्यकतासे अधिक विस्तारके दोषोंको दोष न समझकर-हमें इस कार्य्यके लिए प्रोत्साहित करेंगे।

पूर्वमें- श्रौतसूत्रके अनुसार "ब्रह्मवरण" कर्म्मकी इतिकर्तव्यता बतलाई है। यज्ञदिवसमें होनेवाले कर्म्मोंमें सबसे पहिला कर्म्महै- "अपांप्रणयन"। परन्तु इससेभी पहिले "ब्रह्मवरण" कर्म्म कियाजाताहै। क्योंकि यज्ञके रक्षक ब्रह्माहै। यदि ब्रह्मा न होंगे तो यज्ञही प्रतिष्ठित न होगा। ब्रह्माही यज्ञकी (यज्ञमय सम्पूर्ण विश्वकी) प्रतिष्ठाहै। अतएव सबसे पहिले ब्रह्मवरण कर्म्म करनापडताहै। ब्रह्माही यज्ञकी प्रतिष्ठा कैसेहै? इसके समाधानके लिए निम्नलिखित ब्रह्मविज्ञानको ध्यानमें रखना आवश्यकहै—

संसारमें स्थिति और गति दो तत्वहैं। दोनों अविनाभूतहैं। ऐसी कोई स्थिति नहीं है-जिसमें गति नहो। ऐसी कोई गति नहीं जिसमें स्थिति नहो। जिसदिन स्थितिमें से गति निकाल दी जायगी उस दिन वह स्थिति गतिरूपमें परिणत होजायगी - एवं जिस दिन गतिमें से स्थिति निकाल दी जायगी उसदिन गति स्थितिरूपमें परिणत होजायगी। स्थितिका स्वरूप गतिपर निर्भरहै। गतिका स्वरूप स्थितिपर निर्भरहै। आप अपने मकान

से रामनिवास बाग जानेका इरादा करते हैं । इरादेके साथही भीतरही भीतर प्राणव्यापार (चेष्टा-कोशिश) होताहै । पैर चलपडते हैं । एक पैर उठताहै- एक आगे जाकर टिकताहै । पैर चलरहे हैं-यही गति है । परन्तु जब आप एक पैर आगेके लिए उठाते हैं तो दूसरे पैरको जमीनपर स्थित रखनापडताहै । बिना एक पैरको स्थित किए आप दूसरे पैरको—गतिरूपमें परिणत करही नहीं सकते । अतएव माननापडताहै कि सचमुच - गति बिना स्थितिके नहीं होसकती । यदि आप गति में से इस स्थितिको निकालदेंगे तो आपकी गति स्थितिरूपमें परिणत होजायगी । श्रावणका महिनाहै । आकाशमें वारिदल (बद्दल) छाएहुएहैं । झरमर झरमर मेह बरसरहाहै । बडेही आनन्दका समयहै । मित्रमण्डली गोष्ठीके लिए घरसे रवाना होती है । इसे अपने घरसे २ कोसकी दूरीपर स्थित गालव महर्षिके आश्रममें जाना है जहांपर कि पतितपावनी गङ्गा कलकलनाद करतीहुई पहाडोंमें से गिर कर बहतीहुई पापियोंके पापोंको बहानेजारही है । रास्तेमें उन मित्रों में परस्पर बाजी लगती है कि देखें लक्ष्य स्थानपर पहिले कौन पहुंचताहै । बाजी लगतेही सारे मित्र अपने अपने बलके अनुसार तेज चलपडते हैं । एक मित्र १ घन्टे भरमें पहुंचताहै । दूसरा २ घन्टेमें पहुंचताहै । तीसरा- १५ ही मिनटमें पहुंचजाताहै । लीजिए चौथा तो १० ही मिनटमें आपहुंचा । अब आपसे हम प्रश्न करते हैं कि १० सों मित्र एक समयमें एक साथ रवाना हुए, परन्तु एक १० ही मिनटमें पहुंचगया । एकको २ घन्टे लगे । एकको एक घन्टा लगा । इसका क्या कारण है । उत्तरमें आप कहेंगे कि— जिसने जल्दी पैर उठाए वह जल्दी पहुंचगया । जिसने धीरे धीरे पैर उठाए वह देरसे पहुंचा । आपके इन दो उत्तरोंसे हमारा समाधान होजाताहै । जल्दी पैर उठानेका अर्थ है- स्थिति कम करना । अतएव माननापडताहै कि जो मनुष्य १० ही मिनटमें पहुंचगयाहै उसके पैरोंमें स्थिति बहुतही कमथी ।

उसने अपना पैर जमीनपर किससमय रक्खा यह देखना कठिनथा । उसके पैर तो चलतेही दिखाई देतेथे । मानलीजिए- एक मनुष्य इससे भी अधिक तेज चलनेवालाहै । यह उससे दुगना तेज चलताहै । अर्थात् इसके पैरोंकी स्थिति १० मिनटमें पहुंचनेवालेकी स्थितिसे आधी है । अतएव वह पांचही मिनटमें लक्ष्य स्थानपर पहुंचजाताहै । उससेभी कम स्थिति रखनेवाला २॥ मिनटमें पहुंचजाताहै । उससेभी आधी स्थिति रखनेवाला १। मिनटमेंही पहुंचजाताहै । उससेभी कम स्थिति रखनेवाला पौन मिनटमेंही पहुंचजाताहै । मानलीजिए- एक मनुष्यमेंसे स्थिति बिलकुलही निकलगई- ऐसा मनुष्य जिस क्षणमें घरहै- उसी क्षण गलते है । स्थिति निकलजानेसे उसकी गति स्थिति बनजाती है । ऐसा केवल ब्रह्मतत्वही होसकताहै दूसरा नहीं । गतिष्ठा तत्वका नामही ब्रह्माहै । जिसकी गतिमें जराभी स्थिति नहीं है- अतएव जो सबसे तेज चलताहुआभी- गतिमें स्थिति न रहनेसे स्थितिस्वरूपमें परिणत होरहाहै—वही तत्व "ब्रह्म" किंवा ब्रह्मा कहलाताहै । इसी तत्वका निरूपण करतेहुए वेदभगवान् कहते हैं—

> *अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवनपूर्वमर्शत् ।*
> *तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥* (ईशा.उप.४)

यह ब्रह्मतत्व- कम्पसे बिलकुल रहितहै अर्थात् बिलकुल स्थिर है, परन्तु मनसेभी तेज चलनेवालाहै । देवता लोग दौडमें इसे कभी नहीं पकड सकते हैं । यह स्वयं बैठा बैठा ही दौडनेवालोंके आगे जापहुंचताहै । इसी अर्थका औरभी स्पष्टीकरण करतीहुई आगे जाकर श्रुति कहती है—

> तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
> तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ (ई० उ० ५)

कहना हमें केवल इतनाही है कि यदि गतिमें से स्थिति निकालदी जाती है तो वह गति- गति न रहकर स्थितिरूपमें परिणत होजाती है। यदि आप इसका औरभी स्पष्टीकरण चाहते हैं तो एक जलताहुआ उल्मुकं (पलीता-पूला) अपने हाथमें लेलीजिए, एवं उसे आप जितना जल्दी घुमा सकते हैं- घुमाइए। आपके हाथमें अतिशीघ्र घूमतेहुए उस उल्मुकको-सामने खडेहुए दर्शक मण्डलकारमें परिणत देखेंगे। प्रतिक्षण उस उल्मुकमें गति होरही है परन्तु दर्शक उसे स्थिर मंडलाकारमें परिणत देखरहे हैं। इसका एकमात्र कारण यही है कि आपके हाथकी गतिमें स्थिति बहुतही कमहै। यदि उस गतिमेंसे आप स्थितिको एकान्ततः निकालदेंगे तो उसी क्षण वह उल्मुक स्तब्ध होजायगा। यहतो हुआ गतितत्वका निरूपण, अब चलिए स्थितितत्वकी ओर—

स्थिति—स्थितिस्वरूपमें तभीतकहै जबतककि इसमें गतिका समावेशहै। यदि स्थितिमें से गति निकालदीजाती है, तो वह स्थिति उसी क्षण गतिरूपमें परिणत होजाती है। आप जितनेभी स्थिर पदार्थ देखते हैं विश्वास कीजिए वे एक समयमें चारों ओर जारहे हैं। जिस क्षणमें वह वस्तु पूर्व जारही है- उसी क्षणमें पश्चिम जारही है। एवं उसी क्षण दक्षिणोत्तर जारही है। उसी क्षणमें नीचे ऊपर जारही है। एक क्षणमें सबओरके समानआकर्षणके कारण वह पदार्थ किसी नियतगतिकी पकडमें न आकर सब ओर जानेलगताहै। बस इस गतिसमष्टिका नामही स्थिति है। यदि किसी एक ओरकी गतिका बल शिथिल होजाताहै तो ठीक उसके विरुद्धभागमें वह स्थित वस्तु चलपडती है। हम इस समय बैठे हैं, इसका अर्थ यही है कि हम चारों ओर जारहे हैं। भीतरसे बल लगताहै। पश्चिमभागका आकर्षण शिथिल पडजाताहै। उसी क्षण हम पूर्वकी ओर चलपडते हैं। विरुद्ध गतिही स्थितिका कारणहै। उदाहरणार्थ—एक रस्सेपर दृष्टि डालिए जिसे कि

समान बलवाले दो पहलवान दोनों ओरसे खैंचरहे हैं । एक पहलवान पूर्ण बलका प्रयोग करताहुआ उसे पूर्वकी ओर खैंचरहाहै, एवं दूसरा उतनेही बलसे पश्चिमकी ओर उसे खैंचरहाहै। सचमुच रस्सा दोनों ओर जारहाहै। दोनोंके गतिबलका उस रस्सेपर प्रयोग होरहाहै । इसका प्रत्यक्षप्रमाण यही है कि थोडी देर बाद दोनोंही पहलवान थकजातेहैं । यदि गतिबल खर्च न होता तो वे कभी न थकते । इसप्रकार गति होतेहुएभी रस्सा स्थिर प्रतीत होरहाहै इसका कारण यही है - रस्सा जिस क्षणमें जितनी दूर पूर्व जारहा है उसी क्षणमें उतनीही दूर पश्चिम जारहाहै । अतएव वह किसी ओर चलता नहीं दिखलाई देता । पूर्वकी गतिनें पश्चिम गतिको दबारक्खाहै, पश्चिम गतिनें पूर्व गतिको दबारक्खाहै । इन्हीं दोनों विरुद्धगतियोंने सर्वथा गतिमान् रस्सेको स्थितिमान् बनारक्खाहै । यदि दोनों गतियोंमें से किसी एक ओरकी गति शिथिल होजाती है तो उसी क्षण वह स्थित रस्सा विरुद्धभाग की ओर चलपडताहै । अतएव माननापडताहै कि स्थितिमें जबतक गति (सर्वतोदिग्गति अथवा कमसेकम विरुद्धदिग्द्वयगति) है तभीतक स्थिति स्थिति है । जिस समय स्थितिमें से गति निकलजाती है - उस समय वह स्थिति गतिस्वरूपमें परिणत होजाती है । बस इसी विज्ञानके आधार पर हमने- "ऐसी कोईभी स्थिति नहीं जिसमें गति न हो, एवं ऐसी कोई गति नहीं जिसमें स्थिति न हो" यह कहाहै । तमप्रकाशवत् (अंधेरे उजालेकी तरह) दोनों (स्थिति और गति) परस्पर अत्यन्त विरुद्धहैं । परन्तु परस्परमें अत्यन्त विरुद्ध प्रकाश और अन्धकार जैसे एकदूसरेके बिना नहीं रहसकते, दूसरे शब्दोंमें तम (अनुपाख्य तम) रूप कृष्ण और प्रकाशरूप गौरवर्णाराधा जैसे अविनाभूतहै ठीक इसीप्रकार सर्वथा विरुद्ध स्थितिगतिका जोडाहै । स्थिति तत्व गतितत्वकी प्रतिष्ठाहै । एवं गतितत्व (वैष्णव गतितत्व) स्थितितत्वकी प्रतिष्ठाहै जैसाकि अनुपदमें ही बतलानेवाले हैं । सारे प्रपञ्चसे प्रकृतमें हमें

यही बतलानाहै कि पूर्वोक्त दोनों तत्वोंमें से स्थितितत्वका नामही "ब्रह्म" है। अक्षरपुरुषके अभिप्रायसे वही ब्रह्म "ब्रह्मा" कहलाने लगताहै। यही ब्रह्मतत्व किंवा ब्रह्मा सम्पूर्ण विश्वकी प्रतिष्ठाहै। अतएव इसके लिए—"ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा"—(शत० ६।१।१।८)—यह कहाजाताहै। संसार संसरण भावके कारण संसारहै, गति शीलहै। गति बिना स्थितिस्वरूप आधारके सर्वथा अनुपपन्नहै। गतिस्वरूप विश्वका आधार यही स्थितिरूप ब्रह्मतत्वहै अतएव हम अवश्यही इसे विश्वकी प्रतिष्ठा कहनेके लिए तैय्यारहैं। स्थितिके विषयमें हम अधिक कुछ नहीं कहना चाहते। स्थितिप्रकरणको यहीं समाप्त कर हम अपने पाठकोंका ध्यान गतितत्वकी ओर आकर्षित करते हैं—

गति संसारमें—पराक्,प्रत्यग्भेदसे कुल दो प्रकारकी होती है। एक गति उस (जडचेतनोभयविध) वस्तुकी ओर न रहकर वस्तुके विमुख होती है। यही "परागगति" कहलाती है। एवं एक गति वस्तुकी ओर झुकीरहती है, इसीको "प्रत्यग्गति" कहते हैं। इस उभयविध गतितत्वका नामही "इन्द्र" है। "सर्वागतिर्याजुषी हैव शश्वत्" (गतिमात्रका यजुसे सम्बन्धहै-यजुके यतभागका नामही गतिहै—तै० ब्रा० ३।१२।६।१ इति) के अनुसार—ऋग्, यजुः, साम इन तीनोंमें से यजुभागका नामही गति है। वस्तुतस्तु—यजुके यतभागका नामही "गति" है। यह यतभाग प्राणात्मक वायुहै। इसीको इन्द्र कहते हैं। जैसाकि श्रुति कहती है—

"अयं वावइन्द्रो योऽयं पवते" (इसी प्राणरूप वायुका नाम इन्द्रहै जोकि इस विशाल अन्तरिक्षमें बहरहाहै—शत० १४।२।१।६ इति)।

इस गति इन्द्रकी ही पराक् और प्रत्यक् दो अवस्थाएं होजाती हैं। परागगति "परागिन्द्र" है, एवं प्रत्यग्गति "प्रत्यगिन्द्र" है। परागगतिको केवल "इन्द्र" शब्दसे ही व्यवहृत करते हैं, एवं प्रत्यग्गति वस्तुकी ओर रहती है। उसके

उप (समीप) रहती है— अतएव इस प्रत्यगिन्द्रको "उपेन्द्र" कहाजाताहै । इसी का नाम "इन्द्रावरज" है । यही चतुर्भुज "विष्णु" हैं । इनकी चार भुजा कौनसी है ? इसका उत्तर आगेके किसी प्रकरणमें दियाजायगा । साथही में हम इतना और कहदेना चाहते हैं कि- विज्ञान, कर्म्म, उपासना, तीनोंमें से प्रकृतमें हम विज्ञान-मर्य्यादाके आधीन हैं । अतएव वैज्ञानिक ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्रका ही स्वरूप बतलायाहै । उपासनाकाण्डके औपासनिक ब्रह्मादि देवताओंका स्वरूप भिन्नहै- जिनकाकि स्वरूप प्रसङ्गानुसार समय समयपर बतलाते रहेंगे । यहां केवल वैज्ञानिक ब्रह्मादिका ही निरूपण कियागयाहै । हम कहरहेथे कि- गति इन्द्र और उपेन्द्रभेदसे दो प्रकारकी होजातीहै । उपेन्द्रको ही "विष्णु" कहते हैं । गतिका ही नाम इन्द्रहै, एवं गतितत्वकाही नाम विष्णुहै । आनेवाली गति विष्णुहै, जानेवाली गति इन्द्रहै । दूसरे शब्दों में आगति विष्णुहै, गति इन्द्रहै । वस्तुके मण्डलकी (जो कि मण्डल वैज्ञानिक परिभाषानुसार "साम" नामसे व्यवहृत होताहै) एक परिधी (अंतिम सीमा) होतीहै । इस परिधिसे वस्तुके केन्द्रकी ओर अपना रुख रखनेवाली गति "विष्णु" है । एवं केन्द्रसे परिधिकी ओर अपना रुख रखनेवाली गति "इन्द्र" है । विष्णुगति अशनाया सूत्र द्वारा बाहरसे वस्तु लाकर उन्हें केन्द्रमें प्रतिष्ठित करतीरहती है, एवं इन्द्रगति केन्द्रमें आएहुए पदार्थोंको अपनी विक्षेपण शक्तिद्वारा बाहर फैंकाकरती है । आदान क्रियाके अधिष्ठाता विष्णुहैं- अतएव विष्णुको संसारका पालनकर्त्ता कहाजाताहै । विसर्ग क्रियाके अधिष्ठाता इन्द्रहैं । पुराणभाषामें यही इन्द्र महादेव कहलाते हैं । क्योंकि आई हुई वस्तुओंको विक्षेपणशक्तिद्वारा नष्ट करना इनका कामहै अतएव महादेवापरपर्य्यायक इन्द्रको संहारकर्त्ता बतलाया जाताहै । एवं वस्तुका स्वरूप बनाकर उसको स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित रखना प्रतिष्ठारूप ब्रह्मतत्वका कामहै अतएव ब्रह्माको सृष्टिकर्त्ता कहाजाताहै । यद्यपि वस्तुमात्रमें तीनों

शक्तिएं काम करती हैं- परन्तु अवस्था विशेषके कारण तीनोंमें तारतम्य होतारहताहै। यदि आदान विसर्ग समान होता तो प्रतिष्ठा कभी न उखडती परन्तु हम प्रत्येक पदार्थमें बाल, युवा, वृद्ध, नाशादि अवस्थाओंका प्रत्यक्ष करते हैं अतएव तीनोंमें अवश्यही तारतम्य माननापडताहै। प्रजापतिके अग्नीषोमात्मक यज्ञसे सारा विश्व उत्पन्न हुआहै। यज्ञमें प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, सायंसवन यह तीन सवन होते हैं। अतएव सवनत्रयोपेत यज्ञजन्य पदार्थमात्रमें तीनों सवनोंकी सत्ता सिद्ध होजाती है। प्रातःकाल प्रातःसवनहै, मध्याह्न माध्यन्दिनसवनहै, सायङ्काल सायंसवनहै। बाल्यावस्था प्रातःसवनहै, युवावस्था माध्यन्दिनसवनहै, वृद्धावस्था सायंसवनहै। जड-चेतन उभयविध पदार्थोंमें तीनोंकी समानरूपसे स्थिति समझनी चाहिए। प्रातःसवनमें (बाल्यावस्थामें) विष्णु बलवान रहते हैं, इन्द्र निर्बल रहते हैं। इस अवस्थामें शरीर गतपदार्थोंके निकलनेके द्वारभूत रोमकूप छोटे रहते हैं अतएव इस अवस्थामें खर्च कम होताहै। एवं नूतन रुधिरके वेगकी अधिकतासे पाचनशक्ति प्रबल रहती है। अतः भूख ज्यादा लगती है। अतएव आमदनी अधिक होती है। इसीलिए इस अवस्थामें उत्तरोत्तर शरीरकी वृद्धि होतीरहती है। इसके बाद माध्यन्दिन सवन (युवावस्था) आताहै। इसमें इन्द्र विष्णुका समान बल रहताहै। जितनी आमदहै उतनाही खर्च है। इन्द्र जितनी वस्तु बाहर फैंकताहै विष्णु प्रधिकी ओरसे वस्तु लाकर उस कमीको पूरी करदेते हैं। इसप्रकार इन्द्र और विष्णु दोनोंमें परस्पर घोर स्पर्द्धा चलती रहती है। इस अवस्थामें न इन्द्र विष्णुसे हारते हैं, एवं न विष्णु इंद्रसे हारते हैं। इसी माध्यन्दिन सवन सम्बन्धी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर श्रुति कहती है—

उभाजिग्यथुर्नपराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।
इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां त्रेधासहस्रं वितदैरयेथाम्॥ ऐ.ब्रा.२।८।७

हे इन्द्र ! हे विष्णो ! आप दोनों सदा जीतते ही हो । आप दोनों किसीभी असुरसे परास्त नहीं होते हो । (इतनाही नहीं) जब इन दोनों में स्पर्द्धा चलती है तो उस समय दोनों में से एकभी नहीं हारता । इस स्पर्द्धासे ही आपने लोक, वेद, वाक् इन तीन साहस्त्रियोंको प्रेरित कियाहै । स्पर्धा समान बलपरही निर्भरहै, यह समानता माध्यन्दिन सवनमें ही रहती है ।

वाक्, वेद, लोक इन तीनों साहस्त्रियोंका स्वरूप आगे आनवाले वषट्कार स्वरूप निरूपणमें बतलाया जायगा। माध्यन्दिन सवनके अनन्तरहै- सायं सवन । सायं सवनमें (वृद्धावस्थामें) रोमकूपोंके बडे होजानेसे इंद्र बल- वान् होजाताहै, विष्णु कमजोर होजाते हैं । खर्च ज्यादा होताहै आमद कम होती है । भूख कम लगती है । शरीर प्राण अधिकमात्रासे खर्च होताहै । अन्ततोगत्वा जब विष्णु सर्वथा निकलजाते हैं तो विष्णु गतिके आधार पर प्रतिष्ठित हृदयस्थ प्रजापतिब्रह्म (प्रतिष्ठा) उच्छिन्न होजाताहै । इसीका नाम "मृत्यु" है । जबतक विष्णुहै तभीतक पालनहै । ब्रह्मप्रतिष्ठाको प्रतिष्ठित रखनेवाली यही विष्णु गति है । अतएव विष्णुको प्रतिष्ठाकी भी प्रतिष्ठा कहाजाताहै । ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, (पुराणभाषानुसार महादेव) तीनोंकी साम्यावस्थामें जीवनहै, विषमावस्थामें वृद्धिविनाशहै । प्रातःसवन वर्धिष्णुहै, सायंसवन क्षयिष्णुहै । आप जितनीभी मूर्त्तिएं (जडचेतनाभयविध) देखरहे हैं, सबमें यह स्थिति और उभयात्मिका गति विद्यमानहै । जितना अंश ठहरावकाहै वही ब्रह्माहै । आदानशक्ति विष्णुहै, विसर्गशक्ति इंद्रहै । वस्तुतः गतिभी स्थितिही है, गति में से स्थिति निकालदी जाती है तो गतिही स्थिति बनजाती है जैसाकि पूर्व में बतलादियागयाहै । कहनेको गति-स्थिति दो तत्वहैं, वस्तुतः एकही तत्वकी गतिभेदसे तीन अवस्थाएं होजाती हैं । सर्वतो दिग्गति ब्रह्माहै, पराग्गति इंद्रहै, प्रत्यग्गति विष्णुहै । तीनों शक्तिएं सर्वथा अविनाभूतहैं । जिसे आप मूर्त्ति (वस्तुपिण्ड) कहते हैं वह मूर्त्ति इन तीनों

देवताओं की समष्टिमात्र है। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर अभियुक्त कहते हैं—

"एकामूर्त्तिस्त्रयोदेवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः" (ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तीनों देवताओंकी समष्टि एक मूर्त्ति है। इति)। इन तीनोंमें आधारभूत ब्रह्माही इंद्रसे युक्त होकर अग्नि कहलाने लगते हैं, अतएव "अग्निर्वैप्रजापतिः" (मैत्रा० २।४।६) यह कहाजाताहै। एवं वही ब्रह्म विष्णुसे युक्त होकर सोमस्वरूपमें परिणत होजाते हैं, अतएव सोमपिण्डभूत चन्द्रमाके लिए "चन्द्रमावै ब्रह्मा" (सत० १२।१।१।२) यह कहाजाताहै। शुद्ध सर्वदिग्गति ब्रह्माहै, शुद्ध आगति विष्णुहै, शुद्धगति इंद्रहै। ब्रह्मयुक्त आगति सोमहै, ब्रह्मयुक्त गति अग्निहै। अग्निका इंद्रके साथ सम्बन्धहै। इंद्र क्योंकि केन्द्रसे बाहरकी ओर अपना रुख रखताहै, अतएव अग्निभी केन्द्रसे परिधिकी ओर उत्तरोत्तर विकसित रहताहै। एवं सोमका विष्णुके साथ सम्बन्धहै। विष्णु परिधिसे केन्द्रकी ओर अपना रुख रखते हैं, अतएव सोमभी परिधिसे केन्द्र की ओर उत्तरोत्तर संकुचित होताजाताहै। अतएव व्रतोपायन कर्म्ममें हमने अग्निको विकासधर्म्मा बतलायाहै, और सोमको संकोचधर्म्मा बतलायाहै। इस प्रकरणसे यह भलीभांति सिद्ध होजाताहै कि एकही स्थितितत्त्वके ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम, यह पांच विवर्त्त हैं। ब्रह्मा प्रतिष्ठाहै। इंद्र विष्णु गतिहै, यह एक युग्महै, इस युग्मकी प्रतिष्ठा ब्रह्माहै। अग्निसोम दूसरा युग्म है, इसकी प्रतिष्ठा इंद्रविष्णुहै। ब्रह्मा विष्णु इन्द्र तीनों "हृद्य" हैं अर्थात् हृदयमें रहनेवाले हैं, अग्नीषोम वस्तुका स्वरूप बनेहुएहैं। तीनों देवता हृदय में प्रतिष्ठित रहते हैं, अतएव उनका प्रसव्त नहीं होता। प्रसव्त अग्नी सोम का ही होताहै अतएव जगत्के लिए— "अग्नीसोमात्मकं जगत्" यही कह दियाजाताहै। ब्रह्म प्रजापति अपने ऊपर प्रतिष्ठित अग्नी सोमसे सारा संसार बनायाकरते हैं। विष्णुका सहारा लेकर अपने अग्निमुखमें सोमाहुति

डालकर उसकेद्वारा संसारका निर्म्माण कियाकरतेहैं,एवं इंद्रकीओर झुककर इस यज्ञ क्रमको बंद कर संसारका विनाश कियाकरते हैं। ब्रह्मा,विष्णु,इंद्र के पूर्वोक्त स्वरूपको बतलानेके लिएही वैज्ञानिक महर्षियोंने इन तीनों शक्तियोंकी समष्टिका नाम "हृदय" रक्खाहै। हृदय शब्दही तीनोंका स्वरूप बतलारहाहै। हृदय शब्दमें- हृ, द, य, यह तीन अक्षरहैं। तीनोंका-हरति (आहरति), द्यति (खण्डयति), यच्छति (नियमयति), इस व्युत्पत्तिके अनुसार लेना, नष्ट करना, संयमन करना, यह अर्थ होताहै। आहरण करना विष्णुका कामहै अतएव उसके लिए "हृ" अक्षरका प्रयोग कियागयाहै। विनाश करना, दूसरे शब्दोंमें वस्तुगत पदार्थोंको अन्य वस्तुकी पुष्टिके लिए देना इंद्रका कामहै अतएव उसके लिए "द" अक्षरका प्रयोग कियाहै। एवं दोनों का जिस शक्तिके आधार पर संयमन होताहै वही ब्रह्मा कहलाते हैं। नियमन करनेके कारण इनके लिए "यम्" अक्षरका प्रयोग कियागयाहै। ("स्वरोऽक्षरम् सहाग्रैर्व्यञ्जनैः" स्वरको अक्षर कहतेहैं यदि उसके साथ और व्यंजन रहते हैं तो उसी एक अक्षरसे सारेव्यञ्जनोंका भी ग्रहण होजाताहै) कात्यायनके इस कथनके अनुसार "यम्" को अवश्यही एक अक्षर कहा जासकताहै। वस्तुकी केन्द्रबिन्दुका नाम हृदयहै। उस केन्द्रबिन्दुमें हृ, द, य, रहते हैं-इसीलिए उस बिंदुका नाम हृदयहै। अक्षरका नाम प्रजापति है। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, तीनोंकी समष्टि प्रजापति है। तीन तत्वोंको दूसरे शब्दों में तीन अक्षरोंको (ब्रह्मा विष्णु इंद्रको) एक प्रजापति मानाजाताहै। प्रजापति त्र्यक्षरहै-इसी रहस्यको ध्यानमें रखकर अक्षरमें अ, क्ष, र, यह तीनही अक्षर रक्खेगएहैं। अक्षर शब्द बतलाताहै कि मुझमें अ, क्ष, र, यह तीन समझो। तीनोंकी समष्टि एक "अक्षर" प्रजापति है। इसी अक्षरका नाम अव्यक्त प्रजापति है। जिसप्रकार धधकतेहुए अग्निमें से धीरे धीरे हजारों अग्नि विस्फुलिङ्ग (अग्निकण) उत्पन्न होतेरहतेहैं, और क्षणमात्र ठहरकर

उसीमें विलीन होतेरहते हैं-ठीक इसीप्रकार इस अव्यक्तरात्मक अक्षर प्रजापति से जगविश्व उत्पन्न होताहै, उत्पन्न होकर उसीपर प्रतिष्ठित रहताहै। एवं अन्तमें उसीमें विलीन होजाताहै। इसी अभिप्रायसे उपनिषत् श्रुति कहती है—

यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्रचैवापियन्ति ॥

विषय आवश्यकतासे अधिक लम्बा होगयाहै, अतएव यहीं छोड़ कर हम अपने पाठकों को पुनः प्रकृतकी ओर लेचलते हैं। संसारका स्वरूप अग्नीषोमात्मक यज्ञपर निर्भरहै। अग्नीषोमात्मक यज्ञका नामही संसारहै। परन्तु ब्रह्माकी अवस्था विशेषका नामही अग्नीसोमहै अतएव जबतक ब्रह्म-तत्व प्रादुर्भूत नहीं होता तबतक किसीभी वस्तुका स्वरूप नहीं बनता। वस्तुकी उत्पत्तिमें सबसे पहिले ब्रह्मसत्ताका प्रकट होना आवश्यकहै। इसी लिए इस ब्रह्मतत्वको प्रथमज (सबसे पहिले उत्पन्न होनेवाला) बतलाया जाताहै-(देखिए-शत० ६।१।१।८) मुण्डकोपनिषत् १।१ इति। हमने बतलादियाहै कि ब्रह्माकी अवस्थाविशेषका नामही "अग्नि" है। आधिदैविक मण्डलमें यह ब्रह्माग्नि दक्षिणभागमें प्रतिष्ठित रहताहै-एवं सोम उत्तरभाग में प्रतिष्ठित रहताहै। सोम उत्तरसे दक्षिणमें आयाकरताहै, एवं अग्नि दक्षिणसे उत्तरभागकी ओर जायाकरताहै। दक्षिणसे उत्तरमें जानेवाले अग्नि में उत्तरसे आनेवाला सोम निरन्तर आहुत होतारहताहै। इसी अग्नीषोमात्मक यज्ञसे विश्वका स्वरूप बनाहुआहै। अग्नि साक्षात् ब्रह्महै, इसकी प्रतिष्ठा दक्षिणादिक्है। अग्निकी मात्रा बल बढातीहै, परन्तु साथही में अपने तापसे कृष्णवर्ण उत्पन्न करदेतीहै, अतएव दक्षिणकी सारी सृष्टि-उत्तरकी सृष्टिकी अपेक्षा बलवान् किन्तु कृष्णवर्णा होती है। आप ज्यों ज्यों दक्षिण

भारतकी ओर बढतेजायगे त्यों त्यों आपको वहांके मनुष्य अधिकाधिक काले मिलेंगे। अपिच इसी अग्निके प्रभावसे दक्षिणके विन्ध्यादि आदि पर्वत ठोस, एवं लोहाकृतिके होतेहैं, क्योंकि अग्निद्वारा इनके भीतरका आप्यप्राण अग्निसे खैंचलियाजाताहै। परन्तु उत्तरमें ठीक इसके विपरीत है। उत्तरमें सोमका राज्यहै, अतएव वहांकी सारी सृष्टि गौरवर्णा एवं साथ हीमें दक्षिणकी अपेक्षा निर्बल होतीहै। अपिच इसीलिए उत्तरभागके हिमालयादि पर्वतभी उतने ठोस नहीं होते, क्योंकि पानीके कारण उनका उदर विशाल रहताहै। अग्नि दक्षिणमेंही प्रतिष्ठित रहताहै, एवं दक्षिणमें प्रतिष्ठित होकर उत्तरभागमें आयाकरताहै, इसका प्रत्यक्षप्रमाण यही है कि एक साथ बोएहुए खेतके धानमें पहिले दक्षिणभागके धानकाही परिपाक होताहै (देखिए- ऐ० ब्रा० २।१ इति)। आप्यप्राणको ही असुर कहते हैं, दक्षिणस्थ अग्निब्रह्मा आप्यप्राणके घोर शत्रुहैं। यदि दक्षिणमें अग्निमय ब्रह्मा प्रतिष्ठित न होते तो अग्नीषोमात्मक यज्ञही नष्ट होजाता। अतएव दक्षिणस्थ ब्रह्मको अवश्यही "यज्ञगोप्ता" कहाजासकताहै। अग्निवेदका नामही अर्थावेदहै। इसी वेदमय ब्रह्मासे यज्ञकी रक्षा होरही है।

इस पूर्वोक्त आधिदैविक यज्ञकी प्रतिकृतिपरही इस वैधयज्ञका वितान कियाजाताहै, अतएव इस वैधयज्ञमें भी त्रयीवेदके अधिष्ठाता स्वतपनाग्निमय ब्राह्मणको यज्ञकी रक्षाके लिए सबसे पहिले यज्ञमण्डलके दक्षिणभागमें प्रतिष्ठित करना आवश्यक होजाताहै। प्राकृतिक ब्रह्माका मुख उत्तरकी ओर रहताहै अतएव इस वैधब्रह्माकोभी दक्षिणभागमें उत्तराभिमुख होकरही बैठनापडताहै "यो यच्छ्रद्धः स एवसः" इस विज्ञानको आगे रखकर श्रद्धाको प्रधान बनाकर भावना द्वारा यथोक्त विधिके अनुसार यदि इस त्रयीवेदके विद्वानका 'ब्रह्मन्वेन' वरण कियाजाताहै तो उस श्रद्धामन्त्र द्वारा

होनेवाले बंधनके प्रभावसे इस मनुष्यब्रह्मामें उसीप्रकार नित्यब्रह्माके धर्म्म संक्रान्त होजाते हैं जैसेकि हाईकोर्टके मंचपर बैठनेही जजमें अपने आप शासनबल प्रादुर्भूत होजाताहै। इसी शक्तिको "अधिकारबल" बल कहते हैं। पूर्वमें हमने परमेष्ठिमें प्रतिष्ठित बृहस्पतिको ब्रह्मा बतलायाथा, यहांपर अग्नि को ब्रह्मा बतलायाहै। इसमें विरोध नहीं समझना चाहिए, क्योंकि बृहस्पति अङ्गिराहै। एवं ऋत अङ्गिराकी सत्यावस्थाका नामही अग्निहै। सारे प्रपंच का निष्कर्ष यही हुआकि प्रकृतियज्ञमें सबसे पहिले ब्रह्मप्रतिष्ठा प्रतिष्ठित रहती है, उसका स्थान यज्ञवेदिस्वरूप विश्वहै। यह वैध यज्ञ उसी नित्य यज्ञकी प्रतिकृति है, अतएव यहांभी सबसे पहिले ब्रह्माका वरण कर उसे यज्ञवेदिसे दक्षिणभागमें प्रतिष्ठित कियाजाताहै। बस ब्रह्मवरण क्यों किया जाता है इसकी यही उपपत्ति है।

२

---

३ अपांप्रणयनम्-

स वै प्रातरप एव। प्रथमेन कर्मणाभिपद्यतेऽपः प्रणयति यज्ञो वा ऽआपो यज्ञमेवैतत् प्रथमेन कर्मणाभिपद्यते ताः प्रणयति यज्ञमेवैतद्वितनोति ॥ १२ ॥ स प्रणयति। कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्तीत्येताभिरनिरुक्ताभिर्व्याहृतिभिरनिरुक्तो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तत्प्रजापतिमेवैतद् यज्ञं युनक्ति ॥ १३ ॥ यद्वेवापः प्रणयति। अद्भिर्वा ऽइदꣳ सर्वमाप्तन्तत्प्रथमेनैवैतत्कर्मणा

सर्वमाप्नोति ॥ १४ ॥ यद्वेवास्यात्र । होता वाध्वर्युर्वा ब्रह्मा वाग्नीध्रो वा स्वयं वा यजमानो नाभ्यापयति तदेवास्यैतेन सर्वमाप्तम्भवति ॥ १५ ॥ यद्वेवापः प्रणयति । देवान् ह वै यज्ञेन यजमानाँस्तानसुररक्षसानि ररक्षुर्न यक्ष्यध्व ऽइति तद्य-द्रक्षँस्तस्माद्रक्षाᳬसि ॥१६॥ ततो देवा ऽएतं व्वज्रन्ददृशुः । यदपो व्वज्रो वा ऽआपो व्वज्रो हि वाऽआपस्तस्माद् येनैता यन्ति निम्नङ्कुर्व्वन्ति यत्रोपतिष्ठन्ते निर्दहन्ति तत ऽएतं व्व-ज्रमुदयच्छँस्तस्याभये ऽनाष्ट्रे निवाते यज्ञमतन्वत तथो ऽएवैष ऽ एतं व्वज्रमुद्यच्छन्ति तस्याभये ऽनाष्ट्रे निवाते यज्ञन्तनुते तस्मा दपः प्रणयति ॥१७॥ ता ऽउत्सिच्योत्तरेण गार्हपत्यᳬ सादयति योषा वा ऽआपो वृषाग्निर्गृहा वै गार्हपत्यस्तद् गृहेष्वेवैतन्मिथुन-म्प्रजननं क्रियते व्वज्रं व्वा ऽएप ऽउद्यच्छति योऽपः प्रणयति यो वा ऽअप्रतिष्ठितो व्वज्रमुद्यच्छति नैनᳬ शक्नोत्युद्यन्तुᳬ सᳬ हैनᳬ शृणाति ॥ १८ ॥ स यद्गार्हपत्ये सादयति गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैतत्प्रतिष्ठायाम्प्रतितिष्ठति तथो हैनमेष व्वज्रो न हिनस्ति तस्माद्गार्हपत्ये सादयति ॥ १९ ॥ ता उत्तरेणाहवनीयम्प्रणयति । योषा वाऽआपो व्वृषाग्निर्मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियतऽएवमिव हि मिथुनं क्लृप्त-मुत्तरतो हि स्त्री पुमाᳬसमुपशेते ॥ २० ॥ ता नान्तरेण सञ्चरेयुः । नेन्मिथुनञ्चर्यमाणमन्तरेण संचरानिति ता नाति-

ह्त्य सादयेन्नो ऽअनाप्ताः सादयेत्स यदतिह्त्य सादयेदस्ति वा ऽअग्नेश्चापाञ्च व्यभ्रातृव्यमिव स यथैव ह तदग्नेर्भवति यत्रास्याप ऽउपस्पृशन्त्यग्नौ ह्यधि भ्रातृव्यं वर्द्धयेद्यदतिह्त्य सादयेद्यद्यु ऽअनाप्ताः सादयेन्नो हाभिस्तङ्कामम्भ्यापयेद्यस्मै कामाय प्रणीयन्ते तस्मादुसम्प्रत्येवोत्तरेणाहवनीयम्प्रणयति ॥ २१ ॥

स वै प्रातरप एव प्रथमेन कर्मणाभिपद्यते । अपः प्रणयति । यज्ञो वा आपः—यज्ञमेवैतत् प्रथमेन कर्मणाभिपद्यते । ताः प्रणयति—यज्ञमेवैतद् वितनोति ॥ स प्रणयति—"कस्त्वा युनक्ति, स त्वा युनक्ति, कस्मै त्वा युनक्ति, तस्मै त्वा युनक्ति" (१ अ० ६ मं०) इति—एताभिरनिरुक्ताभिर्व्याहृतिभिः । अनिरुक्तो वै प्रजापतिः, प्रजापतिर्यज्ञः—तत्प्रजापतिमेवैतद् यज्ञं युनक्ति ॥ यद्वेवापः प्रणयति । अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम् । तत्प्रथमेनैवैतत्कर्मणा सर्वमाप्नोति ॥ यद्वेवास्यात्र होता वा अध्वर्युर्वा ब्रह्मा वा अग्नीध्रो वा स्वयं वा यजमानो नाभ्यापयति—तदेवास्यैतेन सर्वमाप्तं भवति ॥ यद्वेवापः प्रणयति । देवान् ह वै यज्ञेन यजमानांस्तानसुररक्षसानि ररक्षुः—'न यक्ष्यध्वं' इति । तद् यदरक्षन, तस्माद्रक्षांसि ॥ ततो देवा एतं वज्रं ददृशुः—यदपः । वज्रो वा आपः । वज्रो हि वा आपस्तस्माद् येनैतायन्ति—निम्नं कुर्वन्ति; यत्रोपतिष्ठन्ते—निर्दहन्ति । तत एतं वज्रमुदयच्छन् । तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवाते यज्ञमतन्वत । तथो एवैष एतं वज्रमुद्यच्छति । तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवाते यज्ञं तनुते । तस्मादपः प्रणयति ॥ ता उत्सिच्योत्तरेण गार्हपत्यं सादयति । योषा वा आपः, वृषाग्निः । गृहा वै गार्हपत्यः । तद् गृहेष्वेवैतन्मिथुनं प्रजननं क्रियते । वज्रं वा एष उद्यच्छति—योऽपः प्रणयति । यो वा अप्रतिष्ठितो वज्रमुद्यच्छति—नैनं शक्नोत्युद्यन्तुम्, सं हैनं शृणाति ॥ स यद् गार्हपत्ये सादयति । गृहा वै

गार्हपत्यः, गृहा वै प्रतिष्ठा, तद् गृहेष्वेवैतत् प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति । तथो हैनमेष वज्रो न हिनस्ति । तस्माद् गार्हपत्ये सादयति ॥ ता उत्तरेणाहवनीयं प्रणयति । योषा वा आपः, वृषाग्निः-मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते । एवमिव हि मिथुनं क्लृप्तम्-उत्तरतो हि स्त्री पुमांसमुपशेते ॥ ता नान्तरेण संचरेयुः नेन्मिथुनं चर्यमाणमन्तरेण सञ्चरानिति । ता नातिहृत्य सादयेत्, नो अनाप्ताः सादयेत् । स यदतिहृत्य सादयेत्-अस्ति वा अश्वापां च विभ्रातृव्यमिव । स यथेव ह तदर्थेभवति यत्रास्याप उपस्पृशन्ति, अग्नौ हाधि भ्रातृव्यं वर्द्धयेत्-यदतिहृत्य सादयेत् । यद्यु अनाप्ताः सादयेत्-नो हाऽभिस्तं काममभ्यापयेद्-यस्मै कामाय प्रणीयन्ते । तस्मादु संप्रत्येवोत्तरेणाहवनीयं प्रणयति ॥ २ ॥

अनुवाद—(ब्रह्मवरण कर्म्मके अनन्तर) वह अध्वर्यु (इष्टिके दिन) प्रातःकाल पहिले कर्म्मसे पानीकी ओरही जाताहै, अर्थात् सबसे पहिले 'अपांप्रणयन' ही करताहै । यज्ञ आप (पानी) स्वरूपहै । (ऐसी अवस्थामें सबसे पहिले पानीकी ओर प्रवृत्त होताहुआ अध्वर्यु) प्रथम कर्म्मसे यज्ञकी ओरही प्रवृत्त होताहै । जोकि अध्वर्यु उन पानियोंका प्रणयन करताहै-वह यज्ञको ही फैलाताहै । तात्पर्य्य यह है कि सबसे पहिले अपांप्रणान करना अबरूप यज्ञको ही अपने अधिकारमें करनाहै । अपांप्रणयन क्यों करना चाहिए इसकी एक उपपत्ति बतलादीगई । अब पद्धति बतलाते हैं—वह अध्वर्यु—"कस्त्वायुनक्ति, सत्वायुनक्ति, कस्मै त्वा युनक्ति, तस्मै त्वा युनक्ति," (१ अ० ६ मं०) इन अनिरुक्त व्याहृतियों (मन्त्रों) से अपांप्रणयन करता है । प्रजापति अनिरुक्तहै, एवं प्रजापतिही यज्ञहै, (ऐसी अवस्थामें अनिरुक्त व्याहृतियोंसे अपांप्रणयन करता हुआ अध्वर्यु) प्रजापतिरूप यज्ञकोही (अपने यज्ञके साथ) युक्त करताहै । १३ । (अपांप्रणयन क्यों करना चाहिए इसकी एक उपपत्ति बतलादीगई । अब क्रमशः तीन उपपत्तिएं और बतलाते हैं) जिस

लिए कि अध्वर्यु अपांप्रणयन करताहै उसका (दूसरा) कारण बतलाते हैं। पानीसे सारा संसार ओत प्रोत होरहाहै। सम्पूर्ण विश्वमें पानी अभिव्याप्त होरहाहै। (इसप्रकार सर्वरूप पानीका प्रणयन करताहुआ अध्वर्यु) इस पद्दिलेही कर्म्मसे सब कुछ प्राप्त करलेताहै, अर्थात् पानीकी तरह सम्पूर्ण विश्व पर यजमानकी आत्मसत्ता प्रतिष्ठित होजाती है ॥ १४ ॥ अपिच जिसलिए कि अपांप्रणयन करतेहैं (उसकी तीसरी उपपत्ति और बतलाते हैं)— होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, अग्नीध्र, अथवा स्वयं यजमान, मनुष्यसुलभ अज्ञातदोषसे इस यज्ञकर्म्मके जिस भागको प्राप्त नहीं करते हैं, अर्थात् अज्ञात दोषसे यज्ञकर्त्ताओं से जो यज्ञांश छूटजाताहै वही भाग इस कर्म्म से पुनः प्राप्त होजाताहै। भूलसे रहाहुआ कर्म्म अपांप्रणयनसे गृहीत होजाताहै ॥ १५ ॥ अपिच जिसलिए अध्वर्यु अपांप्रणयन करताहै (उसका चौथा कारण बतलाते हैं)— यज्ञसे देवताओं का (प्राणदेवताओं का) यजन करते हुए देवताओं को असुर और राक्षसोंने "तुम यज्ञ नहीं करसकते ? तुम अपना यज्ञ बन्द करो" यह कहकर यज्ञ करने से रोकदिया। उन दुष्ट असुरोंने यज्ञ करनेसे देवताओं को रोकदिया अतएव तबसे उनका नाम "राक्षस" पडगया ॥ १६ ॥ (असुर राक्षसों द्वारा यज्ञ कर्म्मको रुका देखकर) देवताओंने (उनके विनाश के लिए) इस वज्रको देखा जोकि पानी है। पानी वज्रहै। (केवल शब्दप्रमाण परही पानीकी वज्रता निर्भर नहीं है अपितु पानीकी वज्रता सर्वसाधारणके लिए प्रत्यक्षहै, इस भावको लक्ष्यमें रखकर श्रुति कहती है–) पानी वास्तवमें वज्रहै- अतएव जिस मार्गसे पानी बह कर जातेहैं- उस मार्गमें (यह बहते हुए पानी) गड्ढे करदेते हैं, जहां कुछ समयके लिए ठहरजाते हैं वहांकी औषधि वनस्पति आदिको जलाडालते हैं। शत्रुकी सेनाके मर्म्म स्थानोंको फाडते हुए अपनी ज्वालासे सारी सेनाको भस्म करडालना–वज्रका यही कामहै। दोनों धर्म्म पानीमें प्रतिष्ठितहैं अतएव पानीको अवश्यही

वज्र कहाजासकताहै। बस देवताओंने (असुरोंके लिए) इसी वज्रको उठाया। (वज्र उठातेही सारे शत्रु भाग खड़ेहुए)। इसप्रकार वज्रके प्रभावसे निर्भय, निरुपद्रव शान्तवातावरणमें देवताओं ने यज्ञका वितान करलिया, अर्थात् देवताओंने सबसे पहिले अपांप्रणयन करके उसके प्रभावसे यज्ञको बिना किसी विघ्न बाधाके पूरा करलिया। (क्योंकि देवताओंने अपने यज्ञमें सबसे पहिले इस वज्रको उठायाथा अतएव "यद्वै देवा अकुर्वंस्तत करवाणि" इस मर्य्यादाकी रक्षाके लिए आज अपने वैध-यज्ञमें) यह यजमानभी उसी प्रकार अवश्य वज्र उठाताहै। इस वज्रके (प्रभावसे) सर्वथा अभय, एवं निरुपद्रव- शान्तवातावरणमें यज्ञवितान करताहै। बस इन्हीं पूर्वोक्त प्रयोजनों के लिए वह अध्वर्यु अपांप्रणयन करताहै ॥ १७ ॥

अपांप्रणयन क्यों करना चाहिए, किस मन्त्रसे करना चाहिए, इत्यादि विषयोंकी उपपत्ति बतलादीगई, अब—"किसप्रकारसे प्रणयन करना चाहिए? किस स्थानपर प्रणयन करना चाहिए? एवं उस प्रणीतापात्रको किस स्थानपर रखना चाहिए? इत्यादि प्रश्नोंका समाधान करनेके लिए "अपांसादन" कर्म्मका आरम्भ करते हैं—

वह अध्वर्यु (दाहिने हाथमें रक्खेहुए चोकोर चमस(काष्ठमय पात्रविशेष) में बांए हाथमें रक्खे हुए उदपात्रस्थ) पानीको डालकर उस चमस को गार्हपत्याग्नि कुण्डके उत्तरभागमें रखदेताहै। पानी योषाहै, अग्नि वृषा है। गार्हपत्य घरहै। (अतएव आहवनीयपर जानेसे पहिले योषा (स्त्री) रूप पानीको गार्हपत्यरूप गृहप्रतिष्ठामें प्रतिष्ठित करताहुआ अध्वर्यु) घरमेंही योषा वृषाके मिथुनसे प्रजनन क्रिया करताहै। (मिथुनसंपत्तिके लिए पहिले इस पानीको गार्हपत्यके उत्तरभागमें रखना आवश्यकहै यही तात्पर्य है)। अपिच वह वज्र उठाताहै जोकि अपांप्रणयन करताहै। जो मनुष्य प्रतिष्ठापर प्रति-

ष्ठित न होकर बिना पैर जमाएही शस्त्र उठाताहै; वह मनुष्य इस वज्रको उठाने एवं प्रहार करनेमें दोनों क्रियाओंमेंही असमर्थ रहताहै। (यही नहीं अपितु जो बिना पैर जमाए शस्त्र उठाताहै) यह शस्त्र शत्रुकी ओर न जाकर इसीपर चोट करबैठताहै ॥ १८ ॥ यहांपर अध्वर्यु जोकि इस वज्रको उठानेसे पहिले गार्हपत्यमें प्रतिष्ठित करदेताहै-(इसका कारण यहीहै कि गार्हपत्य घरहै। घरही प्रतिष्ठाहै। इसी प्रतिष्ठामें उसे प्रतिष्ठित करदेताहै। (इस प्रतिष्ठापर प्रतिष्ठित होजानेसे) यह वज्र इस प्रयोक्ताको कोई हानि नहीं पहुंचाताहै। बस (इसी प्रतिष्ठाभावके लिए-पहिले) उस पानीको गार्हपत्यके उत्तरभागमें रक्खाहै ॥१९॥ अनन्तर उन पानियोंको (जोकि चमसमें रक्खे-हुएहैं) वह अध्वर्यु—आहवनीयके उत्तरभागमें लेजाकर प्रतिष्ठित करताहै। पानी योषा (स्त्री) है, एवं आहवनीयाग्नि वृषा (पुरुष) है। (ऐसी अवस्था में आहवनीयाग्निरूप वृषाकी ओर योषारूप पानीको लेजाताहुआ) अध्वर्यु दोनोंके मिथुनभावसे (यज्ञात्माका) प्रजननही करताहै; क्योंकि मिथुन इसी नियमके अनुसार संपन्न होताहै। स्त्रीपुरुषके उत्तरभागमेंही सोती है। योषा रूप पानी स्त्री है, वृषारूप अग्नि पुरुषहै, प्राकृतिक मिथुनभाव स्त्रीके उत्तर शयनमें अवलम्बितहै अतएव यहांभी स्त्रीरूप पानीको पुरुषरूप आहवनीय के उत्तरभागमेंही प्रतिष्ठित करना आवश्यकहै- यही तात्पर्य है ॥ २० ॥

अपांप्रणयन होचुका अब एक विशेष नियम बतलाकर इस प्रकरणको समाप्त करतेहैं। (अध्वर्यु द्वारा जब पानी आहवनीयके उत्तरभागमें रखदिया जाताहै तो- इसके बाद) उन दोनोंके (आह० और पानीके) बीचमें होकर किसीको नहीं जाना चाहिए। (कारण इसका यहीहैकि इस समय इन दोनों योषावृषाओं में मिथुन होरहाहै) मिथुनभाव करतेहुए उन दोनोंके बीच में हम न चलेजांय, अर्थात् बीचमें जाकर दोनोंकी मिथुनके विच्छेदक बनते हुए हम उस यज्ञपुरुषको उत्पन्न करनेवाली प्रजनन क्रियाके बाधक न बन-

जांय, इसलिए दोनोंके बीचमेंसे किसीको नहीं निकलना चाहिए। पानीको आहवनीयके उत्तरकिस नियत स्थानमें रखनाचाहिए- इसका निर्णय करते हैं—अध्वर्युको चाहिए कि वह उन पानियोंको न आहवनीयके बिलकुल भिडाकर रक्खे, और न सर्वथा दूर रक्खे। यदि बिलकुल समीप रखदेगा तो (उस अध्वर्युको याद रखना चाहिए कि) अग्नि और पानी दोनों मे शत्रुताकासा व्यवहारहै। ऐसी अवस्थामें उस पानीको आहवनीयके सर्वथा समीप रखताहुआ अध्वर्यु—पानीके साथ जिसप्रकारसे अग्निका शत्रुत्व बढताहै (वैसाही करताहै) अर्थात् आहवनीयके बिलकुल पास पानी रखना दोनों में शत्रुताका भाव पैदा करनाहै। (नकेवल दोनोंके शत्रुत्वपरही बात समाप्त होजाती है- अपितु ऐसा करनेसे एक दोष औरभी होताहै— उसी दोषका उदघाटन करतेहुए कहते हैं) यदि अध्वर्यु पास भिडाकर रक्खेगा तो जिस यज्ञकर्ममें ऋत्विग् यजमानादि प्रणीतापात्र सम्बन्धी पानियोंका उपस्पर्श (आचमन) करतेहैं, वहांका वह उपस्पर्श उस शत्रुत्वको औरभी उत्तेजित करेगा। (इस पानीसे उपस्पर्शादिभी करने पडते हैं। इस पानीको आहवनीयके पास रखदिया जाताहै तो इसमें शत्रुभाव घुसपडताहै। ऐसी अवस्थामें ऋत्विक्लोग जब जब इस पानीसे काम लेंगे, तब तबही प्राणाग्नि द्वारा वैधाग्निका शत्रुत्व उत्तेजित होगा ऐसा न हो, हमारे यज्ञमें द्वेषभाव न घुसपडे, अतएव बिलकुल पास रखना सर्वथा अनुचितहै) यदि सर्वथा दूर रक्खेगा तो (जिस मिथुनभावके लिए प्रणयन कियाजाताहै वह कदापि न होगा। (अधिक अन्तर होनेसे दोनोंके प्राणोंका सम्बन्धही न होगा) अतएव आहवनीयके उत्तर संप्रति (न बिलकुल समीप, न बिलकुल दूर) ही प्रणयन करतेहैं ॥ २१ ॥

विवेचना—

इस विषयकी उपपत्ति बतलानेसे इसके पहिले संक्षिप्तरूपसे पद्धति पर हम अपने पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं; जिससे कि

उपपत्तिक्रमका भलीभांति समन्वय होजाय—हमने बतलायाथा कि अपांप्र-णयन कर्मके लिए अध्वर्युके लिए एक आसन गार्हपत्यसे उत्तर बिछाया जाताहै, एवं एक आसन आहवनीयसे उत्तर बिछाया जाताहै। ब्रह्मवरण कर्म्मके अनन्तर यजमान और ब्रह्मा जब अपने अपने आसन पर बैठजाते हैं तो तदनन्तर गार्हपत्यके उत्तरभागमें पहिलेसेही नियत आसन पर अध्वर्यु बैठजाताहै। वहां बैठकर चोकोर चमसको अपने बांए हाथमें लेलेताहै, और दहिने हाथमें उदपात्र (पानीका पात्र) लेलेताहै। उस दक्षिण हाथमें रक्खे हुए उदपात्रमेंसे वाम हाथमें रक्खेहुए चमसपात्रमें पानी डालताहै पानी डाल कर उसी हाथसे उस चमसपात्रको (जिसे कि यज्ञपरिभाषाके अनुसार प्रणी-तापात्र कहतेहैं) गार्हपत्यके उत्तरभागमें रखदेताहै, अनन्तर "भूतस्त्वा भूत करिष्यामि" (का० श्रौ० २।३।१) यह मन्त्र बोलता हुआ उस पात्रका स्पर्श करताहै। इसी अभिप्रायसे कात्यायन कहतेहैं—

"गार्हपत्यमुत्तरेणोदपात्रं निधायालभते भूतस्त्वा भूतकरिष्यामि"(२।४।६)

इति। इसी पानीसे अब अध्वर्यु अपांप्रणयन करनेवालाहै। काम करना प्राणव्यापारहै। विना मनकी इच्छाके प्राणव्यापार सर्वथा अनुपपन्नहै। इस वैधयज्ञमें काम करनेके कारण अध्वर्यु प्राणस्थानीयहै, ब्रह्मा मनस्थानीय है। मनकी इच्छासे (प्रेरणासे) प्राणव्यापार होताहै। अतएव प्राणरूप अ-ध्वर्यु जो भी काम करताहै पहिले मनोरूप ब्रह्मासे आज्ञा मांगताहै। ब्रह्माकी स्वीकृतिके अनन्तर अध्वर्यु कर्म्ममें प्रवृत्त होताहै। अतः चमस रक्खे बाद अपांप्रणयन कर्मके लिए आज्ञा मांगताहुआ अध्वर्यु ब्रह्माकी ओर अपना रुख करके "ब्रह्मन्नपः प्रणेष्यामि" (हे ब्रह्मन्! मैं अपांप्रणयन करूंगा उसके लिए आज्ञा दीजिए) यह बोलताहै। एवं साथहीमें यजमानकी ओर मुख करके यजमानके प्रति "यजमान वाचं यच्छ" (हे यजमान! अब तुम मौनव्रत धारण करो) यह प्रैष (आज्ञा) करताहै। इसी अभिप्रायसे

कात्यायन कहतेहैं—

"ब्रह्मन्नपः प्रणेष्यामि यजमान वाचं यच्छेत्याह" (२।४।७) इति।

उधर "ब्रह्मन्नप०" इत्यादि सुनकर अध्वर्युको अपांप्रणायनकी आज्ञा देते-हुए ब्रह्मा—

"प्रणययज्ञं देवतावर्धयत्वं, नाकस्यपृष्ठे यजमानोऽस्तु। सप्तऋषीणां सुकृतां यत्र लोकस्तत्रेमं यजमानं च धेहि। प्रणय" यह मंत्र बोलते हैं। मन्त्र गत "प्रणय" शब्दको जोरसे बोलना चाहिए जिससेकि अध्वर्यु भलीप्रकार से इस आज्ञाको सुनले। इतना कामतो गार्हपत्यके उत्तरभागमेंही होताहै इतना काम किएबाद अध्वर्यु प्रणीतापात्र लेकर आहवनीयके उत्तरभागमें जाताहै। वहां जाकर "कस्त्वा युनक्ति, सत्वा युनक्ति०" इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ न आहवनीयसे सर्वथा दूर, और न सर्वथा समीप किन्तु ठीक स्थानपर उस प्रणीतापात्रको रखदेताहै। जैसाकि कात्यायन कहतेहैं—

"अनुज्ञात उत्तरेणाहवनीयं संप्रति निदधाति करत्येति" (का० श्रौ० सू० २।४८) इति।

अपांप्रणानका अर्थ है—गार्हपत्याग्नि कुण्डके उत्तरभागमें रक्खे-हुए प्रणीतापात्रको मन्त्र बोलतेहुए आहवनीयाग्नि कुण्डके उत्तरभागमें रखदेना। आज यह यजमान यज्ञ प्रारम्भ करनेवालाहै। यज्ञसे पहिले एवं यज्ञके अन्तमें क्रमशः अपांप्रणायन, और अपांनियन करताहुआ यजमान सौर संवत्सर स्वरूप यज्ञको अपने अधिकारमें करलेताहै। कारण इसका यही है कि प्राकृतिक यज्ञके उपक्रम और उपसंहार दोनोंका पानीसेही संवन्धहै। आपोमय परमेष्ठी-मण्डलसेही यज्ञ प्रारम्भ होताहै. एवं उसी परमेष्ठि मण्डलपर यज्ञ समाप्त होताहै। सौर सम्वत्सर यज्ञके उस ओरभी पानी है.

इस ओरभी पानी है। चारों ओर पानी है। ऋतपानीके पेटमें सत्य यज्ञ प्रतिष्ठितहै - अतएव "ऋते भूमिरियं श्रृता" यह कहाजाताहै। सम्वत्सर यज्ञ मण्डलके चारों ओर व्याप्त रहनेवाला पानीभी यज्ञ स्वरूपही है। ऐसी अवस्थामें सबसे पहिले अपांप्रणयन करना यज्ञकोही अपने अधिकारमें करना है। आपोमय परमेष्ठिमण्डल यज्ञस्वरूप कैसे है? पानीके लिए "यज्ञोवा आपः" यह किस आधार पर कहाजाताहै? इसके लिए हम अपने पाठकों का ध्यान प्रथमाङ्क में प्रतिपादित पुरुष स्वरूपकी ओर आकर्षित करना चाहते हैं। अक्षर ब्रह्माका स्वरूप बतलाते हुए हमने कहाथा कि परा प्रकृति नामसे प्रसिद्ध पंचकल अक्षर पुरुष, एवं अपरा प्रकृतिनामसे प्रसिद्ध पंचकल क्षर पुरुष विशिष्ट जो पंचकल अव्यय पुरुष है उसेही "षोडशी" पुरुष कहते हैं। मायापुरमें रहनेके कारण, दूसरे शब्दोंमें मायाबलसे परिच्छिन्न होनेके कारण इसे "पुरि शेते" इस व्युत्पत्तिसे "पुरुष" कहाजाताहै। महामायावच्छिन्न इस षोडशी पुरुषका अव्ययभाग सृष्टिका आलम्बनहै, अक्षर भाग निमित्त कारणहै, क्षरभाग उपादान कारणहै। तीनोंकी समष्टिका नाम आत्माहै। क्षरात्मा, अक्षरात्मा, अव्ययात्मा, दूसरे शब्दोंमें क्षरपुरुष, अक्षरपुरुष, अव्यय पुरुष, तीनोंको मिलाकर एक आत्माका स्वरूप बनता है। एकही आत्माके अव्यय, अक्षर, क्षर, यह तीन धातुहैं। तीनों धातु तीन आत्माहैं। कहनेको तीन आत्माहै। एकही के तीन विवर्त्तहैं। इसी अभिप्रायसे श्रुति कहती है—

"तदेतत् त्रयं सदेकमयमात्मा। आत्मोऽएकः सन्नेतत्त्रयम्। तदेतदमृतं सत्येनच्छन्नम्" (शत० १४।४।४।३) इति।

आत्मत्रयकी समष्टि स्वरूप षोडशी आत्माका क्षरभाग क्योंकि विश्व का उपादानहै अतएव इस क्षरात्माके अभिप्रायसे "आत्माही विश्व बना

हुआहै" यह कहा जासकताहै। एवं अक्षरके अभिप्रायसे "आत्मानेही सारे संसारको बनायाहै" यह कहा जासकताहै। एवं अव्ययात्माके अभिप्रायसे "न वह आत्मा संसारको बनाताहै, न स्वयं विश्वरूपमें परिणत होताहै, अपितु वह केवल आलम्बन मात्रहै- साक्षी मात्रहै" यह कहा जासकताहै। एवं समष्टिके अभिप्रायसे "आत्मा (अक्षर), आत्मा पर (अव्यय पर), आत्मा से(क्षरसे)सारे संसारको बनाया करताहै"यह कहाजासकताहै। आत्मापरही विश्व बनताहै। आत्मासेही बनताहै। आत्माही बनताहै। अतएव "आत्मैवेदं सर्वम्"(सब कुछ आत्माही आत्माहै), "सर्वहीदं ब्रह्मणाहैव सृष्टम् (सबकुछ ब्रह्मने ही उत्पन्न कियाहै), "साक्षीचेता केवलोनिर्गुणश्च" "न करोति न लिप्यते" इत्यादि श्रौत स्मार्त्त वचनोंमें कोई विरोध नहीं होताहै। अव्यय, अक्षर, क्षरभेदसे तीनों मत सच्चे हैं। किसी एक वचनको प्रधान मानना, एवं अन्योंको गौण मानना सर्वथा अवैज्ञानिकहै। विज्ञानके न जाननेसे ही श्रुतियोंमें परस्पर गौण मुख्य भावका समावेश होताहै। वस्तुतः सारे श्रुतिवचन अपने अपने व्यवस्थित विषयोंमें सर्वथा प्रधानहै। अक्षर और क्षरका पुरुषपना "तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम्" इस न्यायपर निर्भरहै। वस्तुतः अक्षर और क्षर दोनों अव्ययपुरुषकी अन्तरङ्ग प्रकृतिहै। स्वभावहै। कहना इससे यही है कि प्रकृति विशिष्ट पुरुषके क्षरभागसे ही सारा संसार उत्पन्न होताहै, अतएव "ब्रह्माक्षर समुद्भवम्" के अनुसार अक्षरकी विकृति होनेपरभी क्षरको विश्वकी उपादान कारणताकी अपेक्षासे प्रकृति कहदिया जाताहै। विश्वकी प्रकृतिभूत इस क्षरभागकी प्राण, आप, वाक्, अन्न, अन्नाद, यह पांच कलाएं हैं। इन पांचोंमें से अन्न अन्नाद एक वस्तुहै जैसाकि पूर्वके प्रकरणोंमें बतलादिया गयाहै। यही चारों कलाएं अक्षर ब्रह्माके चार मुखहैं। अक्षर ब्रह्मा क्षररूप इन्हीं चारों मुखोंसे संसारका निर्म्माण किया करतेहैं। क्योंकि सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माके चार मुखहैं। प्राणमुखसे वेदसृष्टि होती है। आपोमुखसे

लोकसृष्टि होती है। वाङ्मुखसे देवसृष्टि होती है। एवं अन्नान्नादमुखसे भूतसृष्टि होतीहै। महाभारतके मतानुसार वाङ्मुखसे प्रजासृष्टि होतीहै। देवता, भूत, भौतिक(अस्मदादि)भेदसे प्रजा तीनप्रकारकी है। तीनोंका वाङ्मुखमें अन्तर्भाव है। गोत्रसृष्टिका भी इसी प्रजासृष्टिमें अन्तर्भावहै। एवं अन्नान्नादसे धर्म्म-सृष्टि बनतीहै। इसप्रकार प्राण, आप, वाक्, अन्नान्नाद, इन चारोंसे क्रमसः वेद, लोक, प्रजा (देवता-भूत-भौतिक), धर्म्म यह चार प्रकारकी सृष्टिएं होती हैं। इन चारोंमें प्राणसे सम्बन्ध रखनेवाली वेदसृष्टि स्वयम्भूकी सृष्टि है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्द रहित अनामरूप नीरूप तत्त्वविशेषका नामही प्राणहै। यह प्राण अनन्त प्रकारकेहैं। इन प्राणोंकोही "ऋषि" कहाजाताहै। जिस वस्तुमें प्राण रहताहै वह वस्तु सत् (विद्यमान) कहलाती है। जब उस वस्तुमेंसे प्राण (रस) निकलजाताहै तो उस वस्तुका सद्भाव नष्ट होजाताहै। "सामान्ये सामान्याभावः" इस नियमके अनुसार प्राणमें प्राण, नहीं रहता अतएव इस प्राणको "असत्" कहाजाताहै। प्राण स्वयं असत् है। अप्रत्यक्षहै। प्रातिस्विक रूपसे कभीभी प्राणका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। भूतद्वारा प्राणका अनुमान लगाया जासकताहै। मैथुनी और याज्ञिकी सृष्टिके पहिले इसी असत् प्राणकी सत्ता रहतीहै। जैसाकि वाजिश्रुति कहती है—

"असद्वाऽइदमग्रऽआसीत्। तदाहुः किंतदसदासीदिति? ऋषयो वाव तदग्रे असददासीत्। तदाहुः-केते ऋषय इति? प्राणावा ऋषयः"

(मैथुनी और याज्ञिकी नामसे प्रसिद्ध प्रत्यक्ष दृष्ट इस सृष्टिके पहिले असत्ही था। वह असत् क्याथा? इस प्रश्नका उत्तर "ऋषिही असत्थे" यहहै। वे ऋषि क्या वस्तुहै? इसका उत्तर-"प्राणका ही नाम ऋषिथा" यहहै;- शत० ६।१।१।१ इति)। प्राण असंगहै। सृष्टि ससंगभावपर निर्भरहै। संसृष्टिको

दूसरे शब्दोंमें ग्रन्थिबन्धन युक्त संसर्गको सृष्टि कहतेहैं। प्राणों में ग्रन्थिबन्धन नहीं है, अपितु सहचर सम्बन्धहै। अतएव प्राणसृष्टिको नाममात्रके लिए सृष्टि होने परभी सृष्टिके बाहरकी वस्तु माना जाताहै। वेद प्राणसृष्टिहै। इसमें बन्धन नहीं है अतएव इस स्वयम्भूके "ब्रह्मनिश्वसित वेद" को अपौरुषेय नित्य एवं विश्वातीत कहा जाताहै। अतएव च इस प्राणसृष्टि (वेद) को ईश्वरकी मानसी सृष्टि कहा जाताहै। स्वयम्भू मण्डलस्थ इस प्राणका नामही यतहै। स्वयम्भूमें ही ऋग्, यजुः, साम, इस वेदत्रयीकी सत्ताहै। इस वेदत्रयीके यजुभागका जो यतभागहै उसीका नाम प्राणहै, एवं जूभाग का नाम वाक्है। इसी वाक्प्राणको आकाशवायुभी कहाजाताहै। दोनों अविनाभूतहैं। प्रतिसंचर क्रममें यह ब्रह्मरूप (वेदरूप) आकाश वायु ज्योंके त्यों बचजातेहैं। इनका नाश नहीं होनेपाता, इन्हींका नाम यजुहै, अतएव इस प्रतिसंचरक्रममें शेष बचेहुए यजुके लिए "शेषे यजुः शब्दः" यह कहा जाताहै। आकाशवायु अर्थात् प्राणवाक् विना मनके सर्वथा अनुपपन्नहै। मनकी इच्छासे आकाशालम्बनपर ब्रह्माग्निरूप वायुमें क्षोभ उत्पन्न होताहै। क्षोभसे उस वायुमें घर्षण होताहै। घर्षण होतेही उस प्राणाग्निसे पानी उत्पन्न होजाताहै, अर्थात् वही प्राणाग्नि पानीके रूपमें परिणत होजाताहै। अग्निके घर्षणसे उसी क्षणमें पानी उत्पन्न होजाताहै इसका प्रत्यक्षप्रमाण यही हैकि दुःखवेगसे शरीरमें जब अधिक सन्ताप होताहै तो उसी समय आंखोंसे आंसू निकलपडतेहैं। प्रेमाश्रुका भी कारण अग्निका घर्षणही है। प्रेमसे शरीराग्निकी वृद्धि होतीहै। जितनी मात्रामें अग्नि चाहिए उससे अधिक मात्रा होजानेसे संघर्ष होपडताहै। उसी समय बढा हुआ अग्नि पानी के रूपमें परिणत हो चक्षुद्वारसे बाहर निकलपडताहै। अपिच जब गर्मी पराकाष्ठापर पहुंचजाती है तो मेह बरसने लगताहै। जबतक ऊष्मा (जिसे, कि आजकल व्यवहारभाषामें "ऊमस" कहाकरते है) नहीं होती तबतक पानी नहीं

प्राकृतिक यज्ञको अपने अधिकारमें करना चाहताहै। भौतिक पदार्थोंमें पानी यज्ञ स्वरूपहै, क्योंकि पारमेष्ठ्य अम्भःनामके वायुरूप पानीके (जोकि अम्भः आक्सिजन कहलाताहै) और पवमानके (हाईड्रोजनके) मेलसेही यह स्थूल पानी उत्पन्न होताहै। ऐसी अवस्थामें वैधयज्ञमें सबसे पहिले पानीको अपने अधिकारमें करलेना "यज्ञको" ही अपने अधिकारमें करनाहै। बस इसी लिए यह यजमान अपने इस वैधयज्ञमें सबसे पहिले अपांप्रणयन करता है। "अपांप्रणयन क्यों कियाजाताहै" ? इसकी यही पहिली उपपत्तिहै। इसी उपपत्तिको लक्ष्यमें रखकर-- "यज्ञो वा आपः। यज्ञमेवैतत् प्रथमेनकर्म्मणाभिपद्यते" यह कहागयाहै।

अपिच पानीका जो प्रणयन करनाहै वह यज्ञको फैलानाहै। ब्राह्मणके प्रारम्भमें बतलायागयाथाकि इस यज्ञमें गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, यह तीन अग्निहैं; अतएव इसे वितानयज्ञ कहाजाताहै। इस वैध-वितानयज्ञ द्वारा प्रादेश परिमित यज्ञात्माको पृथिवीपृष्ठसे स्वर्गलोक तक (१७वें स्तोम तक) फैलाया जाताहै। वैधयज्ञका फलहै—यज्ञात्माका १७वें अहर्गणतक वितत होना। परिमितआत्माका अपरिमितभावमें परिणतहो स्वर्गसुख प्राप्त करना। तात्पर्य्य यही हैकि यज्ञके वितान पर आत्माका वितान अवलम्बित है। एवं आत्मवितानपर स्वर्गसुख प्रतिष्ठितहै। पानी ऋतहै। वितत होना ऋतपानीकाही धर्म्महै। सत्यभावका वितान नहीं हुआकरता। ऐसी अवस्था में सबसे पहिले पानीका प्रणयन करना यज्ञको फैलानाहै। इसके द्वारा वितानयज्ञके वितान-भावको प्राप्त करनाहै। इसप्रकार वितान-यज्ञको अपने अधिकारमें करनेके लिएभी अपांप्रणयन कियाजाताहै। यही अपांप्रणयनकी दूसरी उपपत्तिहै ॥ १२ ॥

"कस्त्वा युनक्ति, सत्वा युनक्ति, कस्मै त्वा युनक्ति, तस्मै त्वा युनक्ति" इस मन्त्रसे "अपांप्रणयन" कियाजाताहै। इस मन्त्रका नाम 'अनिरुक्त

व्याहृति' है। कौन तुझारा योग करताहै ? वही तुझारा योग करताहै। किसके लिए तुझारा योग करताहै ? उसके लिए तुझारा योग करकताहै" मन्त्रका यही अर्थ है। कौन, वह, किसके लिए, उसके लिए, यह व्यवहार सर्वथा अनिरुक्तहै। चारोंही शब्द परोक्षभावका प्रतिपादन कररहे हैं। जैसे खुफियाविभागका मनुष्य (गुप्तचर) अपने एक दूसरे साथीको साधारण जनतासे छुपानेके लिए परोक्षभावसे सांकेतिक-भाषाको अपनाकर किसी विषयको समझाताहै, ठीक वही भाव "कस्त्वा युनक्ति" इस मन्त्रमें है। मन्त्रमें किसी देवताके नामका प्रत्यक्षरूपसे उल्लेख नहीं है; अतएव इसे प्रजापतिका प्रतिपादक मानाजाताहै। जिसप्रकार आधिभौतिक जगत्में राजतन्त्र है, उसीप्रकार प्रकृतिमेंभी राजतन्त्रहै। प्राकृतिकशासनसत्ता राजतन्त्रके ऊपर प्रतिष्ठितहै। सारे प्रकृतिमण्डलका एक अधिपति है। उसीको "ईश्वर" कहते हैं। सारी प्रजापर वह शासन करताहै। सबका निग्रह, अनुग्रह करना उसीके हाथमें है; अतएव उस विश्वेश्वरको "प्रजापति" कहाजाताहै। ब्रह्माण्डके चर अचर सबका प्रभव, प्रतिष्ठा, परायण वही है। उसीसे सारा विश्व उत्पन्न होताहै, उत्पन्न होकर उसीपर प्रतिष्ठित रहताहै, अन्तमें उसीमें विलीन होजाताहै। उस प्रजापतिका राष्ट्र यह सारा ब्रह्माण्डहै। राष्ट्रके भीतर रहनेवाली प्रजाके नाम, रूप, कर्म्म, तीनोंही नियतहै। जिसप्रकार जिस सम्पत्तिका कोईभी स्वामी (वारिस) नहीं रहताहै, वह सम्पत्ति राजाकी समझी जाती है; उसीप्रकार जिन शब्दोंसे किसी व्यक्तिका ग्रहण नहीं होताहै; उन शब्दोंसे प्रजापतिकाही ग्रहण होताहै। कः, सः, कस्मै, तस्मै, इत्यादि शब्द ऐसेही हैं। इनसे किसी व्यक्तिका बोध नहीं होताहै। अतः— "जो किसीका नहीं वह राजाका" इस न्यायके अनुसार ऐसे अनिरुक्तशब्द प्रजापतिके नाम मानलिए जाते हैं। अतः वेदमें जहां जहां क, स, आदि शब्द आवें; वहां वहीं (कोई विशेष विधान न होतो) प्रजापतिही अभिप्रेत समझना

चाहिए। अतएव "कस्मै देवाय हविषा विधेम" इसका "प्रजापतिके लिए हवि-स्थापन करते हैं" यह अर्थ कियाजाताहै। प्रजापतिको छोडकर जितनेभी नामहैं उनके लिए "नाम" शब्दकाही प्रयोग होताहै; परन्तु प्रजापतिके नाम के लिए "व्याहृति" शब्दका प्रयोग होताहै। मतलब दोनोंका एकही है। "भोजन कीजिए; कांसा आरोगिए" दोनोंका तात्पर्य्य एकही है। गलाधः करणानुकूल व्यापार दोनोंमें समानहै; तथापि "भोजन कीजिए" यह शब्द साधारण मनुष्योंके लिए प्रयुक्त होताहै; एवं "कांसा आरोगिए" यह शब्द प्रतिष्ठित धनिकोंके लिए प्रयुक्त होताहै। वैसेही प्रजापतिके नामके लिए "व्याहृति" शब्द नियतहै। "मघवा इन्द्रका नामहै" इस वाक्यमें नामके लिए नामही प्रयुक्तहै; किन्तु "क प्रजापतिका नामहै" यह कहना होगा तो 'क प्रजापतिकी व्याहृतिहै" यह कहाजायगा। अव्यय, षोडशी, सच्चिदानन्द, विश्वेश्वर, आदिभी प्रजापतिके नामहै। एवं—कः, सः, कस्मै, तस्मै, इत्यादि नामभी प्रजापातिके नामहैं। दोनोंमें पूर्वके नाम निरुक्तहैं; उत्तरके नाम अनिरुक्तहैं। इसप्रकार निरुक्त अनिरुक्त भेदसे प्रजापति सम्बन्धिनी व्याहृति (नाम) भी अनिरुक्त, निरुक्त दोप्रकारकी होजाती हैं। "कस्त्वा युनक्ति" इत्यादि मन्त्र अनिरुक्त प्रजापतिका वाचकहै अतएव इस समूचे मन्त्रको "अनिरुक्त व्याहृति" कहनेके लिए तय्यारहैं। इस अनिरुक्त व्याहृतिसेही "अपांप्रणयन" कियाजाताहै। अनिरुक्त व्याहृतिसे प्रणयन करनेसे बड़ा भारी मतलब सिद्ध होताहै, जिसका प्रतिपादन करदेना असंगत न होगा-

प्रजापतिके अनन्तरूपहैं। उन अनन्त रूपोंका अनिरुक्त, उद्गीथ, सर्व इन तीन स्वरूपोंमें अन्तर्भाव होजाताहै। इन तीनोंमें जो अनिरुक्त प्रजापति है वही असली वस्तुहै। अनिरुक्त प्रजापतिही उद्गीथ प्रजापतिहै, अनिरुक्त प्रजापतिही सर्व प्रजापति है। प्रत्येक वस्तुका कोईन कोई केन्द्र अवश्य होता है। उस केन्द्रमें रहनेवाला जो अक्षर-तत्वहै; जिसकाकि स्वरूप "अक्षबर

सोपपत्ति" प्रकरणमें विस्तारके साथ बतलाचुकेहैं; उसीका नाम अनि-रुक्त प्रजापति है। हृदयही उसका स्वरूप है। जिसका वाणीसे निर्वचन नहीं होसकता; उसे अनिरुक्त कहाजाताहै। हृदय प्रजापतिका कथमपि वाणीसे स्वरूप नहीं बतलाया जासकता। इस हृदयबिन्दुको समझानेके लिए कागज पर जो बिन्दु बनाईजाती है; वहभी सर्वथा मिथ्याही है। समझानेके लिए उपासनाकी तरह भावमयी प्रतिमामात्रहै; क्योंकि इस बिन्दुमेंभी केन्द्रहै। क्योंकि केन्द्रबिन्दुका अभिनय कथमपि नहीं होसकता; अतएव हम अवश्य ही हृदयरूप प्रजापतिको अनिरुक्त प्रजापति कहनेके लिए तय्यारहैं। इस केन्द्रस्थ प्रजापतिसेही अग्निसोमके द्वारा वस्तुपिण्ड और उस पिण्डकी महिमा दोनोंका निर्म्माण होताहै। जिसे आप वस्तुपिण्ड कहतेहैं, वह स्पृ-श्यपिण्डहै। आप इसका प्रत्यक्ष नहीं करसकते। प्रत्यक्ष महिमामण्डलकाही होताहै। पिण्ड जितनेभी हैं सबकेसब सोमगर्भित अग्निमयहैं। अग्नि—मर्त्य, अमृतभेदसे दोप्रकारका होताहै। मर्त्याग्निको वैदिक परिभाषानुसार "चित्याग्नि" कहाजाताहै; एवं अमृताग्निको "चितेनिधेयाग्नि" कहाजाताहै। चित्यसे पिण्ड बनताहै; चितिनिधेयसे महिमा बनतीहै। एक वस्तु सामने रखली-जिए, एवं उसपर दृष्टिडालिए। उस वस्तुको अपने नियत स्थानपर रहने दीजिए; एवं उसपर दृष्टि रखतेहुए—आप उससे पीछे हटतेजाइए। जितने आप पीछे हटतेजायंगे, उत्तरोत्तर वह वस्तु क्रमश: छोटेरूपमें दिखलाई देनेलगेगी। अन्ततोगत्वा एक ऐसा स्थान आवेगा जहांपर पहुंचने बाद वह वस्तु बिन्दुमात्रही दिखाई देगी। यदि उस स्थानसे आप औरभी पीछे हट जायंगे तो उस वस्तुका दीखनाही बन्द होजायगा। बस जिस स्थानपर खडे रहनेसे वस्तुपिण्ड आपको बिन्दुमात्र दिखलाई देरहाहै आप उस स्थान पर खडे होजाइए। वहां खड़े होकर उस वस्तुपिण्डको केन्द्र बनातेहुए अपने स्थिति स्थानसे एक गोलमण्डल बनाइए। इसी मण्डलका नाम

"महिमामण्डल" होगा। यहांतक वह वस्तु अभिव्याप्त रहती है। वस्तु अभिव्याप्त नहीं रहती, वस्तुकी महिमा अभिव्याप्त रहती है। इसीको हम देखरहे हैं। यह महिमामण्डल पिण्डके बाहर रहताहै; अतएव इसे बहिर्मण्डल कहाजाताहै। इस बहिर्मण्डलमें वही प्राणरूप चितेनिधेयाग्नि भरा हुआहै। जिसप्रकार हिसाब समझनेके लिए वृत्त (सर्किल) मात्रके ३६० अंश मानरक्खे हैं—तथैव वैज्ञानिकभावोंको समझानेके लिए इस महिमामण्डल के ३३ विभाग मान रक्खेहैं। यह विभागव्यवस्था कोरी कल्पनाही है—यह बात नहीं है, इस कल्पनामेंभी बडाभारी रहस्यहै। १,००० गौंके आधार पर—३०, ३०, गौका एक एक विभाग मानकर ३३ विभाग किए जाते हैं। महिमामण्डलमें-एक हजार गौ रहती हैं। ३०, ३०, का एक एक विभाग होताहै। इसप्रकार ९०-९० गौ में ३३ विभाग होजाते हैं। १० गौ शेष बच जाती है, यही ३४ वां प्रजापति कहलाताहै। उन ३३ विभागोंको "अहर्गण" शब्दसे व्यवहृत कियाजाताहै। इस विषयका विषदविज्ञान हम आगे आने वाले "वषट्कार" निरूपणमें बतलानेकी चेष्टा करेंगे। यहांपर केवल यही समझलेना पर्याप्त होगाकि वस्तुके बाहर वस्तुका मण्डल रहताहै। एवं उस वस्तुमण्डलमें चितेनिधेय प्राण भरा रहताहै। इसके ३३ विभागहैं। ३३ के बाहर १० गौ बचजाती हैं-वही ३४ वां निरुक्त प्रजापति है। इस ३४ वें प्रजापतिके पेटमें सारा प्रपञ्चहै; अतएव इसे "सर्वप्रजापति" कहाजाता है। एक प्रजापति केन्द्रमें है, एक परिधिमें है। एक इस छोरमें है, एक उस छोरमें है। कहनेको दो हैं। जो इस छोरमें है-वही उस छोरमें है। वस्तुके बाहर जो ३३ अहर्गणका एक मण्डलहै उसका एक स्वतन्त्र केन्द्र और बनताहै। वह केन्द्रबिन्दु १७ वें अहर्गणपर पडती है। बस यही तीसरा प्रजापति है; बहिर्मण्डलको दोनों ओरसे समानरूपसे प्रतिष्ठित रखना इसी प्रजापतिका कामहै। १७ वें स्थानपर रहनेकेकारणही इसे "सप्तदशप्रजापति"

कहाजाताहै। इसीको उद्गीथ प्रजापति कहते हैं। इसप्रकार वस्तुपिण्ड और महिमामण्डल दोनोंमें अनिरुक्त, उद्गीथ (सप्तदश) एवं सर्व (चतुस्त्रिंश) तीन प्रजापतियोंकी सत्ता सिद्ध होजाती है। संसारके यच्च यावत् पदार्थोंमें (चाहे जड़हो, या चेतनहो, अणुहोयामहानहो) तीनों प्रजापतियोंकी सत्ताहै। यज्ञका नामही संसारहै। संसार अग्निषोमात्मकहै। अग्नी सोमके समन्वय काही नाम यज्ञ है; अतएव अवश्यही संसारको यज्ञस्वरूप कहाजासकताहै। उसी अनिरुक्त ईश्वर प्रजापतिसे अग्नीषोम द्वारा सारा विश्व बनाहै। विश्व यज्ञ बनाकर विश्वरूपमें परिणतहो वही अनिरुक्त प्रजापति आज निरुक्त बनगयाहै। निराकारही साकार होगयाहै। अभीतक जो, क, स, आदि अनिरुक्त नामोंसे पुकारा जाताथा; वही विश्वयज्ञ युक्तहो आज विश्वेश्वर जगदाधार, जगन्नियन्ता, आदि निरुक्त व्याहृतियोंसे व्यवहृत होने लगगया है। आप विश्वमें जो कुछ देखते हैं-वह सब प्रजापतिही है। सर्व प्रजापति काही आप प्रत्यक्ष कररहे हैं। इसी विज्ञानके आधारपर "सर्वमुह्येवेदं प्रजापतिः" (सबकुछ प्रजापतिही है) यह कहाजाताहै। प्रजापतिही कर्त्ताहै, वही कारणहै। कर्त्ताके अभिप्रायसे उसीके लिए "प्रजापतिस्त्वेवेद सर्वमसृजत यदिदं किंच" (जोकुछ "है" कहकर व्यवहृत करने लायकहै; उस सारे प्रपञ्चको प्रजापतिनेही उत्पन्न कियाहै) यह कहाजाताहै। यज्ञका मूलभूत प्रजापति अनिरुक्त प्रजापतिही है। यदि प्रजापति है तो यज्ञहै, अन्यथा यज्ञाभावहै।

इसी लिएतो अपांप्रणयनसेभी पहिले इस वैधयज्ञमें वेदिके दक्षिणभाग में ब्रह्माको प्रतिष्ठित कियाजाताहै। अपांप्रणयन कर्म्म करताहुआ अध्वर्यु यज्ञ प्रारम्भ करनेवालाहै। यज्ञके अधिष्ठाता अनिरुक्त प्रजापति, और सर्व प्रजापतिहैं। मूलमें अनिरुक्तहै, तूलमें सर्व है। अभी यज्ञका मूलभूत अपांप्रणयन कर्म्मही प्रारम्भ हुआहै। जब यज्ञ पूरा होजायगा तब सर्वप्रजापति

का उदय होगा, अभीतो यज्ञके मूलभूत अनिरुक्त प्रजापतिकीही सत्ता है, अतएव अनिरुक्त व्याहृतियोंसेही अपांप्रणयन करना उचितहै। प्रजापति यज्ञका उपादानहै, मृद्घटवत् कारण कार्य्यसे अभिन्नहै, अतएव प्रजापतिकोभी यज्ञ कहाजासकताहै। ऐसी अवस्थामें अनिरुक्त व्याहृतियोंसे अपांप्रणयन करना प्रजापतिरूप यज्ञकोही प्रारम्भ करनाहै। यदि उपांशुरूपसे(चुपचाप)हो अपांप्रणयन करलिया जायगातो "ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा" इस श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध प्रतिष्ठारूप प्रजापतिके अभावसे यज्ञ कथमपि प्रतिष्ठित नहीं होगा। अतः यज्ञकी प्रतिष्ठाके लिए अनिरुक्त प्रजापतिको आधार बनाना आवश्यकहै। एतदर्थ—अनिरुक्त व्याहृतियोंसेही अपांप्रणयन करना उचितहै। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर "अनिरुक्तो वै प्रजापतिः। प्रजापतिर्यज्ञः। तत् प्रजापतिमेवैतद्यज्ञं युनक्ति" यह कहागयाहै। अपांप्रणयन क्यों करना चाहिए इसकी यही तीसरी उपपत्तिहै॥ १३॥

अपिच—पानीसे सारा विश्व अभिव्याप्तहै। सारे विश्वमें पानीही पानी भराहुआहै। विश्वमें पानी भराहुआहै, यही नहीं अपितु स्वयं विश्व भी आपोमयहै। सातों लोक आपोमयहै, जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। जिस साधारण यथाजात मनुष्य पानी कहते हैं—प्रकृतमें पानी शब्द से वह स्थूल पानी अभिप्रेत नहीं है, अपितु यहां पानीसे ऋत तत्वही अभिप्रेतहै। यह ऋततत्व आपोमय परमेष्ठीका मनोताहै। असली पानीतो यही ऋततत्वहै। भृगु और अङ्गिरा यही उसका स्वरूपहै। दोनोंमेंसे भृगुकी जो घन, तरल, विरल, यह तीन अवस्थाएं हैं उन्हींको क्रमशः आप, वायु, सोम, इन नामोंसे पुकारा जाताहै। तीनोंमें जो आपहै वहभी वायुरूपहै; परन्तु स्थूल-पानीका आरम्भक होनेसे इसे "आप" कहदिया जाताहै सूर्य्यसे ऊपर अपना प्रभव रखनेवाले इसी आपको "अम्भः" क[illegible]

पुराणोंमें सूर्य्याण्ड (सोलर सिस्टम) को एक ब्रह्माण्ड मानाजाताहै। यह अम्भः पानी इस ब्रह्माण्डका भेदन करके हमारे पृथिवीलोकमें आताहै। गंगाजलमें यही अम्भः पानी है। है यद्यपि सर्वत्र, सभी पानियोंमें, परन्तु गङ्गाजलमें सबसे अधिक मात्रामें है अतएव गङ्गाजलके लिए "ब्रह्माण्ड फोडकर पृथिवीलोकमें भागीरथी आई है" यह कहाजाताहै। आपोमय परमेष्ठी विष्णुस्थान कहलाताहै। वहींसे इस गंगाजलका आगमन होताहै, अतएव इसका प्रादुर्भाव स्थान विष्णुचरण बतलाया जाताहै। अस्तु कहना यही हैकि इस अम्भ पानीके, और परमेष्ठीमें रहनेवाले पवमान वायुके मेलसे (रासायनिक संयोगसे) स्थूल पानी उत्पन्न होताहै। सम्भवतः यही दोनों हाइड्रोजन, और ऑक्सिजन होंगे। क्योंकि पाश्चात्य विज्ञानके मतानुसार हाईड्रोजन, आक्सिजन इन्हीं दोनोंके मेलसे स्थूल पानी (पीनेका पानी) उत्पन्न होताहै। इस अम्भः पानीके समुद्रको "ऋतसमुद्र" कहते हैं। इसीका नाम परमेष्ठी है। रसमय होनेसे इसी आपोमय परमेष्ठीको "सरस्वान्" कहाजाताहै। सरस्वान् सम्बन्धसेही परमेष्ठी मण्डलकी वाक् "सरस्वती" कहलाती है। वायु, सोम आदि इतर ऋतपदार्थ भी इसी परमेष्ठीरूप ऋतसमुद्र में रहते हैं। नकेवल ऋतही अपितु सत्यभी (पिण्डभी) इसी ऋतके पेटमें रहताहै। सत्यका स्वरूप पूर्वके प्रकरणमें बतलाया जाचुकाहै। सकेन्द्र सशरीरी वस्तुका नामही "सत्य" है। फलतः पिण्डका सत्य होना सिद्ध होजाताहै। इस सत्यपिण्डका स्वरूप ऋत परमेष्ठीसेही बनताहै। सत्य सदा ऋतसे घिरा रहताहै। सत्यके चारों ओर जबतक ऋतहै, तभीतक सत्य सत्यहै। औरतो और स्वयं स्वयम्भू सत्यभी ऋतसे घिराहुआहै। अतएव इस ऋततत्वको सृष्टिका मूलकारण मानाजाताहै। सबके बाहर ऋतहै। ऋतको लांघनेकी शक्ति किसीमें भी नहीं है। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर वेदभगवान् कहते हैं—

ऋतमेव परमेष्ठी ऋतं नात्येति किञ्चन ।

ऋते समुद्र आहित ऋते भूमि (सत्यपिण्डम्) रियं श्रुता ॥ इति ।

इसीलिए "ऋतंच सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत०" इत्यादि सृष्टि प्रतिपादिका श्रुतिएं ऋततत्त्वको पहिला स्थान देती है। सत्यका स्वरूप ऋत पर निर्भरहै, एवं सत्य सदा ऋतसे घिरारहताहै, यह केवल कहनाहीं कहना नहीं है, यह विज्ञान केवल शब्दप्रमाणपरही प्रतिष्ठित नहीं है, किन्तु इस विज्ञानकी विज्ञानता प्रत्यक्षप्रमाणपर अवलम्बितहै। पिण्डके बाहर चारों ओर खाली स्थान रहताहै। इसमें प्राणरूप भृगु (आप, वायु, सोम) व्याप्त रहताहै। वायुभी भृगुहै, पानीभी भृगुहै, सोमभी भृगुहै। आप् और सोमको छोडिए, बाकी बचताहै वायु। खाली स्थानमें यह ऋतवायु भरारहताहै-यहतो सामान्य मनुष्यभी जानते हैं। ऐसा कोईभी सत्यपिण्ड नहीं है जो इस ऋतवायुसे वेष्टित न हो। अतएव "ऋतं नात्येति किंचन" इन जोरदार शब्दोंमें ऋतकी व्यापकता बतलाई जारही है। यदि खाली स्थान न हो तो वस्तुका स्वरूपही न बनें। आंख मीचलीजिए, और एक वस्तुपर हाथ रखिए। हाथको वस्तुपर फेरिए। जहां वस्तुकी अन्तिम सीमा होगी-वहां जाकर हाथ रुकजायगा। इसीप्रकार चारों ओरकी सीमापर हाथ रुकजायगा। इसी स्पर्शानुमानसे आपको, या अन्धेको वस्तुके स्वरूपका ज्ञान होजाताहै। मानलीजिए वस्तुके चारों ओर खाली स्थान नहीं है, अन्धा हाथ फेरता जारहाहै किन्तु वस्तुका अन्तही नहीं आताहै; ऐसी अवस्थामें त्रिकालमें भी वस्तुके स्वरूपका उसे ज्ञान न होगा। अयं घटः, अयं पटः, अयं मठः, आदि वस्तुज्ञान खालीरिक्त स्थानपरही निर्भर है। इसीका नाम ऋतहै। इसमें रहने वाला वायुभी ऋतहै। इसीसे सत्यपिण्ड घिरा रहताहै। अपिच प्रत्येक पिण्ड के बाहर उसी पिण्डसे सम्बन्ध रखनेवाला एक वायुस्तर रहताहै। उसी वायुस्तरके दबावसे उस वस्तुपिण्डकी सत्ताहै। पृथिवीपिण्डके चारों ओरभी

यह वायुहै। इसीको भूवायु कहाजाताहै । एवं पुराणपरिभाषानुसार इसी वायुको "एमूषवराह" कहाजाताहै। पृथिवीपिण्ड अग्निका गोलाहै । अग्नि विशकलनधर्म्मा है, अतएव यह प्रतिक्षण पृथिवीपिण्डके टुकडे करनेकी चेष्टा कररहाहै। परन्तु उस वराहके दबावसे अग्निका बल कम होजाता है, अतएव पिण्डका कुछ नहीं बिगडता । पृथिवीपिण्डकी रक्षा करना इसी वायुस्तरका कामहै, अतएव इस एमूषवराहको पृथिवीका उद्धार करनेवाला बतलाया जाताहै। उदाहरणमात्रहै। पिण्डमात्रके बाहर उस उस पिण्डका एक एक प्रातिस्विक वायुस्तर अवश्यही रहताहै। यह वायु भार्गवहै। अतएव इसे 'शिव' कहाजाताहै। रुद्रवायु इस शिववायुका विच्छेदकहै । यदि रुद्र-वायु प्रबलरूपसे इस ऋत शिववायुपर आक्रमण करताहै तो यह शिववायुस्तर छिन्नभिन्न होजाताहै। ऋतवायुके आधारपर रहनेवाला सत्य उस ऋतके नष्ट होजानेसे उसीक्षण नष्ट होजाताहै। इस प्रकार पूर्वके कथनसे ऋततत्वकी व्यापकता भलीभांति सिद्ध होजातीहै।

अपिच—हमने ब्रह्म प्रजापतिके प्राण, आप, वाक्, अन्नान्नाद, यह चार मुख बतलाएहैं। इन चारों मुखोंमें से जो दूसरा आपोमुखहै- उसीसे लोकसृष्टि होती है, जैसाकि पूर्वमें बतलागयाहै। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्, यह सातों लोक आपोमुखसे उत्पन्न होनेके कारण आपोमय हैं। नकेवल लोकसृष्टिही- अपितु लोकमें रहनेवाली प्राणिसृष्टिकाभी प्रभव यही ऋतपानी है। पानीसे अन्न उत्पन्न होताहै। अन्न जब खायाजाताहै तो उससे रसासृङ्मांसादिके क्रमसे 'शुक्र' बनताहै । इसी शुक्राहुतिसे सारे प्राणी उत्पन्न होतेहैं। शुक्र पानी है। यही उपादानहै । छांदोग्य, एवं बृह-दारण्यकोपनिषत्में भी यह सिद्धान्त करदियागयाहै कि पानीसे ही पुरुष (प्राणिमात्र) की उत्पत्ति होती है । "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुष वचसो भवन्ति" (प्रवाहण महर्षि- अरुण महर्षिके पुत्र श्वेतकेतुसे पूछते हैं कि

हे श्वेतकेतो ! यदि तुम जानतेहो तो बतलाओ पांचवीं आहुतिमें पानी पुरुष कैसे कहलाने लगताहै, अर्थात् पानी पुरुष कैसे बनजाताहै) इस प्रश्नके समाधानमें- "द्यु, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष, योषा, इन पांचों अग्नियों में क्रमशः श्रद्धा, सोम, वर्षा, अन्न, रेत (शुक्र), इनकी आहुतिसे पांचवीं आहुतिमें वही श्रद्धा पुरुषरूपमें परिणत होजाती है । श्रद्धाको ही पानी कहतेहैं (देखो तै० सं० १।६।८) । वही श्रद्धा पानी क्रमशः रेतरूपमें परिणत होकर योषाग्नि (स्त्रीके गर्भाशयके रुधिरगत अग्नि) में आहुत होकर पुरुषका उपादान बनता है" यह बतलाकर अन्तमें प्रकरणका उपसंहार करते हुए "इति तु पञ्चम्या माहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" (इस पूर्व प्रदर्शित क्रमके अनुसार पांचवीं आहुतिमें पानी पुरुषनामसे व्यवहृत होनेलगताहै- छां० उ० ५।३, बृ० ६।२ इति) यह कहागयाहै । यहांके पुरुषशब्दको प्राणिमात्रका उपलक्षण समझना चाहिए. इसी अभिप्रायसे 'पुरुष एवेदं सर्वम्' यह कहाजाताहै। अपिच शरीरकी ओर दृष्टिपात करते हैं तो वहांभी पानीका भागही अधिक पाते हैं। हमारे पृथिवीलोकमें एक हिस्सा पृथिवी है, तीन हिस्सा पानी है। स्वयं पृथिवीभी पानी है, अतएव पृथिवीको पुष्करपर्ण कहाजाताहै, एवं पानीकोही पुष्करपर्ण कहते हैं (देखो श० ७ का० ४।१।८ इति) जहां देखो वहीं पानीका राज्यहै । "पानी सब जगंह व्याप्त होरहाहै" इसमें इससे अधिक और क्या प्रमाण होसकताहै । स्वयं 'आप' शब्दही अपनी व्यापकता प्रकट कर रहाहै । आप्लृ व्याप्तौ से आप शब्द बनाहै । सब जगंह व्याप्त रहनेके कारणही इस का नाम 'आप' है; (देखिए शत० ६।१।१।९ इति) । अतएव "सर्वमापोमयं जगत्" यह कहाजाताहै । इसप्रकार सबसे पहिले अपांप्रणयन करता हुआ अध्वर्यु इस सर्वत्र व्यापक पानीसे भावना द्वारा प्रथमही कर्म्मसे सबकुछ प्राप्त करलेताहै । इस कर्म्मसे त्रैलोक्यपर यजमानका आत्मा आप्त होजाताहै । सारी सम्पत्ति पर इसका अधिकार होजाताहै । बस इसी वि-

ज्ञानको ह्रदयमें रखकर—"अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्नोम्। तत् प्रथमेनैवैतत् कर्म्मणा सर्वमाप्नोति" यह कहागयाहै। बस अपामप्रणयन कर्म्मकी यही चौथी उपपत्ति है ॥ १४ ॥

अपिच पूर्वमें बतलादियागयाहै कि प्रकृतियज्ञके आधार परही इस वैध यज्ञका वितान कियाजाताहै। प्रकृतियज्ञके अधिष्ठाता अग्नि, वायु, आदित्यादि प्राणदेवताहैं। सभी देवता प्राणरूपहैं। प्राण मौलिकतत्व होनेसे सूक्ष्मतमहै,अतएव अप्रत्यक्षहै। अदृष्टहै। उनके आधारपर होनेवाला प्राकृतिक यज्ञभी असमदादि स्थूल बुद्धियोंकी दृष्टिमें अप्रत्यक्षही है। इस यज्ञविद्याके प्रथम प्रवर्त्तकथे भौम स्वर्गवासी मनुष्य देवता। जिनकाकि स्वरूप आगे आनेवाले ऐतिहासिक प्रकरणोंमें बतलाया जायगा। भारतीय महर्षियोंने अपने ज्ञानबलके प्रभावसे इन्ही भुवनस्वर्गवासी मनुष्य देवताओंसे बडे परिश्रमके साथ यह अलौकिक यज्ञसम्पत्ति प्राप्त कीथी। साक्षात् कृत धर्म्मा महर्षियों ने वैधयज्ञ सम्बन्धिनी जो पद्धति चलाईथी. उसीके आधारपर आज यह सारे यज्ञ किए जातेहैं। यह वैधयज्ञ प्रकृतिसिद्ध नित्ययज्ञकी प्रतिकृति है। अतएव ब्राह्मणग्रन्थ जिन विषयोंकी उपपत्ति (विस्तार भयातसे) नहीं बतलाताहै, एवं उपपत्ति न देखकर जो इतर सम्प्रदायवाले उसपर आक्षेप करबैठतेहैं, अथवा उसमें संशोधन करना चाहतेहैं- उनका घोरविरोध करताहुआ श्रा. "यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि" (जो कुछ देवताओंने कियाहै मैं वैसाही करूं) यह मर्य्यादावचन सामने रखताहुआ उस कर्म्मका पद्धतिके अनुसार ज्योंके त्यों करनेका आदेश देताहै। कारण इसका यही है कि हम साधारण मनुष्य सभी वैज्ञानिक उपपत्तिएं समझनेके अधिकारी नहीं हैं। ऐसी अवस्थामें विदित वेदितव्य महर्षियोंने हमारे लिए जैसी पद्धति बनादी है, उसके आधारपर चलनेमें हीं- (पद्धतिग्रन्थोंके (ब्राह्मणग्रन्थोंके) अक्षर अक्षर माननेमें हीं) हमारा कल्याणहै। "यज्ञसे हवा फिल्टर होती है- यज्ञसे

सारे कीटाणु मारेजाते हैं" ऐसी ऐसी कपोलकल्पित उपपत्तियोंको आगे रख कर यज्ञियद्रव्योंमें केसर, कपूर, कस्तूरी, आदि कल्पित पदार्थोंका सन्निवेश कर नई पद्धतियोंके बनाडालनेका साहस करना घोर अनर्थ है। जो ऐसा करते हैं, एवं जो मनुष्य ऐसे कल्पितमार्गका अनुसरण करते हैं वे वैदिक-सभ्यताके, वेदग्रन्थोंके, एवं वेदग्रन्थोंके द्रष्टा पूज्य महर्षियोंके घोर शत्रु हैं। ऐसेही महाशयोंकी कृपासे आज हमारा भारत 'भाहत' होता जारहा है। अतः अपनी सभ्यताका कल्याण चाहनेवालोंको प्राचीनमहर्षियों द्वारा निर्म्मित पद्धतियोंकाही अनुसरण करना चाहिए। कहना यहही है कि यज्ञकर्त्ता यजमान, एवं दक्षिणाक्रीतअध्वर्यु, आग्नीध्र, होता, उद्गाता, ब्रह्मा आदि यज्ञके ऋत्विक् सभी अपनी समझमें पद्धतिके अनुसार बहुत सोचसमझकर ही काम करते हैं, तथापि यह सब मनुष्य हैं। मनुष्य स्वभावतः असत्य संहित होता है; जैसाकि पूर्वमें बतलादियागया है। ऐसी अवस्थामें इन सभी याज्ञिकमनुष्योंसे भूल होजाना स्वाभाविक है। यदि इनमेंसे कोईभी मनुष्य किसी कर्म्मको भूलसे छोडजाता है, अथवा उसके स्वरूपमें परिवर्त्तन कर-डालता है तो यज्ञसन्तान विच्छिन्न होजाती है। इसका असर वैधयज्ञ द्वारा उत्पन्न होनेवाले नए यज्ञपुरुष (दिव्यात्मा) पर होता है। यदि विच्छेद हो-जाता है तो उसका स्वरूपभी विच्छिन्न होजाता है। बस इससे कियाकराया सारा कर्म्म व्यर्थ चलाजाता है। इस दोषकी निवृत्तिके लिएभी महर्षियोंने यज्ञके आरम्भमें सबसे पहिले अपांप्रणयन कर्म्म रक्खा है। पानी यज्ञस्वरूप है, सर्वत्र व्याप्त है। इसके प्रणयनसे यजमानको एक अविच्छिन्न अब्रूप यज्ञधरातल मिलजाता है। चटाई पर रक्खे हुए सिल पर पीसी जानेवाली पिठी जैसे जमीन पर नहीं गिरती वैसे ही यज्ञधरातलरुप अपांप्रणयन कर्म्म के अनन्तर यदि किसीसे कोई त्रुटिभी होजाती है तोभी कोई अनिष्ट नहीं होता। उसी अब्यज्ञसे इस यज्ञका सन्धान(मरम्मत)होजाता है। इस प्रयोजनको

लक्ष्यमें रखकरभी सबसे पहिले अपांप्रणयन कियाजाताहै । यही इस कर्म्म की पांचवीं उपपत्तिहै। इसी उपपत्तिको लक्ष्यमें रखकर- "यद्वेवास्यात्र होतावा अध्वर्युवा० तदेवास्यैतेन (कर्म्मणा) आप्तं भवति" यह कहागयाहै ॥ १५ ॥

अपिच—अपांप्रणयन करनेका एक बडाभारी प्रयोजन औरभी है । पूर्वमें अपांप्रणयनकी जितनीभी उपपत्तिएं बतलाई गई हैं, मानलीजिए वे सब कल्पितहैं, परन्तु फिरभी हमें अपने इस वैधयज्ञमें सबसे पहिले अपांप्रणयन अवश्यही करना चाहिए । कारण इसका यही है कि हमारा यह वैधयज्ञ उस प्राकृतिक नित्ययज्ञकी प्रतिकृतिहै, जैसाकि हम पूर्वमें कईवार कहचुके हैं। अतएव जैसा वहां होरहाहै, हमें बाध्य होकर इस यज्ञमें वैसाही करना पडताहै । प्राकृतिकयज्ञमें सबसे पहिले अपांप्रणयनही होताहै । अतएव "यद्देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि" इस मर्य्यादाके अनुसार उपपत्तियोंकी छानबीनकी और ध्यान न देकर आज्ञानुसार हमें बिना किसी नचनुचके अपांप्रणयन करलेना चाहिए । बस हम सबसे पहिले अपने यज्ञमें अपांप्रणान क्यों करते हैं, इसकी उपपत्ति प्राकृतिक यज्ञहीहै । अब केवल प्रश्न यह बच जाताहै कि प्राकृतिकयज्ञमें सबसे पहिले अपांप्रणयन क्यों होताहै, एवं कैसे होताहै ? बस १६ वीं १७ वीं कण्डिकामें इसी प्रश्नका समाधानहै। अग्निमें सोमकी आहुति होनेका नामही यज्ञहै । बस यज्ञका यही साधारण लक्षण है । यदि आकाशकी ओर हम अपनी दृष्टि डालते हैं तो हमें प्रचण्ड तापसे विश्वको तपातेहुए भगवान् सूर्य्यके दर्शन होते हैं । इनका प्रकाश त्रैलोक्यमें व्याप्त होरहाहै । यह सूर्य्य क्याहै इसका कोई उत्तर है तो- इन्द्राग्निकी समष्टि । इन्द्र और अग्नि दोनोंके समूहका नामही सूर्य्य है । यह सूर्य्य इन्द्रमयहै, और अग्निमयहै । अग्निमयहै इसलिए तो इसमें ताप(गर्मी)है, एवं इन्द्रमयहै इसलिए प्रकाशहै । प्रकाशके अधिष्ठाता इन्द्रहीहै । बिना इन्द्रके प्रकाशनहीं होसकता । अतएव "स्वं ज्योतिषां [illegible]" इस श्रुति

प्रमाणसे प्रकाशके अधिष्ठाता सोमहीं हैं, परन्तु सोम जबतक अग्निगर्भित इन्द्रका अन्न नहीं बनजाता; तबतक वह प्रकाश करनेमें सर्वथा असमर्थ रहताहै। अतएव "रूपं रूपं मघवा बोभवीति" "इन्द्रो रूपाणि करीकृदचरत्" इत्यादि श्रुतिएं इन्द्रकोही प्रकाशका अधिष्ठाता बतलाती हैं। जिसप्रकार प्रकाश इन्द्रका धर्म्म है–एवमेव ताप अग्नि (वैश्वानर) का धर्म है। सूर्य्यमें तापधर्म्मा अग्नि, और प्रकाशधर्म्मा इन्द्र दोनों हैं; सूर्य्यमें दोनों क्याहैं? दोनोंकी समष्टिका ही नाम सूर्य्य है, अतएव उसमें तापभी है, और प्रकाशभी है। साधारण मनुष्योंकी दृष्टिमें ताप जैसे अग्निका धर्म्म है, वैसेही प्रकाश भी अग्निका धर्म है। परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। ताप अग्निकाही धर्म्म है, प्रकाश इन्द्रकाही धर्म्म है। दोनों सर्वथा व्यवस्थितहैं। इसका प्रत्यक्ष आप चन्द्रमामें, और गरम पानीमें भलीभांति करसकते हैं। चन्द्रमामें प्रकाशाधिष्ठाता केवल सूर्य्यका इन्द्रभागहै, अतः वहां प्रकाशही प्रकाशहै। चन्द्रमा की चन्द्रिकामें तापका लेशभी नहीं है। उधर दिनभर धूपमें रक्खेहुए गरम पानीमें केवल सूर्य्यका अग्निभागहै, अतएव वहां केवल तापही तापहै। गरम पानीकी गरमीमें प्रकाशका लेशभी नहीं है। कारण इसका यही हैकि इन्द्र और वरुण दोनों प्राणदेवताओंमें परस्पर घोर शत्रुताहै। इन्द्र पूर्व दिशाके लोकपालहैं तो वरुण पश्चिम दिशाके लोकपालहैं। दोनोंका रुख बिलकुल विरुद्धहै। पानीमें रहनेवाले अधिष्ठाता आप्यप्राणका नाम वरुण है। आप्यप्राण ९९ जातिकाहै। इनमें जो सबका अधिष्ठाता एक अन्यतम प्राणहै उसीका नाम वरुणहै–अतएव वरुणको असुरोंका राजा बतलाया जाताहै। एवं प्रकाशी प्राणका नाम इन्द्रहै। इस प्रकाशी प्राणकी ३३ जाति है। इनमें जो अधिष्ठाता प्राणहै–जिसकेकि आधिपत्यमें इतर सारे प्राण देवताहैं--यही इन्द्रहै। इन्द्र सबका अधिपतिहै; अतएव इसे यज्ञपति कहाजाता है। यह इन्द्र और वरुण दोनों एक स्थान पर उसी प्रकार नहीं रहसकते

जैसे कि एक राज्यमें दो राजा शासन नहीं करसते, एवं जैसे कि एक कोश में दो तलवार नहीं रहसकती। जहां वरुणहै वहां इन्द्र नहीं, जहां इन्द्रहै वहां वरुण नहीं। पानीमें वरुणहै, अतएव यहां प्रकाशाधिष्ठाता इन्द्र नहीं घुस सकता। इसप्रकार ताप और प्रकाशका, अग्नि एवं इन्द्रके सम्बन्धसे विभाग सर्वथा सिद्ध होजाताहै। ताप और प्रकाश एकही देवताके धर्म्म नहीं हैं। ताप अग्निकाही धर्म्म है, प्रकाश इन्द्रकाही धर्म्महै। सूर्य्यमें दोनोंका समन्वय है। इन दोनोंमें जो अग्निभागहै उसे हमने अन्नाद (अन्न खानेवाला) बतलायाहै। जबतक अन्न (सोम) की आहुति होती रहती है तभीतक इस अन्नाद अग्निकी सत्ता रहती है। जिसदिन आहुतिक्रम बन्द होजायगा, सौर अग्नि सर्वथा नष्ट होजायगा। इस सौर अग्निको हम सदाही प्रज्वलित देखतेहैं—अतएव मानना पडताहै कि अवश्यही इस अन्नादाग्निमें अन्नकी आहुति हो-रही है। यदि आहुति न होती तो सूर्य्य कभीका नष्ट होगयाहोता। क्योंकि सौराग्निमें अन्नकी आहुति होरही है, एवं इस आहुतिक्रमका नामही यज्ञहै, अतः इस सौरमण्डलको हम अवश्यही यज्ञमण्डल कहनेके लिए तय्यारहैं। इस सूर्य्यमें जिस अन्नकी आहुति होतीहै उसका नामहै पारमेष्ठ्य सोम। पाठकोंको स्मरण होगाकि हमने सूर्य्यके ऊपर परमेष्ठीमण्डलकी सत्ता बतलाईथी। जैसे सूर्य्यपिण्ड पृथिवीके ऊपरहै, वैसेही परमेष्ठीपिण्डभी सूर्य्यके ऊपरहै। एवं जैसे पृथिवीपिण्ड सूर्य्यपिण्डके महिमामण्डलके पेटमें (इसी महिमामण्डलको पृथिवीके महिमामण्डलकी अपेक्षा बहुत बडा होनेके कारण बृहत्साम कहाजाताहै) एक जरासे स्थानमें यह छोटासा पृथिवीपिण्ड समा रहाहै, वैसेही उस महाविशाल आपोमय परमेष्ठिपिण्डके महिमामण्डलके अल्पप्रदेशमें महिमामण्डल विशिष्ट सूर्य्य पडाहुआहै। पृथिवीसे १३ सौ गुने बडे सूर्य्यके सामने जो प्रतिष्ठा इस छोटेसे पृथिवीपिण्डकी है, उस अनन्त पारमेष्ठ्य समुद्रके सामने वही प्रतिष्ठा इस सूर्य्यकी है। अतएव पुराणोंमें

इस सूर्य्यको उस आपोमय परमेष्ठिमण्डलका एक बुद्बुद् (बुलबुला) बतलाया जाताहै। कहना इससे हमें यही है कि इस इन्द्राग्निमय सौरमडलके, दूसरे शब्दोंमें अग्नीषोमात्मक यज्ञमण्डलके चारों ओर पारमेष्ठ्य पानी अभिव्याप्त होरहाहै। सौर संस्था (इसीका बिगडकर "सोलर सिस्टम" होगयाहै) के चारों ओर जो नीलिमा दिखलाई देती है वही वायुरूप आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्रहै। इसीमें शेषशय्यापर भगवान्[1] विष्णु सोरहे हैं। इस विषयका वैज्ञानिक विवेचन किसी आगेके प्रकरणमें कियाजायगा। अभी केवल यही समझलेना पर्य्याप्त होगाकि सूर्य्यके चारों ओर पानी भराहुआहै। सूर्य्य चारों ओरसे आनेवाले पानीके आक्रमणसे आक्रान्त होरहाहै। यह पानी इस यज्ञमय सूर्य्यको एकबारसेही अपनेमें लीन करलेना चाहताहै, परन्तु नहीं करसकता, जैसाकि अनुपदमें ही बतलानेवाले हैं। सूर्य्यके चारों ओर पानी है इस सूर्य्यका जो प्रकाशमण्डल है वह दृश्यमण्डलकी अपेक्षासे कछुए के आकारमें परिणत रहताहै अतएव इस महिमामण्डल विशिष्ट सूर्य्यको कश्यप किंवा कूर्म्म कहाजाताहै। यह कूर्म्म प्रजापति (महिमा विशिष्ट सूर्य-प्रजापति) पारमेष्ठ्य समुद्र के बीचों बीच प्रतिष्ठित रहताहै। इसमें निम्नलिखित श्रुतिही प्रमाणहै—

"अपां गम्भन्त्सीद मात्वा सूर्य्योभितप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः" यजुः० १३।३० मं० इति।

(हे कश्यप प्रजापति जलकी गहराई में आप विराजिए, सूर्य्य और त्रैलोक्य में व्याप्त वैश्वानर अग्नि तुम्हें संताप न पहुंचावे)। कश्यपका महिमा प्राणसे सम्बन्ध है अतएव सूर्य्यको उससे अलग मानागया है। इस मन्त्रकी विशद व्याख्या शतपथमें (७।५।१।८) देखनी चाहिए।

---

[1] इस विषयका विस्तृत विवेचन आचार्यप्रणीत "गीताविज्ञान भाष्य" के रहस्य काण्डान्तर्गत परमेष्ठी कृष्णरहस्यमें देखना चाहिए। यह अमूल्यग्रन्थरत्न अभीतक अप्रकाशितही है।

इस आपोमय परमेष्ठी मण्डलमें आप, वायु, सोम, इन तीन पदार्थोंकी सत्ताहै। यद्यपि सत्ता अनन्त पदार्थोंकी है- परन्तु प्रकृतमें इन्हीं तीनोंसे सम्बन्धहै। इन तीनोंमें जो आप्यप्राणहै- उसे असुर कहते हैं। सौम्यप्राण पितर कहलाताहै, जैसाकि पहिले बतलायाजाचुकाहै। इन तीनोंमें से सोम की इस आग्नेय सूर्य्यमें आहुति होती रहती है। इसी आहुतिसे सौरप्राण प्रादुर्भूत होताहै। जिससमय इस सूर्य्यमें पारमेष्ठ्य सोमकी अध्वर्यु नामसे प्रसिद्ध वायु द्वारा (प्राकृतिक नित्ययज्ञमें वायुद्वाराही आहुति होती है, एक वस्तुको दूसरी ओर लेजाना सदागतिधर्म्मा वायुकाही कामहै, अतएव इस वायुको प्राकृतिक यज्ञका अध्वर्यु कहाजाताहै—देखो तै० ब्रा० ३।१२।६३) आहुति होनेलगती है, उसीसमय आप्यप्राण प्रधान आपभागकाभी सूर्य्यपर आक्रमण होताहै। सौर अग्निके लिए द्रावसोम जितनाही उपकारहै, पानी उतनाही अपकारकहै। सोमसे अग्नि प्रज्वलित होताहै, पानीसे बुझजाताहै। अतएव हम इस पानीको दूसरे शब्दोंमें आप्यप्राणको इन सौरआग्नेय प्राण देवताओंका शत्रु कहनेके लिए तय्यारहैं। परमेष्ठीमें भूतज्योतिका अभावहै, अतएव वहां घोर अन्धकारहै। आसुरप्राणको यहीं अपनी सत्ता रखनेका अवकाश मिलताहै, अन्धकारही असुरोंके जीवनका साधनहै। इसीसे यह जीवित रहते हैं। प्रकाश इनके लिए यमराजहै, अन्धकार इनके लिए अन्नहै- (देखिए श० २।४।२।५)। यह तमोमय आप्यप्रधान आसुरप्राण सौरप्राण देवताओंके सोमगर्भित आग्नेयमण्डल स्वरूप यज्ञमण्डलपर निरन्तर आक्रमण कररहते हैं। जबसे यज्ञ आरम्भ हुआहै, तभीसे इन दुष्टोंका आक्रमण जारी है। सृष्टिके प्रारम्भसे आजतक निरन्तर इनका आक्रमण होरहाहैं। जैसे सोमका आना अनिवार्यहै, वैसेही इस सूर्य्यपर पारमेष्ठ्य पानीका आक्रमण होनाभी अनिवार्य है। सोम अन्नहै, वहतो देवताओंमें आहुत होजाता है, परन्तु विरोधी होनेके कारण सूर्य्यकी रश्मियोंके धक्केसे आप्यप्राण इन

में नहीं घुसने पाता। आप्यप्राण सोमाहुतिके साथही कूदकर यज्ञक्रमको सहसा बन्द करदेना चाहताहै, रोकदेना चाहताहै, इसी विज्ञानके आधारपर वैज्ञानिक महर्षियोंने इस आसुरप्राणका नाम 'राक्षस' रक्खाहै। मानलीजिए सूर्य्य में पारमेष्ठ्य सोमके साथ आप्यप्राण आकर यज्ञको नष्ट करना चाहताहै। परन्तु सौर रश्मिएं- उन दोनों (सोम-पानी) मेंसे पहिले पानीको अपने अधिकारमें करलेती हैं। पानीका उसी स्थानमें स्तम्भन करदेती हैं। जब सौर रश्मियों द्वारा पानी अधिकारमें करलियाजाताहै तो पानी में रहनेवाला आसुरप्राणभी इनके अधिकारमें आजाताहै। उधर आप्यप्राणके बन्धनसे मुक्त होकर इस अग्निमें वह शुद्धसोम आहुत होपडताहै। आहुतिके साथही यज्ञक्रम चलपडताहै। इसप्रकार देवताओंका यज्ञ निर्विघ्न होतारहताहै। 'विषस्य विषमौषधम्' (जहरका इलाज जहरहै, कांटा काटेसे निकलताहै) इस लौकिक न्यायके अनुसार आप्यप्राणरूप असुरोंको नष्ट करनेका एकमात्र उपाय पानीको अपने अधिकारमें करनाहै। इससे आसुरप्राणपर आत्मसत्ता प्रतिष्ठित होजाती है। बस प्राकृतिक अपांप्रणयनका यही स्वरूपहै। यज्ञ करनेसे पहिले सौरप्राणदेवता आसुरप्राणपर अपना अधिकार जमानेके लिए पारमेष्ठ्य पानीपर अपना अधिकार जमातेहैं। यदि उस पानीको अपने अधिकारमें न कियाजाता तो यह पानी क्षणमात्रमें सारे सौरमण्डलको आपोमय बनाडालता। क्योंकि पानीसे आसुरप्राणकी शक्ति नष्ट होजाती है, अन्नसोमकी घनता नष्ट होजाती है, इस पानीके जरिएसे आसुरप्राणका यज्ञमण्डलमें प्रवेश रोकाजाताहै- अतएव असुरोंके लिए इस पानीको अवश्यही वज्र कहाजासकताहै- जैसाकि अनुवादमें बतलायाजाचुकाहै। बस आज उसी प्रकृतियज्ञके आधारपर यह यजमान सबसे पहिले अपांप्रणयन करता है। इस यजमानका आत्मा सूर्य्यसे बनाहै। इसका आत्मा प्रतिबिम्बित सूर्य्य है। ऐसी अवस्थामें इसका यज्ञ करना सूर्य्यकाही यज्ञ करनाहै। सूर्य्य

भगवान् अपने संवत्सरयज्ञमें सबसे पहिले अपांप्रणयन द्वारा असुरोंको मार कर निरुपद्रव शान्त वातावरणमें यज्ञ करते हैं । अतएव तत्प्रतिबिम्बभूत इस यजमानकोभी सबसे पहिले अपांप्रणयन करना चाहिए । यदि यह अपां० न करेगा तो सचमुच इसके आत्मापर आसुरप्राण आक्रान्त होजायगा, जिसकोकि हम साधारण मनुष्य अपने चर्मचक्षुओंसे प्रत्यक्ष नहीं करसकते । इस आक्रमणको रोकनेका एकमात्र उपाय है 'अपांप्रणयन' । बस अपांप्रणयनकी यही ६ ठी उपपत्ति है । इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं— "द्वयान् हवै यज्ञेन यजमानान्० इत्यादि १६।१७" ।

तैत्तिरीय, मैत्रायणि, ऐतरेय, गोपथ, आदि श्रुतियोंमें इस अपां० कर्म्मकी और और भी उपपत्तिएं बतलाई गई हैं । विस्तार भयसे उन सबमें से केवल एक आवश्यक उपपत्ति बतलाकर इस प्रकरणको हम समाप्त करते हैं। तै० श्रुतिमें अपां प्रणयन की निम्नलिखित उपपत्ति बतलाई गईहै—

हम जो कुछ काम करते हैं, यह सारी महिमा प्राणदेवताओंकी है । हमारे शरीरमें जो आध्यात्मिक प्राणदेवता हैं, वे जो कुछ काम करते हैं, उसेही हम अपना काम कहने लगते हैं । वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, एवं मन, पांचों इन्द्रिएं—क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य, दिक्सोम, भास्वरसोम (चन्द्रमा) यह पांच देवता हैं । यही पांचों दिव्य देवता अधिदैवतमें अग्नि वायु इत्यादि नामोंसे व्यवहृत होने लगते हैं, एवं अध्यात्ममें आकर यही वाक्, प्राण, चक्षु, आदि नामों से पुकारे जाने लगते हैं । इतर इन्द्रियों का इन्हीं पांच इन्द्रियों में अन्तर्भाव होजाताहै जैसाकि पहिले बतलाया जाचुका है । इन सारे प्राणदेवताओं को अपने अपने कर्म्मके लिए प्रेरित करनेवाला जो एक आदित्य विशेष है उसेही सविता कहते हैं । प्रेरणा करना इसी सवि-

ताका कामहै। यह सविता यद्यपि सूर्य्यसे भी ऊपरहै, परन्तु हमारी रोदसी त्रिलोकी में सूर्य्य के द्वाराही इस सविता प्राणका सम्बन्ध होताहै अतः सूर्य्यको सविता कहदिया जाताहै। अध्यात्ममें इस सविताका सबसे पहिले हमारे मनके साथ सम्बन्ध होताहै (देखिए यजु० सं० ११ अ० १ मन्त्र)। मन अन्नमय होनेसे जडहै। इस सविता प्राणकी प्रेरणासेही मनमें व्यापार होने लगताहै जोकि मनो व्यापार इच्छा नामसे प्रसिद्धहै। एवं मनकी प्रेरणासे इतर सारे प्राणदेवता काम करने लगते हैं। मनकी जो प्रेरणाहै वह वास्तवमें मनमें प्रविष्ट मनोमय सविताकीही प्रेरणाहै। अतएव 'सवितावै देवानां प्रसविता' यह कहा जाताहै। यह मन सोममय है। सोम परमेष्ठीकी वस्तुहै। पारमेष्ठ्य पानीकी विरलावस्थाका नामही सोमहै, जैसाकि पहिले बतलाया जाचुकाहै। इस पानीका नामही श्रद्धाहै। श्रद्धा पानीकी दूसरी अवस्थाका नामही 'सोम' है। जबतक इस मनमें श्रद्धा भावका उदय नहीं होता तबतक किसीभी कार्य्यमें सफलता नहीं मिलसकती। पुरुष श्रद्धामयहै। उधर पानी श्रद्धाहै। यदि यज्ञके प्रारम्भमें पानीका सम्बन्ध होजाता है तो पुरुषका श्रद्धाभाव सजातीय बंधनके प्रभावसे जागृत होपडताहै। इससे श्रद्धा प्रबल होजाती है। श्रद्धाके प्रबल होनेसे 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो योयच्छ्रद्धः स एवसः' इस विज्ञानके अनुसार इस यजमानका यज्ञ सफल होजाताहै। प्राणदेवता, और मनुष्य देवता दोनों इसपर श्रद्धा करने लगतेहैं। अर्थात् ऋत्विजोंके मन प्राण वाकका और प्राणदेवताओं का दोनों का यजमान के दिव्यात्माके साथ इस श्रद्धा सूत्रसे ग्रन्थिबंधन होजाताहै। बस इस श्रद्धा भावकी प्राप्तिके लिएभी सबसे पहिले अपां प्रणयन कियाजाता है। इसी उपपत्ति को लक्ष्यमें रखकर तै० श्रुति कहती है—'यो वै श्रद्धामनारभ्य यज्ञेन यजते नास्येष्टाय श्रद्धते। अपः प्रणयति। श्रद्धावा आपः। श्रद्धामेवारभ्य यज्ञेन यजते। उभयेऽस्य देवमनुष्या इष्टाय श्रद्धते। इति तै० सं०

१।६।३।८)। इसी अभिप्रायसे इस कर्म्मकी उपपत्ति बतलातेहुए ऐतरेय श्रुति में—'आपोऽस्मै श्रद्धां संनमन्ते पुण्याय कर्म्मणे' यह कहा जाता है।

इति अपांप्रणयनोपपत्तिः।

अथ अपांसादनोपपत्तिः।

अपांप्रणयन क्यों करना चाहिए इसका सोपपत्तिक निरूपण होचुका। अब क्रमप्राप्त 'अपांसादन' कर्म्मकी उपपत्तिकी ओर हम अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं। आहवनीय के समीप प्रणीतापात्र को रखदेने का नामही अपांसादन है। इस प्रणीतापात्रको आहवनीयके समीप रखनेसे पहिले गार्हपत्यके उत्तर भागमें रक्खा जाताहै। यहांपर प्रश्न होताहै कि जबकि इन पानियोंको आहवनीयके ही पास रखना आवश्यकहै तो फिर पहिले उसे थोडीदेरके लिए गा० के उत्तर भागमें क्यों रक्खा जाता है? बस प्रथम इसी प्रश्नका समाधान करते हैं। यह पानी योषाहै, और अग्नि वृषाहै। योषा और वृषा दोनों पारिभाषिक शब्दहैं। स्त्री प्राणके लिए योषा शब्द नियतहै, और पुरुष प्राणके लिए 'वृषा' शब्द नियत है। यु मिश्रणामिश्रणयोः—धातुसे योषा शब्द बनता है। स्त्री अपने पिताके घरको छोडकर पतिके घरसे युक्त होती है, अपने आत्माको दूसरेके साथ मिलाती है अतएव इसे योषा कहा जाताहै। एवं रेताहुति (रेतवर्षण) करनेके कारण पुरुषप्राण वृषा कहलाताहै। जिसमें योषा प्राणकी प्रधानता रहती है, प्राणि-सृष्टिमें वही योषा (स्त्री) कहलाती है, एवं जिसमें वृषा प्राणकी प्रधानता रहती है वह वृषा (पुरुष) कहलाता है। इस वृषा योषाके संयोगसे ही (मिथु-नभावसे) प्रजोत्पत्ती होती है। संतानहोना स्त्री पुरुषके संयोगपर निर्भर नहीं है अपितु योषा वृषानामके प्राणके संयोगपर निर्भर है। जबतक दोनों

प्राण नहीं मिलते तबतक चाहे स्त्री पुरुष जन्मभर संयोग करतेरहैं कभी प्रजोत्पत्ति नहीं होगी। गर्भाशयमें स्थित स्त्रीके रुधिरमें और पुरुषके शुक्रमें एकप्रकार का कीड़ा होताहै। इसी कीटको आयुर्वेद शास्त्रमें 'भ्रूण' कहा-जाताहै। स्त्री के भ्रूणमें रहनेवाला प्राण योषाहै, और पुरुषके भ्रूणमें रहने वाला प्राण वृषाहै। यदि दोनों के भ्रूण जीवित रहते हैं अर्थात् दोनोंके योषा वृषा प्राण जीवित रहते हैं तो संतानोत्पत्ति होती है। यदि दोनोंमें से एकका भी भ्रूण मरा हुआ रहताहै तो कदापि संतान नहीं होती। यह भ्रूण क्यों मरजाता है, इसकेलिए हमारे शास्त्रकारोंने नाग, पितृ, ग्रह, नाडी, गर्भाशय, अ दि दोष गिनडाले हैं। एवं साथही में इन आठों दोषोंको दूर करने के उपाय भी बतलादिए हैं। पितृ दोषको हटानेका एकमात्र उपाय पितृ श्राद्धही है। अतएव इसे नित्य होतेहुए भी काम्यकर्म्म बतलाया जाताहै। तक्षक द्वारा डसे जानेके कारण अपने स्वर्गीय पिता परिक्षित की मृत्युका सर्पवंशसे बदला लेनेके लिए होनेवाले परीक्षितके पुत्र जनमेजयके सर्पयज्ञमें, मन्त्रबलसे आहवनीयमें चारों औरसे आआकर आहुत होनेवाले सर्पोंकी रक्षा करनेवाले आस्तीक ऋषिके, पिता जरत्कारुनें विवाहकर इसी पितृ श्राद्ध द्वारा आस्तीक जैसा पुत्ररत्न प्राप्तकर अंधेरे कूपमें औंधे लटके हुए अपने पुरखा यायावर ऋषिका उद्धार कियाथा। हम बतला रहेथे कि प्रजोत्पत्तिमें स्त्री पुरुषका संयोग प्रधान कारण नहीं है—अपितु तद्गतयोषा वृषा प्राणका संयोगही प्रधान कारण है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि बिना भी स्त्री पुरुषके संयोगके केवल योषा वृषाके संयोगसे जीवसृष्टि होजाती है। इसके लिए दो चार उदाहरण बतला देना अनुचित न होगा।

आपने देखाहोगा कि आकाशमें कपोतसे कुछही बडी आकृतिके पक्षी अपनी पंक्ति बांधकर उडाकरते हैं। यह पक्षी कभी एकल्ले नहीं रहते। जब निकलते हैं- १००—५० मिलकर बराबर बराबर समानभावसे एक कतार

बांधकर निकलते हैं। इन पक्षियोंको "बलाका" कहते हैं। इनका कण्ठ बिस (कमलतन्तु) के समान होताहै, यही इनकी पहिचानहै (देखो अमरकोष २।२५)। जहां पानी होताहै यह पक्षिकुण्ड प्रायः वहीं उतरा करताहै। इसे पानीसे बडा प्रेमहै। जैसे बाज इतर पक्षियोंके ऊपर झपाटेके साथ गिरपडताहै, एवमेव यह झुंड सपाटेके साथ तालाबमें घुसपडताहै। पानीमें सोम अधिकमात्रासे रहताहै। पानीही सोमका प्रभव स्थानहै। सोमही साक्षात् रेत (वीर्य) है। अतः हमारी अपेक्षा इस बलाका पक्षिका शुक्र अधिक बलवान होताहै, अतएव इसे मिथुनभावमें परिणत होनेकी आवश्यकता नहीं होती। इसकी अश्रुबिन्दुको मादीन पीजाती है, इसीसे गर्भाधान होजाताहै।

अपिच एक हरित और नील दोनों रंगोंसे युक्त छोटासा उड़ना कीड़ा होताहै, यह बड़ाही जहरीला होताहै। इसकी आकृति ततैय्यासे मिलती-जुलती है। यह कीड़ा सर्वथा विजातीय एक मकड़ीके बच्चेको पकड़लाताहै-एवं किसी भित्तीपर पहिलेसे ही बनाए हुए मिट्टीके घोंसलेमें उसे बन्द कर देताहै। यह मिट्टी पीली मिट्टी जैसी होती है। इसमें बन्द करके वह कीड़ा उस घोंसलेका मार्ग मिट्टीसे ही बन्द करदेताहै। एवं आप उस द्वारपर आआकर भिन भिन कियाकरताहै, एवं उसपर बैठाकरताहै। जिसप्रकार अंडेपर बैठकर चिड़िया अपने शरीरकी गर्मी डालकर उसका परिपाक कियाकरती है- ठीक यही व्यापार यहां होताहै। आपको सुनकर आश्चर्य होगाकि थोड़े समय बाद उस घोंसलेका द्वार उसी कीट द्वारा खोलदिया जाताहै, और वह सर्वथा विजातीय मकड़ीका बच्चा उस कीड़ेके आकारमें परिणत होकर निकलजाताहै। बतलाइए यहां कौनसा मिथुनभावथा।

और आगे बढ़िए. गोमय (गोबर) में आप दही और केलेका रस डाल दीजिए, थोडे समयके पीछे उसमें सैंकड़ों बिच्छू उत्पन्न होजायंगे। अपिच

वर्षाकालमें इसी योषावृषाके संयोगसे सड़कोंकी प्रत्येक लालटेनके पास असंख्य जीव उत्पन्न होजाते हैं। "अमुक महर्षिने अमुक स्त्रीकी ओर देखा, देखतेही उसमें गर्भस्थिति होगई। ब्रह्माजीके कर्णमलसे अमुक पैदा होगया" आदि ऐसी ऐसी पौराणिक कथाओंको देखकर आजकलका नवीन समाज इस भारतकी दिव्यविभूतिपर, आर्यसर्वस्वपर मनमाने आक्षेप करने लगता है। विज्ञानका घमन्ड रखनेवाले इन पाश्चात्य शिक्षादीक्षित महानुभावोंका और अपनेआपको वेदधुरीण एवं तर्काचार्य माननेवाले महाशयोंका कहना हैकि संतानोत्पत्ति, दूसरे शब्दों में जीवोत्पत्ति बिना स्त्री पुरुष (नरमादीन) के संयोगके नहीं होसकती। केवल दृष्टिसंयोगसे, एवं कर्णमलादिसे कथमपि प्रजोत्पत्ति नहीं होसकती। ऐसा होना प्रकृतिके विरुद्ध हैं। ऐसें महानुभावों और महाशयोंके प्रति हमें यही कहनाहैकि प्रकृतिके ठेकादारो! क्या तुमने सारा प्राकृतिक विज्ञान समझलियाहैं। तुह्मारी प्रकृतिके अनुसार बकरेके स्तन नहीं होने चाहिए, स्त्रीके बकरेका बच्चा उत्पन्न नहीं होनाचाहिए। स्त्रीके बिच्छू, सर्प आदिकी आकृतिके बच्चे नहीं होने चाहिए। परन्तु होते हैं (देखो सुश्रुत शा. ३ अ. ४५ श्लो.) प्रत्यक्ष करना होतो आगरेके (Meseum) में चलेजाओ। दूध देनेवाला एक स्तनका बकरा देखना होतो जयपुरके म्यूजियममें आनेका कष्ट करो। हमें तरस आताहै उन भूलेभटके महानुभावों और महाशयोंपर जो दूसरोंके बहकावमें आकर शास्त्रका असली मर्म्म न समझकर उनपर मनमाने आक्षेप करने लगते हैं। उन्हें मालुम होनाचाहिए कि प्रजोत्पत्तिका स्त्री पुरुषके संयोगसें कोई सम्बन्ध नहीं है। स्त्री पुरुषका सम्बन्ध गौणहै, योषावृषाका सम्बन्ध प्रधानहै। उसमेंभी गर्भधारण करते समय स्त्रीका ध्यान जिस ओर रहताहै उसका योषाप्राण (भूगमतप्राण) उसी आकारमें परिणत होजाताहै। यह योषावृषा प्राण सूर्य्य और पृथिवी दोनोंके बीचमें भराहुआहै।

आप उसे पहिचान जाइए। दोनोंके मिलानेकी क्रिया सीखजाइए, आप स्वयं नई सृष्टि बनासकते हैं। परमेश्वरका सृष्टिक्रम अव्यवस्थित नहीं है, उसका प्रत्येक कार्य किसी ध्रुवनियमके आधारपर प्रतिष्ठितहै। राजा शासन नहीं करता, राजाके बनाए हुए नियम शासन करते हैं। उन नियमों के बनानेकी, और उनका लोकमें संचार करनेकी शक्ति प्राप्त करलीजिए आप स्वयं राजा बन सकते हैं। ठीक इसीप्रकार ईश्वर शासन नहीं करता। सृष्टि बनाना ईश्वरका काम नहीं है, ईश्वरके नियम सृष्टि बनाते हैं। राजाकी नियमसमष्टि जैसे 'कानून' कहलाती है; उसीप्रकार ईश्वरकी नियमसमष्टि 'प्रकृति' कहलाती है। प्रकृतिही संसार बनाती है। उस प्रकृतिको पहिचानना ब्रह्मका पहिचानना कहलाताहै। इस ब्रह्मविद्याको आप जान जाइए आपभी ईश्वरकी तरह कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ होसकते हैं। इसी अभिप्रायसे वेदमहर्षि कहते हैं—

"ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते" (शत. १४।४।२।२०) इति।

इसी ब्रह्मविद्याके प्रभावसे योषावृषा प्राणके मिथुन द्वारा वसिष्ठके प्रतिद्वन्द्वी राजर्षि विश्वामित्रने त्रिशंकुका पक्ष समर्थन करनेके लिए नई सृष्टि बनाना आरम्भ करदियाथा। वास्तवमें बात यथार्थहै, जो इन दोनोंको पहिचानगया वह विदितवेदितव्य बनगया। सारा प्रकृतिब्रह्म उसके अधिकारमें आगया। योषावृषा कोई अपूर्व वस्तु नहीं है अपितु प्रकरणके आरम्भसे जिस अग्नी सोमकी गाथा सुनते आरहे हैं- उन्हींका नाम योषावृषा है। आग्नेय प्राणका नाम वृषाहै, सौम्यप्राणका नाम योषाहै। अग्नी और सोमके अलावा वास्तवमें कोई तीसरी वस्तु नहीं है। एक शुष्क (सूखा) तत्व है, एक आर्द्र (गीला) तत्वहै। बस सूखे (अग्नि) और गीले (सोम) के अलावा तीसरी वस्तुका सर्वथा अभावहै। इसी अभिप्रायसे श्रुति

"द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति आर्द्रं चैव शुष्कं च। यच्छुष्कं तदाग्नेयम्, यदार्द्रं तत् सौम्यम्" (शत० १।५।१।२३) इति।

अग्नि पुरुषहै, सोम स्त्री है। परमेष्ठिमण्डलको अपने महिमामण्डलके भीतर रखनेवाले स्वयम्भू प्रजापतिने सृष्टिकी इच्छासे अपने आपको इन्ही दोनों स्त्रीपुरुषों के रूपमें परिणत कररक्खाहै। "परमेश्वरने सृष्टिकी इच्छा से अपने आपको स्त्री और पुरुष बनाडाला। आधे भागसे यह प्रजापति पुरुष बनगया, एवं आधे भागसे स्त्री बनगया। इन्ही दोनोके मिथुनसे उस, नें संसारको उत्पन्न किया" वेदार्थका उपबृंहण करनेवाले पुराणशास्त्रके इस आख्यानमें जिस स्त्रीपुरुषका वर्णनहै, वह यही अग्नि सोम, एवं दूसरे शब्दों में योषावृषाहै। सबसे पहिले सृष्टिके आरम्भक यही दोनों उत्पन्न होते हैं। भृगु (सोम) और अंगिरा (अग्नि) परमेष्ठीके मनोताहैं। स्वयम्भूसे सबसे पहिले इन्हीका जन्म होताहै। यही दोनों विश्व प्रजाको उत्पन्न करने वाले पतिपत्नी हैं। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर कहते हैं—

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषो ऽभवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः॥ (मनुः १।३२ इति).

अग्निकी—अग्नि, वायु, आदित्य, तीन अवस्थाएं हैं। सोमकी—आप, वायु, सोम, तीन अवस्थाएं हैं। अग्नित्रयी अंगिराहै, सोमत्रयी भृगुहै। दोनों सूर्य्यसे ऊपर परमेष्ठिमें उत्पन्न होते हैं, जैसाकि पूर्व में बतलाया जा- चुकाहै। इन दोनोंके मेलसे सूर्य्यकी उत्पत्ति होती है, इसी सूर्य्यका नाम विराट्है। रोदसी त्रिलोकी में यह सूर्य्यही सबसे विशेषरूपसे दीप्त होरहाहै अतएव इसे "विराट्" कहाजाताहै। इस सूर्य्य के परमाणु आग्नेयहैं। अग्नि का वर्ण सुनहरी है, अतएव इस सौरमण्डलको हम हिरण्मय कहनेके लिए तय्यारहैं। यह विराट् सूर्य्य अपने हिरण्मय महिमामण्डलके केन्द्रमें रहता

है अतएव इसे "हिरण्यगर्भ" कहाजाताहै । हमारे त्रैलोक्यमें, स्वयम्भूसे उत्पन्न पतिपत्नी (भृगुअंगिरा) के मिथुनसे, सबसे पहिले रोदसी त्रिलोकीके प्रभव, प्रतिष्ठा, परायणस्वरूप इसी हिरण्यगर्भ विराट् पुरुष (सूर्य्य) का जन्म होताहै, इसी प्रजापतिका स्वरूप बतलाते हुए वेदमहर्षि कहते हैं—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्यजातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋ. १०।१२१।१

इसी अभिप्रायसे– "स विराजमसृजत् प्रभुः" यह कहागयाहै । रोदसी त्रिलोकीमें सूर्य्य के द्वाराही योषा वृषा प्राण आताहै, अतएव सूर्य्य के लिए "सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" "नूनंजनाः सूर्येण प्रसूताः" इत्यादि कहाजाताहै । क्रन्दसी त्रिलोकीसे आनेवाला योषा प्राण (प्राणविशिष्ट सोम), रोदसी त्रैलोक्यकी उत्तरदिशामें प्रतिष्ठित होताहै, एवं वृषा (अग्नि) दक्षिण भागमें प्रतिष्ठित होताहै । वृषा अपने प्रभव दक्षिणस्थानसे उत्तरकी ओर जायाकरताहै, एवं योषा अपने प्रभव उत्तर स्थानसे दक्षिणकी ओर जायाकरताहै । साथहीमें इतना और समझलेनाचाहिएकि यह अग्नि ऋतहै, इसके और सोमके संयोगसे जो एक स्वरूप बनताहै उसे इस ऋताग्निके सम्बन्धसे ऋतु कहाजाताहै । योषा वृषाके मेलसे पहिले ऋतुका जन्म होताहै, ऋतुओंसे सम्वत्सरका स्वरूप बनताहै, इसी सम्वत्सर प्रजापतिसे, आगेकी सारी प्रजा उत्पन्न होती है । शास्त्रकारोंने योषाप्राणात्मिका स्त्रीमें, वृषाप्राणात्मक पुरुषकी अपेक्षा काम आठगुना अधिक बतलायाहै । प्रसंगागत इसकी उपपत्ति बतलादेन

---

१. आठ प्रकारकी त्रिलोकियोंमेंसे एक त्रिलोकीका नाम "क्रन्दसी" है । महर्लोक और जनलोकका इसीसे सम्बन्धहै । इन त्रिलोकियोंका स्वरूप किसी आगेके प्रकरणमें बतलाया जायगा ।

भी अनुचित न होगा। शरीर—रस, असृक, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, इन धातुओंकी समष्टिमात्र है। अन्नके क्रमिक विशकलनसे इनका स्वरूप बनता है, जैसाकि दूसरे अङ्कमें विस्तारके साथ बतलाया जाचुकाहै। स्त्री और पुरुष दोनोंके कामका आयतन (रहनेका स्थान) भिन्न भिन्नहै। पुरुषके शुक्रनामके, अन्नकी अपेक्षासे आठवीं संख्यामें आनेवाले ८ वें धातुमें काम रहताहै, इधर स्त्रीके दूसरे असृक् (रुधिर) धातुमेंही काम रहताहै। अन्नसे रस बना, रससे असृक् बना और कामोदय होगया। उधर पुरुषको सात सीढी पार करनी पडती है। तब कहीं कामको अवसर मिलताहै, बस इसी लिए स्त्रीका काम अधिक प्रबल रहताहै, और पुरुषका स्त्रीकी अपेक्षा आठवें धातुमें कामोदय होनेसे आठगुना कम रहताहै; स्त्रीका पुरुषकी अपेक्षा आठगुना अधिक होताहै।

एक चमत्कार औरहै। स्त्रीके रुधिरमें कामहै इसीलिए स्त्री पुरुषकी इच्छा करती है, एवं पुरुषके शुक्रमें कामहै अतएव वह स्त्रीकी इच्छा करता है। हमने बतलादियाहै कि अग्निका नाम पुरुषहै, एवं सोमका नाम स्त्री है। रुधिर साक्षात् अग्निहै। इस अग्निके अधिष्ठाता मंगलहै। मंगल आग्नेय ग्रहहै। इसीसे रुधिरप्राणका निर्म्माण होताहै, इसीलिए रुधिर लाल होता है क्योंकि रुधिरका उत्पादक मंगल स्वयं लालहै। यह मंगल ग्रह 'मकर' राशिपर उच्चका रहताहै, स्त्रीके रुधिरमें इसीकी सत्ताहै, एवं इसी रुधिरमें कामसत्ताहै. अतएव इस स्त्रीके कामको 'मकरध्वज' कहाजाताहै। मकरध्वज नाम सूचित करताहै कि स्त्रीके काममें आग्नेयप्राण (पुरुषप्राण) समझो। उधर पुरुषके शुक्रमें कामहै। शुक्र सोमहै। इसका अधिष्ठाता 'शुक्र' ग्रहहै। शुक्रग्रहसे ही शुक्रप्राणका निर्म्माण होताहै। मीन राशिमें आयाहुआ शुक्र उच्चका कहलाताहै, शुक्रम इसीकी सत्ताहै, अतएव पुरुषके कामको 'मीनध्वज' कहाजाताहै। मीनध्वज सौम्य होनेसे स्त्रीका कामहै, यह पुरुषमें प्रतिष्ठितहै,

उधर मकरध्वज आग्नेय होनेसे पुरुषका कामहै, यह स्त्रीमें रहताहै। बस यही कारणहै, स्त्री सदा पुरुषकी इच्छा कियाकरती है क्योंकि उसका काम पुरुषमयहै, एवं पुरुष सदा स्त्रीकी इच्छा कियाकरताहै क्योंकि उसका काम स्त्रीमयहै। इस सारे प्रपञ्चसे प्रकृतमें हमें यही बतलानाहै कि पानी योषा है, एवं गार्हपत्याग्नि वृषाहै। इस योषा वृषाके मिथुनसे इस अध्वर्युको यजमानका नया दिव्यात्मा उत्पन्न करनाहै। मिथुनभाव घरमें ही होताहै। इधर पृथिवी स्थानीय होनेसे यह गार्हपत्य यजमानका घरहै। इसके पास योषारूप पानीको रखताहुआ अध्वर्यु घरमेंही मिथुनभावसे प्रजनन करताहै। घरसे यहां प्रतिष्ठातत्व अभिप्रेतहै। मार्गमें चलतेहुए मिथुनभाव नहीं होसकता। स्थिर और शान्त एवं परोक्षस्थानमेंही मिथुन होताहै। गार्हपत्य ऐसाही स्थानहै। पृथिवी स्वरूप होनेसे इसमें स्थिरताहै, अतएव शान्तिहै। बस इसी लिए गा० के उत्तरभागमें पहिले योषारूप पानीको रक्खा जाताहै। इस उपपत्तिका तात्पर्यार्थ यही है कि आहवनीय अग्नि स्वर्गकी प्रतिकृतिहै। इसके पास प्रणीतापात्रको रखनेका नामही अपांप्रणयनहै। इस आहवनीय दिव्याग्नि स्वरूप वृषा, और समीपस्थ अब्रूप योषाके मिथुनसे दिव्यात्मा उत्पन्न होनेवालाहै। इस दिव्यात्माका यजमानके मानुषात्माके साथ सम्बन्ध होना परम आवश्यकहै। यदि इस दिव्यात्माका यजमान के मानुषात्माके साथ ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध न होगातो यह मानुषात्मा नियत आयुके समाप्त होनेपर कभी स्वर्गमें नहीं जासकेगा। ऐसी अवस्थामें यज्ञ करनाही व्यर्थ होगा। इस आपत्तिको हटानेके लिए पहिले गार्हपत्याग्निके साथ सम्बन्ध करादियाजाताहै। गार्हपत्य मानुषात्माका घरहै। इसका आयतनहै। यहां सम्बन्ध करनेके अनन्तर इसका आहवनीयसे सम्बन्ध रखने से दिव्यात्मा और मानुषात्माका परस्पर ग्रन्थिबन्धन होजाताहै। इस संबन्धके प्रभावसे दिव्यात्माकी पकडमें बंधाहुआ मानुषात्मा देह त्यागानन्तर

अवश्यही स्मरणमें चलाजाताहै। गा० आ० के उत्तरभागमें पहिले इस पानी को क्यों रक्खाजाताहै? इसकी यही पहिली उपपत्तिहै। इसी उपपत्तिको लक्ष्यमें रखकर "योषा वा आपः, वृषाग्निः। गृहा वै गार्हपत्यः। तद्गृहेष्वेवैतन्मिथुनं प्रजननं क्रियते" यह कहागयाहै। दूसरी उपपत्ति अनुवादसेही गतार्थ होजातीहै। १८।१९।

उस पानीको थोडीदेर गार्हपत्यके उत्तरभागमें रखकर अनन्तर आहवनीयके उत्तरभागमें रखदियाजाताहै। आहवनीयाग्नि वृषाहै, पानी योषा है। अतः योषारूप पानीको वृषारूप अग्निके उत्तरभागमेंही रखना उचित है। क्योंकि दोनोंका मिथुन करवानाहै। प्रकृतिमें इसीप्रकारसे मिथुन होता है, अतएव हमेंभी ऐसाही करना उचितहै। उत्तरभागको वामभाग कहतेहैं, दक्षिण- दक्षिणभाग कहलाताहै। स्त्री सौम्याहै, पुरुष आग्नेयहै। सोम अग्निका भोग्यहै। सोम अग्निमें आहुत होजाताहै। अग्नि भोक्ताहै, अपनी प्रतिष्ठामें प्रतिष्ठितहै, उधर सोम अन्नहै, अतएव अप्रतिष्ठितहै। अग्निही अन्नसोमकी प्रतिष्ठाहै। इसी पराश्रित अतएव परतन्त्र सोमसे स्त्रीका आत्मा बनताहै, एवं स्वप्रतिष्ठामें प्रतिष्ठित अतएव स्वतन्त्र अग्निसे पुरुषका आत्मा बनताहै। पुरुषके आत्मामें सूर्य्यकी प्रधानताहै, स्त्रीके आत्मामें निशानाथ चन्द्रमाकी प्रधानताहै। उधर चन्द्रमा सूर्य्यके आधीनहै। सूर्य्य सदा चन्द्रमा पर अपना प्रभुत्व रखताहै, अतएव यहांभी सूर्य्य स्थानीय पुरुष,चन्द्र स्थानीय स्त्री पर सदाही अपना प्रभुत्व रखताहै। पुरुषमें स्त्रीको भोग्य समझनेकी स्वाभाविक वृत्तिहै। इसी विज्ञानके आधारपर "न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति" (स्त्री कभी स्वतन्त्रताकी अधिकारिणी नहीं है) यह कहा जाताहै। परम कारुणिक प्रातःस्मरणीय पूज्य महर्षियोंपर, हमारे शास्त्रकारों पर आजदिन पक्षपातका दोष मत्थे मढा जाताहै। "शास्त्र बनानेवाले पुरुष थे, साथहीमें वे ब्राह्मणभी थे इसीलिए उन्होंने अपनेलिए सब प्रकारकी

सुविधाएं रक्खीं हैं, एवं स्त्री और शूद्रोंके लिए अनेकप्रकारके बन्धन लगा दिएहैं जिससेकि वे उन्नतिसे वंचित होकर उनके स्वार्थमें बाधा न पहुंचा सकें" ऐसे उद्गार निकालकर आजकलके सभ्य महानुभाव जमीन आसमान एक किए डालते हैं। परन्तु करते रहें, ऐसे आक्षेपोंका हमारी दृष्टिमें कोईभी मूल्य नहीं हैं। हमारे शास्त्रोंका आधार प्राकृतिक विज्ञानहै। शास्त्रकारोंने अपनी ओरसे कल्पित व्यवस्थाएं नहीं कीहैं, अपितु जैसा प्रकृतिमें होरहा है, एवं प्रकृतिके अनुसार जिसका जैसा स्वरूपहै उनकी सारी व्यवस्थाएं उसीके अनुकूलहैं। आप हमारे ऊपर आक्षेप करते हुए कहतेहैंकि पुरुषोंने सबमें अपनी प्रधानता रक्खी है, हम कहतेहैंकि जिस वेदको आप ईश्वरका निश्वास मानतेहैं वह स्वयं अपने मुखसे "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्" (जोकुछ पैदा होगयाहै, एवं जो आगे होनेवालाहै- वह सब पुरुषही पुरुषहै) यह कहकर स्त्री सत्ताका उन्मूलन कर केवल पुरुषकीही सत्ता बतला रहाहै। बात वास्तवमें यथार्थ है। भोग्यवस्तुकी स्वतन्त्र गणना नहीं होती। भोग्य भोक्ताके आधीनहो भोक्तृमय बनजाताहै। संसारमें अग्नि पुरुषहै, सोम स्त्री है- जैसाकि पूर्वमें कईवार बतलाया जाचुकाहै। अग्नि अत्ताहै, सोम आद्यहै। जब आद्य (भोग्य) अत्तामें (भोक्तामें) चला जाताहै तो उस अवस्थामें केवल अत्ताकीही सत्ता रहजाती है। इसी अभिप्रायसे श्रुति कहती है—

"द्वयं वाऽइदमत्ता चैवाद्यं च। तद्यदोभयं समागच्छति, अत्तैवाख्यायते- नाद्यम्। स वै यः सोऽत्ताग्निरेवसः० इत्यादि" (शत० १०।६।३।१।२) इति।

यहां जिस अत्ता अग्निका वर्णनहै, उसमे वैश्वानर अग्निही अभिप्रेत है। पृथिवीके अपान अग्नि, सूर्य्यके प्राण अग्नि, एवं अन्तरिक्षके व्यान अग्नि,तीनोंके मेलसे, दूसरे शब्दोंमें पृथिवी,अन्तरिक्ष,द्यु इन तीनों विश्वोंके

नरोंके (अधिष्ठाताओंके) परस्परके घर्षणसे जो एक तापधर्म्मा नया अग्नि उत्पन्न होताहै उसीका नाम वैश्वानरहै। यह वैश्वानर पृथिवीसे लेकर द्युलोकतक अभिव्याप्तहै। अतएव इसके लिए—

"आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्" "वैश्वानरो यतते सूर्य्येण" यह कहा जाताहै। अधिदैवतकी तरह अध्यात्ममेंभी मूलाधारस्थ अपानप्राण, कण्ठस्थानीय प्राणप्राण, एवं हृदयस्थानीय व्यानप्राण, इन तीनों प्राणोंके घर्षण से नया वैश्वानर उत्पन्न होताहै। उत्पन्न होकर नखाग्र और लोमोंको छोड कर यह सर्वाङ्ग शरीरमें अभिव्याप्त होजाताहै। शरीरको हम जिस स्थानमें छूते हैं उसी स्थानको गरम पाते हैं, यही इस वैश्वानरकी दृष्टि (प्रत्यक्ष) है। एवं नाक और कानोंको बन्द करने पर जो एक धक् धक् शब्द सुनाई पडताहै वही इसकी श्रुति है। खाएहुए अन्नका परिपाक करना इसी वैश्वानर का कामहै। इसी अभिप्रायसे गीताचार्य कहते हैं—

> *अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।*
> *प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥* (गी० १५।१४) इति॥

इसी वैश्वानरको पुरुष कहते हैं। यद्यपि पुरुषशब्द अव्ययात्माका वाचकहै तथापि "अबध्नन् पुरुषं पशुम्" (उक्थ (बिम्ब) रूप प्रजापतिके अर्क (रश्मि) रूप प्राणदेवताओंने इस पुरुषका पशुरूपसे ग्रहण किया—यजुः ३१।१५) इत्यादि बचनोंसे सम्पूर्ण पुरुषसूक्तमें इसीका प्रतिपादन मानना पड़ताहै, क्योंकि पुरुष[1], अश्व, गो, अवि (भेड) अज इन पांचों पशुओंमें से वैश्वानराग्नि को ही पुरुष पशु कहते हैं। सारे त्रैलोक्यमें इसी वैश्वानरपुरुषका बो-

---

१ इन पांचों पशुओंका स्वरूप क्याहै? वैश्वानरको पुरुष पशु कैसे कहते हैं? इत्यादि विषयोंका विस्तृत विवेचन ६ठे काण्डके "पञ्चपशु ब्राह्मण" में (श० ६।१।२) कियाजायगा।

लबालाहै। यद्यपि संसारमें वैश्वानरअग्नि और सोम दोकी सत्ताहै,इसीलिए'अग्नीषोमात्मकं जगत्'यह कहाजाताहै,परन्तु सोम अग्निमें आहुतहो अग्निही बनजाताहै,सोम अपनी स्वतन्त्रसत्ता नहीं रखनेवाला बरा इसीलिए निःसन्दिग्धशब्दोंमें-"पुरुषएवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चभाव्यम्" यह कहदियाजाताहै। इसप्रकार पुरुषकी स्वतन्त्रता और स्त्रीकी परतन्त्रता भलीभांति सिद्ध होजाती है। उसी वैश्वानर पुरुषसे पुरुषका आत्मा बनताहै, एवं सोमसे स्त्रीका आत्मा बनताहै। स्त्रीका प्रभव सोम उत्तरभागमें रहताहै, उत्तरकोही वाम कहते हैं, अतएव स्त्रीको 'वामा' कहाजाताहै। स्त्री सदा पुरुषके वामभागमेंही रहती है। यही कारणहै कि सामुद्रिक शास्त्रानुसार जब केवल पुरुषके हाथसे उसकी स्त्रीके लक्षणोंकी परीक्षा कीजाती है तो उसमयम उसका वाम हाथही प्रधान रहताहै। क्योंकि पुरुषका वामभाग सौम्य होनेसे स्त्रीभागहै। अग्नि सबलहै, सोम निर्बलहै। अतएव पुरुषमें आत्मनिर्भरताहै, स्त्रीमें आत्मनिर्भरता नहीं है। इसी लिए सौम्या स्त्रीको 'अबला' कहाजाताहै। क्योंकि स्त्री पराश्रितहै, इसमें आत्मनिर्भरता नहींहै, अतएव पिताकी, एवं श्वशुरकी सम्पत्तिमें पुत्रादिकी तरह इनका विभाग नहीं होता। पतिकी मृत्युके बाद यह केवल अन्नवस्त्रकी अधिकारिणी समझी जाती हैं। क्यों समझी जाती हैं? इसकी एक दूसरी वैज्ञानिक उपपत्ति बतलातीहुई श्रुति कहती है—

"ता हता निरष्टा नात्मनश्च नेशत न दायादस्य च नेशत"

(आज्यरूप आग्नेय वज्रसे हतवीर्य होनेसे न इन स्त्रियोंमें आत्मनिर्भरताही है, एवं न यह दायादकी ही अधिकारिणी हैं, श० ४।४।२।१३ इति)। इस विषयका विशद विवेचन नहीं कियाजायगा। अभी केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगाकि- सोम उत्तरभागमें रहताहै, और यह भोग्य होनेसे निर्बलहै। अग्नि दक्षिणभागमें रहताहै, एवं वह सबलहै। इसी विज्ञानके

आधारपर हमारा आयुर्वेद शास्त्र उत्तरदिशामें सौम्य औषधियोंको श्रेष्ठ बतलाताहै और दक्षिण दिशामें आग्नेय औषधियोंको श्रेष्ठ बतलाताहै । आयुर्वेदके मतानुसार आग्नेय औषधिएं दक्षिणभागस्थ विन्ध्यपर्वतके समीप की ही हितकरहैं, एवं सौम्य औषधिएं उत्तरभागस्थ हिमालयके समीपकी ही हितकरहैं । इसी अभिप्रायसे "आग्नेया विन्ध्यशैलाद्या०" इत्यादि कहा जाताहै । इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर वाग्भट कहते हैं—

हिमवद्विन्ध्यशैलाभ्यां प्रायो व्याप्ता वसुन्धरा ।
सौम्यं पथ्यं च तत्राद्यमाग्नेयं विन्ध्यमौषधम् ॥

(अष्टाङ्गसंग्रह भेषजकल्प अ० ८)

उत्तर दिशामें हिमालय पर्वतहै और दक्षिण दिशामें विन्ध्य पर्वतहै, यह पहिलेही बतलायाजाचुकाहै ।

अग्निवेश संहिताके प्रतिसंस्कर्त्ता चरकने भी इसी मतकी पुष्टि की है । अपिच, स्त्री सौम्याहै, और पुरुष आग्नेयहै इसीलिए ऋतुकालमें गर्भाधानके लिए जब पतिपत्नी शय्यापर आरूढ होतेहैं तो उससमय उस शय्यापर पुरुषको पहिले अपने दहिने पैर रखनेका आदेशहै, एवं स्त्रीको बांएं पैर रखनेकी आज्ञाहै (देखो चरक शारीरस्थान अ० ८ प्र० ७) अग्नि दक्षिणमें रहता है सोम उत्तरमें रहताहै । इस विषयमें शास्त्रीय प्रमाण बतलादिएगए । अब एक दो प्रत्यक्षप्रमाण बतलाकर इसप्रकरणको समाप्त कियाजाताहै । सबसे पहिला प्रत्यक्षप्रमाण हमारा शरीरहै । हमारे शरीरका वामभाग सोमसे बनाहै, अतएव वह निर्बलहै, एवं दहिनाभाग अग्निसे बनाहै, अतएव वह सबलहै । जितना बोझा आप दहिने हाथसे उठासकते हैं, एवं जितना काम आप दहिने हाथसे करसकते हैं, बांएं हाथसे आप न उतना बोझाही उठासकते, न उतना काम ही करसकते । मास्टरके दहिने हाथसे लड़केको जिस वेदनाका अनुभव होताहै, बांएं हाथसे उतनी वेदना नहीं होती । बांएं हाथकी अपेक्षा दहिने

हाथमें अधिक दक्षता रहती है, अतएव इसे 'दक्षिण हस्त' कहाजाताहै। आ-तीजाती सवारियोंकी मुठभेड़को रोकनेके लिए सड़कोंपर स्थान स्थानपर साइनबोर्डोंपर 'सवारी बांएं तरफको' यह लिखारहताहै। हमारे वेदविज्ञान से इसको उपपत्तिभी मालुम होसकती है। सोम निर्बलहै, यह कहाजाचुका है। यह सोम अग्निमें आहुत होताहै। अग्नि प्रतिष्ठातत्व होनेसे अपने स्थान पर प्रतिष्ठित रहताहै। झुकना सोमका स्वभावहै। सौम्य वामभाग जिस सरलतासे झुकसकताहै, आग्नेय दक्षिणभाग उतनी सरलतासे नहीं झुक सकता। बस पूर्वके अक्षर इसी आधारपर लिखेगएहैं। सारे प्रपञ्चसे प्रकृत में हमें यही बतलानाहैकि स्त्रीरूप सोम, पुरुषरूप अग्निके उत्तरभागमें रहता है। क्योंकि प्रकृतियज्ञमें ऐसाहै- अतएव हमें अपने इस वैधयज्ञमेंभी स्त्रीरूप पानीको पुरुषरूप आहवनीयके उत्तरभागमेंही रखना चाहिए। एक बात और है। यदि स्त्री पुरुषके उत्तरभागमें सोयाकरती है तो प्रायः उसके लड़काही होताहै, यदि स्त्री दक्षिणभागमें सोती है तो लड़की होती है। कारण इसका यही है कि दक्षिण–पुरुषका स्थानहै, उस भागमें स्त्रीका चलाजाना पुरुष भागपर स्त्रीका अधिकार (स्त्रीकी प्रधानता) होजानाहै, एवं उत्तर स्त्रीका स्थान है, इसकी ओर पुरुषका झुकना- पुरुषका स्त्रीपर अधिकार होनाहै। दोनोंमेंसे जिसका भ्रूण प्रबल होताहै वह दूसरे निर्बल भ्रूणको अपने में लीन करलेताहै बस ऐसी अवस्थामें उस प्रबल भ्रूणके ही चिन्ह रहजाते हैं। ज्योतिष शास्त्रका सिद्धान्तहै कि जिस पुरुषके पहिले पहिल लडकी होतीहै उसका वंश शीघ्रही नष्ट होजाताहै। इस दोषको दूर करनेके लिए महर्षि-योंनें पुंसवनादि संस्कार रक्खेहैं। यह संस्कार गर्भाधान संस्कारके दूसरे महिनें में होताहै। गर्भाशयमें प्रतिष्ठित गर्भमें दूसरे महिनें तक स्त्री और पुरुष दोनों के चिन्ह रहतेहैं। दूसरे महिने के अनन्तर योषा भ्रूण और वृषाभ्रूण दोनों में से जो भ्रूण प्रबल होताहै, दूसरे शब्दों में जिसका भ्रूण-

प्राण प्रबल होताहै उसकी वृद्धि होने लगती है। और दूसरेका ह्रास होने-लगताहै। यदि स्त्री प्राण प्रबल होताहै तो स्त्रीके चिन्ह उल्वण होने लगतेहैं और पुरुषके चिन्ह नष्ट होनें लगतेहैं, यदि पुरुष प्राण प्रबल होताहै तो पुरुषके चिन्ह उल्वण होने लगतेहैं और स्त्रीके चिन्ह नष्ट होने लगतेहैं। स्त्रीके सबल होनेसे और पुरुषके निर्बल होनेसे, पुरुषका अधिक रूपसे स्त्रीके उत्तरभागमें सोनेसे, गर्भाधानके समय स्त्री नक्षत्रकी प्रधानता रहनेसे, ऋतुकालके ३ रे, ५ वें, ७ वें, ९ वें, इसप्रकार अयुग्म दिनों में सम्बन्ध करनें से (देखो सुश्रुत शा० स्थान) एवं औरभी कईएक कारणोंसे जिनकाकि विस्तार भयसे प्रकृतमें निरुपण नहीं कियाजासकता स्त्रीका भ्रूण प्रबल रहताहै। ऐसी अवस्थामें इसके प्रायः लडकीही होती है। पहिले पहिल लडकीका होना वंशनाश का कारणहै। इस आपत्तिको दूर करनेंके लिए दयालुमहर्षियोंनें 'पुंसवन' संस्कारका विधान कियाहै। माताके गर्भाशयमें सिक्त पिताके शुक्र और माताके शोणित (रज) के संयोगसे गर्भक्रमशः किन किन अवस्थाओं में परिणत होताहै- इसका विवेचन करतेहुए सुश्रुताचार्य कहतेहैं—

"प्रथमे मासि कललं जायते, द्वितीये शीतोष्मानिलैरभिपच्यमानानां महाभूतानां संघातो घनःसंजायते-यदिपिण्डः (तर्हि) पुमान्, स्त्री चेत्पेशी, नपुंसकं चेदर्बुदमिति" (सु०शा०) पहिले मासमें वह शुक्रशोणित कलल रूपमें परिणत होताहै। हस्त पाद मुखादि चिन्होंसे रहित पिघलाहुआ साथही में कुछ बंधाहुआ जो शुक्रशोणित का समुदायहै उसेही 'कलल' कहतेहैं, दूसरे महिनें में शीत, (सर्दी) ऊष्मा, (गर्म्मी) और प्रधानरूपसे वायु, इनतीनोंके सम्बन्ध होनेसे महाभूतोंकी समष्टि रूप शुक्रशोणितका समुदाय घनावस्थामें परिणत होजाताहै। गर्भकी द्रवता जाती रहतीहै, एवं वह ठोस बनजाताहै। विशकलित परमाणु परस्पर ग्रन्थिबंधनमें बंधजातेहैं। यदि वह घनता

इस प्रयोगसे स्त्रीके चिन्ह नष्ट होनेलगतेहैं और पुरुषके चिन्ह उत्पन्न होनेलगतेहैं। इसप्रकार इस संस्कारसे अवश्यमेव लडका होताहै। इसीलिए 'पुमान्प्रसूयते अनेन' (जिस संस्कारसे लडका पैदा कियाजाताहै) इस व्युत्पत्तिसे इसे पुंसवन कहाजाताहै। पुंसवन संस्कारके अतिरिक्त दूसरा उपायहै-पुरुषका स्त्रीके दक्षिण भागमें सोना। इससे पुरुष प्राण स्वभावतः प्रबल रहताहै। हमें यज्ञपुरुष पैदा करनाहै। पुरुषकी उत्पत्तिकेलिए स्त्रीका उत्तरभाग में रहना आवश्यकहै। इस लिएभी योषारूप पानीको वृषारूप आहवनीयके उत्तरभागमें रक्खा जाताहै। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर-

"योषा वा आपः, वृषाग्निः। मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते। एवमेहि मिथुनं क्लृप्तम्। उत्तरतोहि स्त्री पुमांसं समुपशेते" यह कहा गयाहै॥ २०॥

जब आहवनीयके उत्तरभागमें पानी रखदिया जाताहै तो इस मन्त्रपूत पानी मेंसे, और दिव्याग्निमय आहवनीयमें से एक प्रकारकी विद्युत् निकलती है। इन्हीं दोनोंका परस्पर मिथुन होताहै। इसी मिथुनसे नया आत्मा बननेवालाहै। यदि इस समय कोई ऋत्विक् इस पानी और आहवनीयके बीच में आजायगा तो इन दोनोंकी विद्युत्में इस मनुष्यकी विद्युत् घुसपडेगी। विजातीय विद्युत् प्राणके समावेशसे उसी क्षण इनका मिथुनभाव दूर होजायगा। तात्पर्य यही है कि इससमय पानीकी शीतलता आहवनीय अग्निमें मिलरहीहै और अग्निकी गर्मी इस पानीमें आरहीहै। ऐसी अवस्थामें यदि हम दोनोंके बीचमें घुसपडेंगे तो हमारे शरीरकी गर्मी उनदोनोंके मिथुन भावमें घुसपडेगी। विजातीय गर्मीके प्रविष्ट होतेही दैवात्मामें विकृति उत्पन्न होजायगी। एक प्रकारसे आत्महत्या होगी ऐसा नहो-इसलिए नियमित समय पर्यन्त इन दोनोंके बीचमें होकर किसीको नहीं निकलना चाहिए। इससे श्रुति शिक्षा देती है कि जब कभी स्त्री पुरुष मिथुन भावापन्न हों तब

भूलकर भी किसीको वहां नहीं जाना चाहिए। यदि वह चलाजायगा तो उसे ब्रह्महत्याका पाप लगेगा।

इस पानीको अग्निसे सर्वथा दूरभी नहीं रखना चाहिए, एवं बिलकुल समीपभी नहीं रखना चाहिए। क्योंकि दोनों प्रकारसेही हानि है जैसाकि अनुवादमें बतलाया जाचुकाहै। तात्पर्य यहीहै कि अग्निमें एकप्रकारका रुद्र प्राण रहताहै। पदार्थ निर्माणमें दूसरे शब्दोंमें प्रजोत्पत्तिमें बाधा पहुंचानाही इसका कामहै। पासमें रक्खाहुआ पानी इस रुद्रके रुद्रत्वको अपने शीतल परमाणुओंसे शान्तकरदेताहै। रुद्रको साम्ब सदाशिव बनाडालताहै। रुद्रभावके निकलतेही वह प्राण शिवरूपमें परिणत होताहुआ प्रजोत्पत्तिका कारण बनजाताहै। बस जिस रुद्रको निकालनेके लिए, रुद्रको शिवबनानेके लिए पानी रक्खा जाताहै, वह प्रयोजन प्रणीतापात्र को बहुत दूर रखनेसे भी सिद्ध नहीं होसकता, एवं बिलकुल समीप रखनेंसे भी काम नहीं चलसकता। इससे श्रुति शिक्षा देतीहै कि स्त्री और पुरुष दोनोंको अङ्ग सम्बन्ध करकेभी शयन नहीं करना चाहिए, एवं सर्वथा अन्तरभी नहीं रखना चाहिए। "अतिसामीप्यात्०" (सां० का०) के अनुसार अङ्गस्पर्श से दोनोंकी विद्युत् नष्ट होजाती है, एवं दूर रहनेसे सम्बन्ध ही नहीं होने पाता। बस अपांसादनकी यही सूक्ष्म उपपत्ति है।

इति अपांसादनोपपत्तिः।

(इत्यपांप्रणयनम्)

अथ तृणैः परिस्तृणाति । द्वन्द्वम्पात्राण्युदाहरति शूर्पञ्चाग्निहोत्रहवणीञ्च स्फ्यञ्च कपालानि च शम्याञ्च कृष्णाजिनञ्चोलूखलमुसले दृशदुपले तद्दश दशाक्षरा वै विराड्विराड् वै यज्ञस्तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभिसम्पादयत्यथ यद्द्वन्द्वं द्वन्द्वं वै वीर्य्यं यदा वै द्वौ सꣳरभेतेऽथ तद्वीर्य्यम्भवति द्वन्द्वं वै मिथुनम्प्रजननम्मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते ॥ २२ ॥

इति प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके प्रथमाध्याये वा प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

१

अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्

अथ शूर्पञ्चाग्निहोत्रहवणीञ्चादत्ते । कर्म्मणे वां वेषाय वामिति यज्ञो वै कर्म्म यज्ञाय हि तस्मादाह कर्म्मणे वामिति वेषाय वामिति वेवेष्टीव हि यज्ञम् ॥ १ ॥

---

४ अथ परिस्तरणं पात्रासादनं च

अथ तृणैः परिस्तृणाति । द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति–शूर्पं चाग्निहोत्रहवणीं च, स्फ्यं च कपालानि च, शम्यां च, कृष्णाजिनं च, उलूखलमुसले, दृश-

दुपले,—दश । दशाक्षरा वै विराट् । विराड्वै यज्ञः । तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभिसंपादयति । अथ यद्वन्द्वं—द्वन्द्वं वै वीर्यम् । यदा वै द्वौ संरभेते—अथ तद्वीर्यं भवति । द्वन्द्वं वै मिथुनम्प्रजननम् । मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते ।

अथ शूर्पञ्चाग्निहोत्रहवणीञ्चादत्ते-"कर्मणे वां वेषाय वाम्" (१ अ. ६ मं.) इति । यज्ञो वै कर्म्म, यज्ञाय हि । तस्मादाह—कर्मणेवामिति, वेषाय वामिति, वेवेष्टीव हि यज्ञम् ॥

(प्रणीतापात्रके रखनेके) अनन्तर (अध्वर्यु अथवा यजमान दोनोंमें से एक याज्ञिक आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि तीनोंकेपास चारोंओर) तृणोंसे परिस्तरण करता है, अर्थात् तीनोंके समीप नियत स्थानपर दर्भ बिछाताहै । (परिस्तरणके बाद) गार्हपत्यके उत्तरभागमें अनुपदमेंहीं बतलाएजानेवाले क्रमके अनुसार द्वन्द्व (सम्पत्ति से युक्त) पात्रोंको रखताहै । (उस परिस्तरण पर) शूर्प[१] अग्निहोत्रहवणी[२], स्फ्य[३] कपाल[४], शम्या[५] कृष्णाजिन[६], उलूखल[७] मुसल[८], दृषत्[९] उपल[१०], इस क्रमसे दो दो पात्रों को रखताहै । (इन पांच द्वन्द्वोंके कुल) १० पात्र होजातेहैं । विराट्छन्द १० अक्षरका है । विराट्ही यज्ञहै । (ऐसी अवस्थामें १० पात्र रखताहुआ अध्वर्यु) विराट्रूप यज्ञको ही सम्पन्न करताहै अर्थात् विराट्यज्ञकी सम्पत्ति प्राप्त करलेता है । (अपिच यहां जो) द्वन्द्व होताहै (उसका एक प्रयोजन औरभी है) । द्वन्द्व वीर्य्य स्वरूपहै । जब दो मनुष्य (एक कार्यको प्रारम्भ करतेहैं तो वह कार्य) वीर्य्यवान् होताहै- ठोस होताहै । (हमारा यज्ञकर्म्म वीर्य्ययुक्त हो बस पात्रोंको युग्मरूप से रखनेकी यही दूसरी उपपत्तिहै) । (अपिच) द्वन्द्वही मिथुन (होनेसे) प्रजनन (क्रियाका साधकहै) । (ऐसी अवस्थामें) दो दो पात्र रखता हुआ अध्वर्यु मिथुन (भाव सम्पन्न करताहुआ उससे) प्रजनन क्रिया करताहै ॥ २२ ॥

(वह अध्वर्यु) 'कर्म्मणे वां वेषाय वाम्' यह मन्त्र बोलताहुआ शूर्प और अग्निहोत्रहवणीको उठाताहै । यज्ञही कर्म्महै । यज्ञके लिएही (इन पात्रोंको

उठताहै) अतएव 'कर्म्मणे वाम्' यह कहाहै । इन पांचोंसे यज्ञको वेष्टितसा करताहै ॥ १ ॥

अपांप्रणयन और अपांसादन कर्म्म होचुका। अब क्रमप्राप्त पात्रासादन कर्म्म प्रारम्भ करते हैं। दर्शपूर्णमासेष्टि में जिन पात्रोंकी आवश्यकता होती है उन्हें पहिलेसेही नियत स्थानपर रखदिए जाते हैं जिससेकि समयपर गडबड न होसके । जिन १० पात्रोंका अनुवादमें निर्देश कियागयाहै- वे पात्र यज्ञके आयुध कहलाते हैं। यज्ञसे दिव्यात्मा उत्पन्न होताहै- एवं उसके बलसे असुरोंका नाश कियाजाताहै। असुरोंको नष्ट करनेवाले यज्ञके स्वरूप संपादक यही १० पात्रहैं- अतएव इन्हें अवश्यही यज्ञायुध (यज्ञपुरुषरूप सेनापतिके शस्त्र) कहाजासकताहै । बिना शस्त्रके जैसे पुरुष अपने शत्रुके मारने में सर्वथा असमर्थ रहताहै, एवमेव विना इन यज्ञपात्रोंके यह यज्ञपुरुष असुरों को मारने में और दिव्यात्मा उत्पन्न करने में सर्वथा असमर्थही रहताहै क्यों कि यज्ञका स्वरूप इन्हीं पात्रों के संभारसे निष्पन्न होताहै । इन १० पात्रों को यथा स्थान रखने से पहिले गार्हपत्यसे आहवनीय तक अभिव्याप्त यज्ञ-पुरुषकी नग्नता दूर करनेके लिए गा० आह० दक्षि० तीनों के पास दर्भ बिछाए जाते हैं। इस वैधयज्ञकी आकृति पुरुष (मनुष्य) के समानहै जैसा कि आगे आनेवाले 'यज्ञपुरुष ब्राह्मण' में विस्तारके साथ बतलाया जायगा। पुरुषके शरीरपर केवल त्वचाहै । गाय, भैंस, बकरी, आदिके शरीरपर त्वचा और चर्म्म दोनोंहैं। इस चर्म्मके कारणही यह पशु शीत, वर्षा, गरमी आदि सहने में समर्थ होते हैं । प्रजापतिने इन पशुओं में ज्ञानकी मात्राको अप्रकाशित रक्खाहै । अतएव यह मनुष्यवत् कपासकी खेती करने में और शरीरको सर्दी गर्मी से बचानेके लिए उस कपासको वस्त्ररूपमें परिणत करने में असमर्थ हैं ।.बस इसी लिए प्रजापतिने हम मनुष्योंकी अपेक्षा इनमें चर्म्म अधिक प्रदान कियाहै। इधर मनुष्यमें पशुओंकी अपेक्षा ज्ञानमात्रा

भिन्नहै। यह अपने ज्ञानबलसे वस्त्र बनाकर अपने शरीरको सर्दी गर्मीसे बचा सकते हैं। इसी लिए प्रजापतिने इनमें चर्म्मका अभाव रक्खाहै। अतएव वैदिक परिभाषानुसार इन्हें "निकृत्तचर्म्मा" कहाजाताहै। मनुष्यों में केवल त्वचा है, और पशुओं में चर्म्म और त्वचा दोनों हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि वधिक जब बकरेके ऊपरसे चर्म्म खेंचताहै तो उसमेंसे पहिले रुधिर नहीं निकलता अपितु चर्म्मके भीतर पहिले एक पतलीसी लालगुलाबी झिल्ली दिखाई देती है। यह उस मांसपिण्डका पहिला आवरण है। जब इसमें छुरिका प्रहार कियाजाताहै तब रुधिर निकलताहै। इसप्रकार पशुओं में दो आवरणोंकी सत्ता सिद्ध होजाती है। परन्तु मनुष्योंमें यह बात नहीं है। पहिले आवरणको हटानेमात्रसे ही इनमेंसे खून निकलपड़ेगा। आप मनुष्यके शरीरपर जो आवरण देखरहे हैं वह वही लाल झिल्ली है। बाहरके रुद्रवायुके आघातसे उसकी लाली मारीगई है। क्योंकि पुरुषों में चर्म्मका अभावहै अतएव यह गर्मी सर्दी सहने में असमर्थ हैं। अतएव प्रजापति इन्हें पशुओंकी अपेक्षा अधिक ज्ञान मात्रा देताहुआ इन्हें आज्ञा देताहै कि तुम गर्मी सर्दी से बचनेके लिए वस्त्र पहिनो। बिना वस्त्रके तुम नंगेहो। यही कारणहै कि मनुष्यों में वस्त्र पहिननेकी स्वाभाविक वृत्तिहै। जो जंगली मनुष्य वस्त्र नहीं पहिनते उन्हें बिना सींग पूंछके साक्षात् पशुही समझने चाहिए। कहना इससे हमें यही है कि बिना वस्त्रके पुरुष नग्नहै, अधूराहै। अतएव उसे वस्त्र पहिनना आवश्यक होजाताहै। इसी पुरुषकी प्रतिकृतिपर इस वैध यज्ञपुरुषका वितान कियागयाहै। बिना वस्त्रके (आवरणके) यह यज्ञपुरुष नग्नहै, अतएव प्रकृतिवत् इसकी नग्नता दूर करनेके लिए इसपर दर्भका परिस्तरण करना आवश्यकहै। यह पुरुष सामान्यपुरुष नहीं है अपि-

---

१ इस विषयका विस्तृत विवेचन तीसरे काण्डके दूसरे ब्राह्मणमें कियाजायगा (शत० ३।१।२)।

तु यज्ञपुरुषहै। अतएव यह सामान्य वस्त्र नहीं पहिनसकता अपितु इसकी नग्नता यज्ञिय वस्त्र से ही दूर की जासकती है। ऐसा वस्त्रहै दर्भ। दर्भ यज्ञिय पदार्थ है इसका विवेचन इसी काण्डके तीसरे ब्राह्मणमें कियाजायगा (श० १।१।३)। बस इसी लिए सबसे पहिले यज्ञपुरुषकी नग्नता दूर करने के लिए इसपर दर्भका परिस्तरण कियाजाताहै। यद्यपि श्रुतिमें सामान्यतः "तृणैः परिस्तृणाति" यही कहागयाहै परन्तु "यज्ञिया वै दर्भाः" (यज्ञिय तृण दर्भ हैं) इस अन्य श्रुतिप्रमाणसे प्रकृतमें तृणशब्दसे दर्भकाही ग्रहणकियाजाना उचितहै। आह० गार्ह० दक्षि० तीनों कुण्डोंके चारों ओर परिस्तरण कियाजाताहै। इन तीनोंमें मस्तक स्थानीय होनेसे आहवनीय प्रधान है। अतः सबसे पहिले इसीके समीप परिस्तरण कियाजाताहै। मस्तकमेंभी आगे रहनेसे मुखभाग प्रधानहै। शरीरगत प्राणदेवताओंके लिए इसीमें अन्नरूप सोमकी आहुति दीजाती है। अतएव आहवनीयकी चारों दिशाओं मेंसे मुखरूप होनेके कारण पहिले पूर्वभागमें ही परिस्तरण कियाजाताहै। यहांपर उन दर्भ तृणोंको उत्तराग्रक्रमसे बिछाते हैं। अर्थात् दर्भका अग्रभाग (सूक्ष्म भाग) उत्तरकी ओर रहताहै। और मूल भाग दक्षिणकी ओर रहता है। इसके अनन्तर आहवनीयके दक्षिणभागमें पूर्वाग्र क्रमसे, पश्चिममें उत्तराग्र क्रमसे, उत्तरमें पूर्वाग्र क्रमसे परिस्तरण कियाजाताहै। तात्पर्य्य यही हैकि पूर्व और पश्चिम भागमें जोदर्भ बिछाए जाते हैं, उनका अग्रभाग उत्तर में रहना चाहिए और मूलभाग दक्षिणमें रहना चाहिए। और दक्षिणोत्तर भागमें जो दर्भ बिछाएजाते हैं उनका अग्रभाग पूर्वदिशाकी ओर रहना चाहिए, और मूलभाग पश्चिमकी ओर रहना चाहिए। ऐसा क्यों कियाजाता है, इसकी उपपत्ति अग्निहोत्र प्रकरणमें बतलाई जायगी, विस्तारभयसे यहां पर इसे छोड़ते हैं। जिस क्रमसे आहवनीयके चारों ओर परिस्तरण होता है उसी क्रमसे गार्हपत्यके चारों ओर परिस्तरण करना चाहिए एवं उसी

क्रमसे दक्षिणाग्निके चारों ओर परिस्तरण करना चाहिए। परिस्तरणानन्तर गार्हपत्यके उत्तरभागमें उस दर्भ परिस्तरणपर दो दो पात्रोंका युग्म बनाकर पूर्वोक्त १० सों यज्ञायुध रखदिए जाते हैं। इसी अभिप्रायसे कात्यायन कहते हैं—

"तृणै (दर्भतृणै) रग्नीन् (गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्नीन्) परिस्तीर्य पुरस्तात् प्रथमं द्विशः पात्राणि संसादयति" (का० श्रौ० सू० २।३।१६ इति)।

सूत्रमें पढ़ेहुए 'पात्राणि' को—पात्री पवित्रच्छेदनार्थसे प्रसिद्ध तीन नए दर्भ, दोपवित्र और उपवेष (धृष्टि), आज्यस्थाली उपसर्जनी पात्र, वेद (कुशमुष्टि) अन्वाहार्यपात्र, वेदितृण अभ्रि, योक्त्र स्रुव, जुहू उपभृत, ध्रुवा सम्नहन—अवच्छादन, तीनपरिधि दोविधृति, आज्य पुरोडाशपात्री, होतृषदन शृतावदान, औषध (व्रीहिअथवायव) प्राशित्रहरण, अन्वाहार्य तण्डुल अन्तर्धान शकट, पूर्णपात्र दोसमित्, इत्यादि युग्मोंका उपलक्षण समझना चाहिए। इसी अभिप्रायसे—"शूर्पाग्निहोत्रहवण्योऽर्थवच्च" (का० श्रौ० सू० २।५।३) इस सूत्रमें अर्थवत् 'पद दियागयाहै। दर्शपूर्णमासेष्टिमें शूर्पादि १० यज्ञायुधों के अतिरिक्त जिन इतर द्रव्योंकी और पात्रोंकी आवश्यकता होती है उनकाभी इन १० के साथही युग्मक्रमसे संभरण करलेनाचाहिए' सूत्रगत अर्थवत् शब्दका यही तात्पर्य्यहै। इन सारे यज्ञपात्रों में से प्रकृतमें हमें केवल मूलमें कहेहुए १० पात्रोंका ही स्वरूप बतलावेंगे। इतर पात्रोंका स्वरूप आगेके भिन्न भिन्न प्रकरणोंसे गतार्थ होजायगा।

१—शूर्प—

१० आयुधोंमें से सबसे पहिला शूर्प है। लोकभाषामें जिसे "छाजला" कहते हैं, वेदभाषामें वही "शूर्प" नामसे प्रसिद्धहै। यह शूर्प बांसकी फरचटों

का अथवा नडोंका होताहै। यह चोकोर होताहै, एवं चारों भाग अरत्नि मात्र (एक हाथ लम्बेचौडे) होते हैं। यह चर्म्मसे वेष्टित रहताहै। ब्रीहि, यव, आदिके तुष निकालनेके लिए यज्ञमें इसका ग्रहण कियाजाताहै।

२–अग्निहोत्रहवणी—

दूसरा आयुध अग्निहोत्रहवणी है। यह विकङ्कतकी लकडीकी होती है। इसकी लम्बाईके विषयमें–प्रादेशमात्री (१० अंगुलका एक प्रादेश होताहै), अरत्निमात्री, बाहुमात्री, यह तीन पक्ष हैं। इसीको 'अग्निहोत्र हवणी स्रुक' कहते हैं। अग्रभाग गोल होताहै। उसमें बिल रहताहै। इसमें घृत भरकर आहुति दीजाती है। अग्निहोत्रमें इसीसे आहुति दी जाती है।

३–स्फ्य—

तीसरा आयुध–'स्फ्य' है। खड्गकी आकृति जैसा, अरत्नि (अरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना (कोष ६ का० मनु० वर्ग ८६ श्लो०) इस कोषप्रमाणके अनुसार–कनिष्ठ अंगुली (चिट्टी अंगुली) को बाहर निकाले बाद मुट्ठी बंधा हुआ जो बाहु है- उसेही अरत्नि कहते हैं) मात्र लम्बा, चार अंगुल चौडा किन्तु अग्र भागसे तीक्ष्ण(नोंकदार)खदिर(खैर)अथवा विकङ्कत(कंटाई)दोनोंमेंसे किसी एक की लकड़ीका बनाहुआ जो आयुधहै- उसेही स्फ्य कहते हैं। इसीको वज्रभी कहते हैं (देखो शत० १।२।४।१।२)। स्फ्यसे प्रहारादि कर्म्म होताहै। पलाश (छीला), खदिर (खैर), प्लक्ष (पाखर) बट, अश्वत्थ (पीपल), उदुम्बर (गूलरका वृक्ष), क्रमुक (सुपारीका वृक्ष), वरण (वरना) बिल्व, शमी, विकङ्कत (कंटाई), काष्मर्य (श्रीपर्णी) सरल, साल (सांखु), देवदारु, चन्दन, इतने वृक्ष यज्ञिय वृक्ष कहलाते हैं। यज्ञमें जो पात्र बनाए जाते हैं- इन्हीं लकड़ियोंके बनाए जाते हैं। इन यज्ञिय वृक्षोंमें से जहां जिसकी आवश्य-

कता होती है वहां उसीका ग्रहण होताहै। इन यज्ञिय वृक्षोंमें से- खैर और विकङ्कत बहुत मजबूत लकड़ी होती है। स्फयसे प्रहारादि कर्म्म होताहै अतएव उसका निर्म्माण सुदृढ खैर अथवा विकङ्कत दोनोंमें से किसी एकके काष्ठसे ही होना चाहिए। खैर और विकङ्कत दोनोंमें से खैर तो प्रसिद्धही है। दूसराहै विकङ्कत। यह विकङ्कत मधुपर्णी, पिंडार, गोपघोण्टा, किंकरी, पूतकिंकिणी, हिमक, आदि नामोंसे प्रसिद्धहै। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें इन दोनोंकी बहुतही प्रशंसाहै। गायत्रीने (४ आत्मा, ३ पक्षपुच्छ, १ शिर इन आठ भागोंमें विभक्त अतएव अष्टाक्षरानामसे प्रसिद्ध पार्थिव छन्दोमय प्राणाग्नि ने) देवताओंकी (प्राणरूप आग्नेय पार्थिवदेवताओंकी) आज्ञासे तीसरे द्युलोकमेंसे ("नभोऽन्तरिक्षंगगनमनन्तं सुरवर्त्म खम्" इस कोशप्रमाणसे पृथिवी और सूर्य्यके बीचका अन्तरिक्ष पहिला स्वर्गहै, सूर्य्य स्थान दूसरा स्वर्गहै। सूर्य्यके ऊपरका सोममय पारमेष्ठ्य मण्डल तीसरा स्वर्ग है। इसीमें सोम रहताहै इसी तीसरे लोकसे) बाज बनकर सोमापहरण[1] कियाथा। जिससमय गायत्रीने पक्षि बनकर झपाटेके साथ सोमपर आक्रमण कियाथा उससमय उसने इस खैरकोही आक्रमणका साधन बनायाथा। इसी खादिरकी सहायतासे गायत्री सोमापहरण करनेमें समर्थ हुईथी। "खद-इरा यस्य" खदिर शब्दकी यही व्युत्पत्तिहै। रसको इरा कहते हैं। जिसका रस चोट करनेवाला होताहै वही खदिर कहलाताहै। पृथिवीका गायत्रअग्नि खदिरयुक्तहै अर्थात् इसमें आघात करनेवाला घन प्राण रहताहै। गायत्रतेज इसी घन प्राणके कारण वस्तु

---

१ सोमापहरण करनेवाली गायत्री कौनसी है? इसने सोमापहरण कैसे किया? आदि विषयोंका वैज्ञानिक विवेचन तृतीय काण्डके धिष्ण्य ब्राह्मणमें (शत० ३।६।२) कियाजायगा। सर्पोंकी माता विनता, और गरुडकी माता कद्रूकी परस्परकी प्रतिस्पर्द्धा से सम्बन्ध रखनेवाले सुप्रसिद्ध पौराणिक आख्यानकी वैज्ञानिक उपपत्तिका भी इसी सौपर्णाख्यानसे सम्बन्धहै।

को फाडदेनाहै। आप जिसे खैरका वृक्ष कहतेहैं- यह उसी खदिर प्राणकी महिमाहै। इस कठिनताका कारण एकमात्र सोमही है। सारे प्रपंचसे यहां हमें केवल यही बतलानाहै कि खैरकी लकड़ी बहुतही मजबूतहै। स्फ्यसे आघात कियाजाताहै अतएव इसे खैरकी लकड़ीका ही बनाना उचितहै।

४—कपाल—

चौथा आयुध कपालहै। घोड़के खुरके आकारके पुरोडाश पकानेके लौकिकाग्निमें पकेहुए जो मिट्टीके पात्र विशेषहैं उन्हींको कपाल कहाजाताहै। देवताके भेदसे इनकी संख्यामें भेद होताहै। अग्निके लिए आठ कपाल होते हैं। क्योंकि अग्नि अष्टाक्षरा (अष्टावयव) है। आठों कपाल जुडेहुए रहते हैं। इनमें अग्निके लिए पुरोडाश पकाया जाताहै अतएव इसे "आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश" कहाजाताहै। इन्द्रका त्रिष्टुप्छन्दहै। त्रिष्टुप् एकादशाक्षराहै। अतएव इन्द्रके लिए ११ कपाल बनाए जाते हैं। एवं उस में परिपक्व पुरोडाश 'ऐन्द्र एकादश कपालपुरोडाश' कहलाता है। आदित्य १२ हैं। उनका छन्द द्वादशाक्षरा जगती है। अतएव आदित्योंके लिए १२ कपाल होतेहैं। इसीलिए यह पुरोडाश 'आदित्य द्वादश कपाल पुरोडाश' कहलाताहै। अग्नि अष्टावयहै, विष्णु—त्रिवृत्, पंचदश, एकविंश भेदसे तीन विक्रमवालेहैं। अग्निके आठ अक्षरोंमें विष्णुके जब तीन अक्षर मिलादिए जातेहैं तो ११ अक्षर होजाते हैं। अतएव 'आग्नावैष्णव पुरोडाश' ११ कपालोंमें पकाया जाताहै। इसीलिए यह पुरोडाश 'आग्नावैष्णव एकादश कपाल पुरोडाश' कहलाताहै। कहना यही है कि कपाल संख्या भिन्न भिन्न देवताओंके स्वरूपके अनुसार नियतहै। इन कपालोंको कुम्हार नहीं बनाता अपितु स्वयं अध्वर्युकोही इनका निर्म्माण करना पडता है।

५-शम्या—

पांचवा आयुध शम्याहै। यह आयुध खदिर, वरण, विकङ्कत तीनों में से किसी एकका बनताहै। इसकी लम्बाईके विषयमें प्रादेशमात्र, ३२ अंगुल, ३६ अंगुल यह तीन मतहैं। जिससमय दृषद्‌पर तण्डुल पीसे जाते हैं उस समय इस आयुधको दृषद्‌के नीचे रक्खा जाताहै।

६-कृष्णाजिन—

छठा आयुध कृष्णाजिनहै। काले हिरणके चर्म्मका नामही कृष्णाजिन है। इस चर्म्ममें चारों पैर और ग्रीवायुक्त शिरोभाग होना चाहिए- अर्थात् पूरा मृगचर्म्म होना चाहिए। कितनोंहीं के मतानुसार ग्रीवा रहितका भी ग्रहण होताहै। ऊखलमें मूसलसे व्रीहि कूटे जाते हैं तो उस समय मूसलके आघातसे बाहर उछटे हुए हविकी रक्षाके लिए इस कृष्णाजिनको ऊखलके नीचे बिछाया जाताहै। यह[1] कृष्णाजिन वेदत्रयीरूप होनेसे यज्ञस्वरूपहै व्रीहि यज्ञिय द्रव्यहै। यज्ञियद्रव्यका अयज्ञियस्थानमें पतन नहो इसीलिए ऊखलके नीचे यज्ञरूप कृष्णमृगचर्म्मको बिछाना आवश्यक होजाताहै। इस पर उछटके गिराहुआ हविर्द्रव्य यज्ञपरही प्रतिष्ठित रहताहै।

७-उलूखल—

सातवां आयुध उलूखलहै। पलाश, वरुण, खदिर, अथवा काश्मर्य्यादि और किसीभी मजबूत लकडीका उलूखल बनाया जाताहै। इसके नीचेका अधोभाग ठोस होताहै। ऊपरका भाग बिलयुक्त होताहै। इसका पेंदा

---

१ कृष्णाजिन त्रयीवेदस्वरूप कैसे है? इसका वैज्ञानिक विवेचन इसी काण्ड के चौथे ब्राह्मणमें कियाजायगा।

पसराहुआ होताहै। मुंह चौडा होताहै। मध्यभागमें रास्ना होती है। अरत्नि मात्र इसकी लम्बाई होती है। पुरोडाश सम्बन्धी व्रीहि आदिको कूटनेके लिएही यज्ञमें इसका ग्रहण कियाजाताहै।

८–मुसल—

आठवां आयुध मुसलहै। खदिर, वरण, काष्मर्य्य, आदि किसी मेंसे एककी लकडीका मुसल बनाया जाताहै। व्रीहि इसीसे कूटाजाताहै। इसकी लम्बाई में कामचारहै।

९–दृषत्—

नवां आयुध दृषत्है। लोकभाषामें जिसे सिल्ला कहते हैं- वेदभाषामें उसेही दृषत् कहते हैं। इसीपर हविको पीसाजाताहै। यह पत्थरकी होती है।

१०–उपल—

दसवां आयुध उपलहै। लोकभाषामें जिसे लोढी कहते हैं उसेही वेद-भाषामें उपल कहत हैं। इसीसे दृषत्पर हवि पीसाजाताहै। इसकी लम्बाई ६ अंगुलकी होती है। कितनोंही के मतानुसार "उपलो वर्त्तुलः प्रोक्तो वितस्ति परिमाणकः" के अनुसार यह उपल गोल होताहै- और वितस्ति मात्र लम्बा होताहै।

इसप्रकार कुल १० आयुध पात्र होजाते हैं। १० ही पात्रोंका पहिले पहिल ग्रहण क्यों होताहै- इसमें कुछ अन्तरङ्ग रहस्यहै जिसका कि विशदरूप से नहींतो सूक्ष्मरूपसे प्रतिपादन करदेना अनुचित न होगा। १० पात्र

क्यों रक्खे जाते हैं, इसकी उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है- विराट्छन्द १० अक्षरका होता है, विराटही यज्ञ है। बस इस दशावयव यज्ञसम्पत्तिकी प्राप्तिके लिएही १० पात्रोंका ग्रहण कियाजाता है। साधारण मनुष्य श्रुति के "दशाक्षरा वै विराट्०" इत्यादि अक्षरोंसे संतुष्ट नहीं होसकते। जबतक उन्हें खोलकर इसका स्वरूप न बतलाया जाय तबतक उनकी- श्रुतिके इन पूर्व अक्षरोंपर जाड्यश्रद्धाके अतिरिक्त सच्ची श्रद्धा नहीं होसकती, एवं बिना श्रद्धाके कर्म्म करना व्यर्थ है। बस इसी अश्रद्धाके प्रभावसे आज सब कुछ होतेहुएभी सारा कर्म्मकलाप व्यर्थ है। बडे बडे कर्म्मकाण्डी खूबही कर्म्म करते और कराते हैं परन्तु सब व्यर्थ। "एषवोऽस्त्विष्ट कामधुक्" इन शब्दोंका अधिकारी यज्ञकाण्ड अपने गीताके अनुयायियोंको-अन्नके दानोंके लिए तरसाया करता है। इसका कारण वही अश्रद्धा, अश्रद्धाका कारण विज्ञान न जानना। इसी अश्रद्धाके कारण वैदिककालमें भी लोगों की यज्ञविधासे रुचि हटगईथी। अन्तमें देवताओंने (भुवन स्वर्ग वासी देवताओंने) आङ्गिरस बृहस्पतिको मनुष्य लोकमें भेजकर उनकी अश्रद्धा दूर करवाईथी। 'तुमलोग यज्ञ क्यों नहीं करते ? बृहस्पतिके यह पूछनेपर भौम त्रिलोकीके पृथ्वीलोकस्थानीय भारतवर्षनामसे प्रसिद्ध आर्यावर्त्तमें निवास करनेवाले मनुष्योंने-उत्तरमें-"जो मनुष्य यज्ञ नहीं करते वे आनन्दमें रहते हैं, एवं जो यज्ञ करतेहैं वे दुःख पाया करते हैं, बस इसी लिए यज्ञविद्यासे हमारा विश्वास हटगयाहै" यह कहाथा। इसके उत्तरमें बृहस्पतिने विज्ञानद्वारा उनकी अश्रद्धा दूर कीथी। बस आज वैदिक कर्म्मकाण्डके लिए वही समय फिर उपस्थितहै। इसी अश्रद्धाके कारण कितनोंहीने इसका परित्याग करदियाहै, कितनेही छोडते जारहे हैं, एवं कितनेही करते हैं परन्तु उन्हें उसके फलपर विश्वास नहीं है। इन सारी त्रुटियोंका एकमात्र कारणहै ? विज्ञान न जानना। यज्ञ करना- विद्युत यन्त्रके साथ क्रीडा करनाहै। ज-

रासी असावधानीसे वही प्रकाशी यन्त्र जैसे आत्मनाशका कारण बनजाता है, एवमेव जरासी असावधानीसे वही यज्ञ अधोगतिका कारण बनजाताहै। यज्ञप्रपंच बिलकुल नपा तुलाहै । उसमें अपनी ओरसे न राई घटाया जा-सकता, न तिलमात्र बढाया जासकता। क्यों नहीं घटाया बढाया जासकता? इस प्रश्नका उत्तर प्राकृतिक नित्य आधिदैविक यज्ञहै । देशके दुर्भाग्यसे ३–४ हजार वर्षोंसे वैदिक विज्ञान सम्बन्धी निदान, रहस्य आदि ग्रन्थोंके लुप्तप्राय होजानेसे हमलाग वास्तविक तत्वज्ञानसे बहुत दूर चलेगएहैं। अत-एव साधारण अवैज्ञानिक यथाजात मनुष्योंने विज्ञान सिद्ध प्राचीन पद्ध-तियोंकी उपेक्षाकर यज्ञको केवल विनोदकी सामग्री समझ रक्खी है। आग में २–४ मन घी, खोपरा, कस्तूरी, चन्दन- आदि डालनेमें ही यज्ञकी इतिकर्त्तव्यता मानली गई है । बस इन्हीं अनर्थोंके कारण हमारा प्रतिदिन पतन होता जारहाहै। इस पतनको रोकनेका यदि कोई उपाय होसकताहै तो केवल विज्ञान प्रचार। जबतक जनताके सामने कर्म्मकाण्डसे सम्बन्ध रखनेवाली वैज्ञानिक उपपत्ति न रक्खी जायगी तबतक वैदिक सभ्यता के, दूसरे शब्दोंमें आर्यसभ्यताके पुनरुज्जीवनकी आशा केवल दुराशाही है। बस इसी दुराशाको आशारूपमें परिणत करनेके लिए हमारा यह बाल चापल्यहै। अभी ग्रन्थका प्रारम्भहै अतएव प्रत्येक विषयपर विस्तारसे नहीं तो सूक्ष्मरूपसे विचार करनातो आवश्यक होही जाताहै । ऐसा किए बिना जिस उद्देश्यको लेकर हम 'शथपथ' का भाषानुवाद करने चले हैं- उसकी पूर्त्ति कदापि नहीं होसकती। पूर्वमें भी कईबार हम विस्तार सम्बन्धिनी विवशाता प्रकट करचुके हैं, एवं अब पुनः उसीका आम्रेडन करते हैं। कृपालु पाठकों को 'ग्रन्थ समाप्तिपर' विशेष ध्यान न देकर- विषयपर ध्यान देना चाहिए। यदि प्रमादवश कहीं विषयमें विरोध हो तो इसके लिए हमें सूचित करना चाहिए। यदि वह विरोध विज्ञान संम्मत हुआ तो अगले संस्करणमें

'उसके सुधार करनेकी चेष्टा की जायगी। आशाहै प्रेमी पाठक आगे बतलाए जानेवाले विषयपर पूर्ण ध्यान देनेकी कृपा करेंगे—

प्रकृतमें १० अक्षरोंके विराट् छन्दका स्वरूप बतलानाहै, एवं साथहीमें विराट् यज्ञहै, यह सिद्ध करनाहै। पूर्वके प्रकरणमें यह कईबार बतलाया जाचुकाहै कि यह वैधयज्ञ उस प्राकृतिक नित्य आधिदैविक यज्ञकी प्रतिकृति है। जिस आधिदैविक यज्ञके आधारपर इस वैधयज्ञका वितान कियाजाताहै, उसी आधिदैविक यज्ञसे, दूसरे शब्दोंमें उन्हीं आदिदैविक प्राणात्मक अतएव देवतानामसे प्रसिद्ध पदार्थोंसे आध्यात्मिक जगत्का निर्माण होताहै, एवं उन्हींसे आधिभौतिक जगत्का स्वरूप बनताहै। इसी विज्ञानके आधार पर— "जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः" यह कहा जाताहै। जो पदार्थ आधिदैविक जगतमें हैं? अध्यात्म, और अधिभूतमें भी वही पदार्थ हैं। इसी आधारपर— "यदेवेह तदमुत्र, यदमुत्र तदन्विह" "पूर्णमदः पूर्णमिदम्" यह कहाजाताहै। केवल मात्रा और सन्निवेशक्रममें भेदहै। इसी भेदद्वयीके कारण, पदार्थ साम्य होनेपरभी तीनोंके स्वरूपमें सर्वथा वैचित्र्य, एवं वैजात्य, होजाताहै। इन तीनोंमें जो आध्यात्मिक जगत्है, उसको आधिदैविक जगत्के साथ मिलादेनाही यज्ञहै। दूसरे शब्दोंमें आध्यात्मिक प्राणदेवताओंको, आधिदैविक अमृतस्वरूप अतएव नित्य प्राणदेवताओंसे मिलादेनाही यज्ञहै। यदि किसी उपायसे आपने अपने अध्यात्म को अधिदैवतके साथ मिलादिया तो समझलीजिए आपने 'यज्ञसंपत्' (यज्ञफल) प्राप्त करली। बस इस यज्ञसंपत्की प्राप्तिका एकमात्र उपायहै— मध्यपतित अधिभौतिक जगत्का सहारा लेना। आधिभौतिकी पाषाणमयी प्रतिमाको जबतक मध्यस्थ नहीं बनाया जाता तबतक जीवात्माका ईश्वरात्मा के साथ सम्बन्ध होना असम्भवहै, एवमेव जबतक आधिभौतिक घृत, समिध, अग्नि, स्रुवा, स्रुचि, कपाल, स्फ्य, शम्या, पुरोडाश, पशु, आदि

पदार्थोंको मध्यस्थ नहीं बनाया जायगा जबतक यज्ञका स्वरूप कथमपि नहीं बनसकेगा। आधिदैविक प्राणदेवताओंका अध्यात्मके साथ जो यजन (संगतिकरण) है, वह बिना अधिभूतकी सहायताके सर्वथा अनुपपन्नहै। कारण इसका यही है कि प्राणदेवता निराकारहैं। स्वतन्त्ररूपसे शुद्धप्राणको किसीभी उपायसे नहीं पकडा जासकता। प्राण भूतके द्वाराही पकडमें आता है। सुतरां भौतिक पदार्थोंका समावेश सिद्ध होजाताहै। एक मनुष्य अपने शत्रुको मारना चाहताहै, उसका गला काटना चाहताहै, इसके लिए उसे खड्गको मध्यस्थ बनाना पडताहै। बिना इसके वह इस क्रियामें असमर्थ है। निराकार शुद्ध ज्ञान रूप विद्यातत्वका आत्माके साथ सम्बन्ध करनेके लिए पुस्तकको मध्यस्थ बनाना पडताहै। प्राप्तव्य पुस्तक नहींहै, अपितु विद्यातत्वहै, परन्तु वह पुस्तकके बिना अप्राप्यहै। एवमेव हमें केवल आधिदै० प्राणदेवताओंको लेनाहै, परन्तु बिना भूतका सहारा लिए उनका सम्बन्ध असम्भवहै। इसप्रकार- 'अध्यात्म' का अधिदैवतके साथ सम्बन्ध करानेके लिए अधिभूतका सहारा लेना परम आवश्यकहै, यह भलीभांति सिद्ध हो-जाताहै। अब केवल प्रश्न यह बच जाताहै कि अधिभूतसे अध्यात्मका अधिदैवतके साथ सम्बन्ध कैसे होजाताहै? इस प्रश्नका उत्तरहै—"छन्द"। छन्दके प्रभावसे अधिभूत सम्बन्ध करानेमें समर्थ होजाताहै। कैसे होजाता है? इसकेलिए निम्नलिखित 'छन्द' के स्वरूपको ध्यानमें रखना आवश्यक होगा—

जिन आधिदैविक पदार्थोंसे अध्यात्म एवं अधिभूतका निर्माण होताहै वे आधिदैविक पदार्थ छन्दसे छन्दित रहते हैं। छन्दही उन प्राणदेवताओं का स्वरूप रक्षकहै। यदि छन्दभेद न होताता देवताभेद न होता। आज जो ३३ कोटि देवता सुनेजाते हैं वह इसी 'छन्द' की महिमाहै। प्रारम्भमें एक ही देवताथा। एवं वह देवता अग्नि नामसे प्रसिद्धथा। वही एक देवता

गायत्री, त्रिष्टुप, जगती, केवल इन तीनों छन्दोंसे छन्दित होनेके कारण अग्नि, इन्द्र, आदित्य, इन तीन स्वरूपमें परिणत होगया। उसी छन्दकी महिमासे ३ से ३३ अवस्थाओंमें परिणत होताहुआ वही अग्नि ३३ कोटि स्वरूपोंमें परिणत होरहाहै। परमार्थतः एक अग्निही है- इसीं आधारपर "अग्निः सर्वा देवताः" यह कहाजाताहै। परिमाणविशेषका नामही 'छन्द' है। नाम, रूप, कर्म्म, तीनही वस्तुका स्वरूपहै। इन तीनोंको एक नियत परिमाणविशेषसे परिछिन्नकर अन्य वस्तुके नाम रूप कर्म्मसे इसे पृथक् करदेनेवाला जो एक आयतन विशेषहै, जिसेकि दूसरे शब्दोंमें आकार कहा जासकताहै- उसीका नाम छन्दहै। जिसे आप पदार्थ कहते हैं, वस्तु कहते हैं वह, इसी आयतन स्वरूप छंदसे छंदित नामरूपकर्म्मकी समष्टिमात्र है। रूप—आकार, वर्णभेदसे दो प्रकारका होताहै। इसमें—काले, पीले, सफेद, नीले, लाल, सुनहरी आदि रूप वर्णरूप कहलाते हैं। एवं गोल, लम्बा, चोकौर, षट्कोण, त्रिकोण आदि रूप आकार रूप कहलाते हैं। बस वर्ण और आकार इन दोनोंमेंसे छंदका आकार रूपसे ही सम्बन्धहै। इस आकार रूपमें 'त्वष्टाप्राण' का सम्बंध रहताहै। वस्तुकी कांट छांट करके उसे आकारविशेष प्रदान करनेके कारणही त्वष्टाप्राण 'प्राणदेवताओंकी मण्डलीमें 'रथकार' (खाती) कहलाताहै। इसी त्वष्टाके लिए 'त्वष्टा वै रूपाणि विकरोति' यह कहाजाताहै। इसी त्वष्टा प्राणसे जिस मनुष्यका आत्मा बनताहै, दूसरे शब्दोंमें जिस मनुष्यके आत्मामें यह त्वष्टा प्राण अधिक मात्रामें रहताहै, वही मनुष्यसंप्रदायमें 'रथकार' कहलाताहै। दूसराहै वर्णरूप। इस वर्णरूपके अधिष्ठाता- दिव्यलोकस्थ मघवानामके अमृतप्राणमय इन्द्रदेवताहैं। आप काले, पीले, नीले, सुफेद आदि जितनेभी रूप देखते हैं, वे उन वस्तुओंके रूप नहीं हैं। अपितु उन वस्तुओंपर आक्रान्त होनेवाले इन्द्रके (सौर रश्मिमय अमृतप्राणके) रूपहैं। सूर्यकी प्रत्येक रश्मि सात,

सात तंतुओंकी है। सात रंगके सात डोरे हैं, इन सातोंके ओतप्रोत भाव संबंधसे एक रश्मिका स्वरूप बनाहुआहै। सातों रङ्ग यदि एक बिन्दुपर आजाते हैं तो सातों मिलकर सुफेद रङ्ग होजाताहै। इसीलिए सात रङ्गों वालीसूर्य रश्मि सुफेद दीखा करती है। सम क्षेत्रमें ही एक बिन्दुपर यह रङ्ग आते हैं। उसी अवस्थामें इनमें श्वेतता रहती है। यदि क्षेत्रकी समता तोड कर विषम क्षेत्रपर इन रश्मियोंका सम्बन्ध कियाजाताहै तो रश्मिके सातों डोरे विशकलित होकर अपने स्वरूपमें दिखाई देने लगते हैं। त्रिकोण काच द्वारा, सातोंका स्वरूप प्रत्यक्ष दीखआताहै। क्योंकि विषम क्षेत्रके कारण सातों रश्मिएं विशकलित होजाती हैं। इन सातों रश्मियोंकी जो एक रश्मिहै उसमें जो रश्मि स्वरूपाधिष्ठाता एक अमृतप्राण भराहुआहै उसीका नाम इन्द्रहै। वर्णरूपके अधिष्ठाता यही इन्द्रहैं। वर्त्तमान सायन्सभी हमारे इस वर्ण सम्बन्धी विज्ञानका ही अनुयायी है। वह भी सूर्य्यकी प्रत्येक रश्मि में सात सात रङ्ग मानताहै। परन्तु साथही में इन्ही सातोंको जो वर्त्तमान विज्ञान सूर्य्यके सात घोडे बतलाताहै वह हमारे विज्ञानके विरुद्धहै। सूर्य्य के सात घोडे दूसरेही हैं। सूर्य्यके चारों ओर जिस नियत मार्गपर पृथिवी[1] घूमती है उसको 'क्रान्तिवृत्त' कहते हैं। "विवर्त्तेते अहनी चक्रियेव" (ऋ०

---

१ पृथिवी घूमती है या सूर्य्य घूमताहै, इस विषयमें वर्त्तमान ज्यौतिष और वैदिक विज्ञानके सिद्धान्तोंमें मतभेदहै। इसमें विरोध नहीं समझना चाहिए। दृश्यमण्डलको प्रधान मानकर ज्यो० पृथिवीको स्थिर एवं सूर्य्य को चल मानताहै। एवं प्राकृतिक नित्यस्थिति को लक्ष्यमें रखकर वैदिक विज्ञान पृथिवीको चल और सूर्य्यको स्थिर मानताहै। वर्त्तमान सायन्सका भी यही सिद्धान्तहै। इस विषयका विशद विवेचन श्रीगुरुप्रणीत 'अहोरात्र वाद' के 'स्थिरचर विमर्श' नामके प्रकरणमें देखना चाहिए। यह ग्रन्थ 'मधुसूदनग्रन्थमाला कार्यालय जयपुर विद्याधरका रास्ता' इस पतेसे प्राप्त होसकताहै।

सं० १।१८५।१) "सोम पूषाच चेतनुः" (साम ४।२।६) इत्यादि श्रुतिएं पृथिवीका ही परिभ्रमण मानती हैं। बस इस परिभ्रमण वृत्त (सर्किल) के ठीक बीचोंबीचकी एक कल्पित रेखा मानीगई है। इसी कल्पित रेखाको वैदिक परिभाषामें 'बृहतीछन्द' कहते हैं। ज्यो० शास्त्रमें यही 'विषुव' किंवा विष्वदृवृत्त कहलाताहै। इसीको वर्त्तमान विज्ञानमें (Equator) कहते है। गोल वस्तुके ठीक बीचका सर्किल, पार्श्ववर्त्ती अन्य सर्किलोंकी अपेक्षा बडा होताहै अतएव इसे 'बृहती' कहाजाताहै। इस बृहती छन्द (इक्वेटर लाइन) के ठीक बीचोंबीच प्राणप्रद भगवान् सहस्र दीधिति स्थिररूपसे तपरहे हैं। अतएव इनके लिए "सूर्य्यो बृहती मध्यूढस्तपति" यह कहाजाता है। इस श्रुति वाक्यसे भी पृथिवीका परिभ्रमण और सूर्य्यकी स्थिरता सिद्ध होती है। जिस वृत्तपर सूर्य्य है, उससे आधा खगोल दक्षिणमें है, और आधा खगोल उत्तरमें है। आप इस बृहती छन्दको एक प्रकारसे खगोलका विभाजक समझिए। इस बृहतीके उत्तर एवं दक्षिण भागमें बृहती छन्दसे क्रमशः १२, ८, ४, अंशके अन्तरपर तीन तीन पूर्वापर (पूर्व पश्चिम से सम्बन्ध रखनेवाले) वृत्त (सर्किल) और होते हैं। १२-८-४ तीनोंके संकलनसे कुल २४ अंश होजाते हैं। २४ अंशही दक्षिणभागके एवं २४ ही उत्तरभागके हैं। दोनों को मिलाकर कुल ४८ अंश होजाते हैं। बस सारे ग्रह इसी ४८ अंशके परिसरमें घूमाकरते हैं। अश्विन्यादि २७ नक्षत्रभी इसीके भीतरहैं। जिस क्रान्तिवृत्तका पूर्व में जिकर आयाहै वह ४८ अंशात्मक समझना चाहिए। उसका परिसर ४८ अंशकाहै। इस क्रान्तिवृत्तको काटते हुए जो ७ पूर्वापर वृत्त बनते हैं उन्हींका नाम सात छन्दहैं। सबसे बीचका छन्द बृहती है। १२-८-४ के अन्तरपर तीन छंद बृहतीसे दक्षिण भागमें हैं, एवं इसी क्रमके अनुसार तीन छंद उत्तरमें हैं। बस यही सात

छंद सूर्य्यके रथके साथ घोडे हैं। सूर्य्यका हिरण्मय मण्डल हिरण्मय (सुनहरी) रथहै। एवं उस रथका क्रान्तिवृत्त नामका एक पहियाहै। एवं सात छन्दही सात घोडे हैं। यह सातों छन्द गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, इन नामोंसे प्रसिद्धहै। दक्षिणभागका सबसे अन्तका गायत्री छन्द ज्यौतिषशास्त्रमें 'मकरवृत' कहलाताहै। इसीके सम्बन्धसे मकर संक्रांति होती है। एवमेव उत्तरभागका सबसे अन्तका जगती छन्द् कर्कवृत्त कहलाता है। यद्यपि प्राकृतिक नियव्यवस्थाके अनुसार बीचका बृहती छन्द सबसे बडाहै, एवं दक्षिणोत्तरके छन्द एक दूसरेके समानहै, तथापि दृश्यमण्डलके हिसाबसे बृहती छन्दसे उत्तरभागमें रहनेवाले प्राचीन वेदद्रष्टा महर्षियोंने, गायत्रीको सबसे छोटा छन्द बतलायाहै। एवं जगतीको सबसे बडा बतलाया है। गायत्री ६ अक्षरका (६ अक्षरका एक पाद– इसप्रकार ४ पादके २४ अक्षर होजाते हैं। यही व्यवस्था आगेके छन्दोंमें समझनी चाहिए) है। आगेके ६ ओं छन्द क्रमशः ७, ८, ९, १०, ११, १२, अक्षर के हैं। इन अक्षरोंका अर्थवाक् एवं शब्दवाक दोनों वाक्भागोंसे सम्बन्धहै जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। क्योंकि छन्दका प्रकरण चलरहाहै अतएव प्रसंगागत छन्दरूप सूर्य्यके रथके घोडोंका स्वरूप बतलाना पडा। अब पाठकोंका ध्यान पुनः प्रकृतकी ओर आकर्षित करते हैं। हम बतलारहेथे कि आकाररूप एवं वर्ण रूप दोनोंमें से त्वष्टा आकाररूपके अधिष्ठाताहैं, एवं इन्द्र वर्णरूपके अधिष्ठाता हैं। इन दोनों रूपोंमें से इन्द्रसे सम्बन्ध रखनेवाले वर्णरूपका तो वय(वस्तु) स्वरूप नाम, रूप, कर्म्म, इन तीनोंके मध्यपतित रूपमेंही अन्तर्भाव होजाता

---

१ अग्निका रङ्ग सुवर्ण जैसा है अतएव उसे हिरण्यरेता कहाजाताहै। सौरमण्डलमें यही हिरण्यरेता अग्नि भराहुआहै अतएव सौरमण्डल हिरण्मय कहलाताहै।

है। बाकी बचताहै आकार रूप। बस हमारे छन्दका इसी आकाररूपसे सम्बन्धहै। जिन पदार्थोंको हम आंखोंसे देखरहे हैं, उनमेंसे कोईभी पदार्थ ऐसा नहीं जिसका कोई आकार नहो। बस स्थूल दृष्टिसे हम इसी आकार को 'छन्द' कहनेके लिए तय्यारहैं। यदि आकार न होता तो—'यह मनुष्य है' 'यह गायहै' 'यह कृमिहै' 'यह वृक्षहै' 'यह मकानहै' आदि व्यवहारही नहीं होता। दूसरे शब्दों में—आकारके बिना वस्तुस्वरूपही नहीं बनता। वस्तुका स्वरूप बनाकर उसे वस्तुरूपसे दिखलादेनेका काम केवल 'छन्द' के ही आधीनहै। इसी छन्दको वैदिक सांकेतिक भाषामें 'वयोनाध' कहाजाताहै। छन्दसे छन्दित नामरूपकर्म्मकी समष्टिरूप जो वस्तुहै उसीको 'वय' कहते हैं। साधारणतः भाष्यकारोंने वयका अर्थ 'अन्न' कियाहै। अन्न का भी नाम वय होसकताहै, किंतु वय अन्नकोही कहते हैं, यह समझना प्रमादहै। आप जिसे पदार्थ कहते हैं, उसीका नाम 'वय' है। एवं छन्द को वयोनाध कहते हैं। इस[1] वयोनाध और वय (छन्द—और छन्दसे छन्दित नामरूपकर्म्मात्मक वस्तु) दोनोंकी समष्टिको 'वयुन' कहते हैं। श्रुतिमें बार बार वय, वयुन, वयोनाध, यह तीन शब्द आयाकरते हैं। संसारके यच्चयावत् पदार्थ, वयुनहैं। प्रत्येक वयुनमें वय और वयोनाध दो दो भागहैं। जबकि पदार्थमात्र छन्दसे छन्दितहैं तो ऐसी अवस्थामें आधिदैविक पदार्थों का (प्राणदेवताओंका) भी छन्दसे छन्दित होना सुतरां सिद्ध होजाताहै। यदि एकही देवता होता तबतो उसका छन्दभी एकही होता, परन्तु देवता अनेकहैं अतएव छन्दभी अनेकही होजाते हैं। अथवा इसे उलटा समझिए। यदि एकही छन्द होतातो देवता एकही होता, परन्तु छन्द अनेकहैं, अतएव

---

१ वय और वयोनाध का विशद स्वरूप श्रीगुरुप्रणीत १० वाद ग्रन्थोंमें से "अमृतमृत्युवाद" नामके आठवें वादमें देखना चाहिए। यह ग्रन्थ अभीतक

देवताभी अनेक होजाते हैं। अनेक देवता सुने जाते हैं एवं प्रत्येकके नामरूपादि भिन्न भिन्नहैं। इस विभिन्नताका एकमात्र कारण छन्दभेदही है। बस इसी लिए प्रत्येक देवताका भिन्न भिन्न छन्द माननापडताहै। छन्दके भेदसे एक ही देवता अनेक रूप कैसे धारण करलेते हैं, इसके लिए हम आपका ध्यान पानीकी ओर आकर्षित करते हैं। कूएका पानीभी पानी है, बावड़ीका पानी भी पानी है, समुद्रका पानीभी पानी है, घडेका पानीभी पानी है, सरोवरका पानीभी पानी है। परन्तु सब पानी गुणसे, रूपसे सर्वथा भिन्नहै। इन पूर्वोक्त सारे पानियोंका नामरूप (आकार), एवं कर्म्म (गुण) भिन्न भिन्न है। समुद्रका पानी भिन्नही तासीर रखताहै। कुएके पानीकी तासीर और ही कुछहै, इस भेदका एकमात्र कारण वही आयतनहै। जिस आयतनको पूर्वमें हमने छन्द कहाहै- उसी छन्दरूप आयतनके भेदसे एकही पानी नानास्वरूपमें परिणत होजाताहै। छन्द एक प्रकारका वजनहै। अन्दाजा है। परिमाणहै। केवल परिमाणके तारतम्यसे एकही वस्तु नानास्वरूपोंमें परिणत होजाती है। अन्नके परिपाक करनेवाले अग्निका कुछ परिमाणहै। यदि उस नियत परिमाणके अग्निका सम्बन्ध कराया जाताहै तो उस नियत परिमाणयुक्त अग्निसे परिपक्व अन्नमें मिठास होताहै। यदि इस परिमाणको बदलदिया जाताहै, दूसरे शब्दोंमें अग्नि मात्रासे अधिक बढा दिया जाताहै तो वही अन्न मधुर रसके बजाय कटु रससे युक्त होजाताहै। यदि औरभी अधिक मात्रा होती है तो वही अन्न 'भस्म' स्वरूप धारण कर लेताहै। बस इन्हीं सब लौकिक भावोंके आधारपर हम कहसकते हैं कि वस्तुके भेदका एकमात्र कारण छन्दभेदही है। देवताभी पदार्थ हैं। अतएव इन प्राणदेवताओं के भेदका मूलभी इसी छन्दभेदको कहा जासकताहै। क्योंकि आधिदैविक प्राणदेवता छन्दसे छन्दितहै, अतएव सिद्ध होजाताहै कि जबतक उन्हीं छन्दसे छन्दित प्राणदेवताओंसे उत्पन्न हुए, अतएव

छन्दसे छन्दित आधिभौतिक पदार्थोंका सहारा न लियाजायगा तबतक अध्यात्मका अधिदैवके साथ कदापि सम्बन्ध नहीं होसकता। बस इसीलिए भिन्न भिन्न यज्ञोंमें भिन्न भिन्न छन्दोंसे छन्दित मध्यस्थ आधिभौतिक पदार्थों द्वारा छन्दसम्पत्ति प्राप्त करलेना आवश्यक होजाताहै। हमने परिणामविशेषका नाम छन्द बतलायाहै, एवं साथहीमें छन्दसे छन्दित पदार्थको 'नामरूपकर्म्म' की समष्टि कहाहै। इन तीनोंका (नाम रूप कर्म्मका) सृष्टि कर्त्ता मन, प्राण, वाक्, रूप अव्ययके सृष्टि साक्षी कर्म्मात्मासे संबंध है। तीनोंमें रूपका मनसे सम्बन्धहै। रूपही वस्तुका स्वरूपहै। हमें जो पदार्थोंका रूप दिखलाई पडताहै वह मनरूप आदर्शपर (काचपर) उस वस्तु की प्रतिबिम्बित मूर्त्तिहै। ज्ञानमय मनही वस्तुके आकारमें परिणत रहता है। घोडेके रूपको देखतेही मन घोडेके रूपमें परिणत होजाताहै। हाथीको देखतेही हाथीके रूपमें परिणत होजाताहै। अतएव रूपको हम अवश्यही मनका विवर्त्त (परिणाम) कहनेके लिए तय्यारहैं। एवं कर्म्मभाग-क्रिया प्रधान होनेसे क्रियामय प्राणभागसे सम्बन्ध रखताहै। एवं नामभागका वाक्से सम्बन्धहै। संसारके सारे रूप मनोमयहैं। सारे कर्म्म प्राणमयहैं। सारे नाम वाङ्मयहैं। तीनके अलावा कोई चौथी वस्तु नहींहै। एवं "सवा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः" इत्यादि श्रुतिप्रमाणके अनुसार मन प्राण वाक्की समष्टिका नामही आत्माहै। इसी विज्ञानके आधारपर- "आत्मैवेदंसर्वम्" यह कहा जाताहै। मन, प्राण, वाक्, तीनोंमें सबसे ऊपर वाक्का स्तरहै। वाक्के भीतर प्राणहै। प्राणके भीतर मनहै। मन सूक्ष्म तरहै। प्राण सूक्ष्महै। वाक् स्थूलहै। तीनों अविनाभूतहैं। अतएव तीनोंसे तीनोंका ग्रहण होजाताहै। सर्व साधारण मनुष्य केवल वाक् नामके स्थूल तत्वकोंही देखते हैं। दार्शनिक परिभाषामें इसी वाक्को 'आकाश' कहाजाता है। इस वाक् भागका प्रादुर्भाव मन प्राण रूप आत्मासे ही होता है।

सबसे पहिले आत्म भागसे (मनप्राणसे) प्राण (वाक्) का प्रादुर्भाव होताहै। (अनन्तर इसी वाक् भागसे पानी पैदा होताहै - जैसाकि श्रुति कहती है "सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्" उस प्रजापतिने अपने वाक् भागसे पानी पैदा किया श. ६।१।१।६)। यह पानी वायुरूपहै, अतएव इसे वायु कहा जाताहै। इस वायुसे अग्नि उत्पन्न होता है। अग्निसे पानीकी उत्पत्ति होती है। पानीसे पृथिवीका निर्म्माण होता है। इसप्रकार सृष्टिक्रममें मनकी इच्छासे होनेवाले प्राणव्यापारसे वही वाक् क्रमशः पंचभूतोंमें परिणत होजाती है। क्योंकि पंचभूत वाङ्मयहैं अतएव पंचभूत समुच्चयको हम 'वाक्' कहनेके लिए तय्यारहैं। प्रत्येक वस्तु पंचभूत की समष्टिमात्रहै, अतएव हम वस्तुमात्रको 'वाक्' कहनेके लिए तय्यारहैं। इसप्रकार प्रत्यक्ष यद्यपि स्थूल वाक् प्रपंचकाही होताहै परन्तु आपको विश्वास करना चाहिएकि इस वाक्के भीतर निराकार प्राणतत्वहै। एवं प्राणके भीतर मनहै। इसी मनको लक्ष्यमें रखकर वेदमहर्षि—सर्वसाधारणकी दृष्टि में सर्वथा जड़ पाषाणादिकी "शृणोतु ग्रावाणः" (हे पाषाणो आप हमारी प्रार्थना सुनिए) इसप्रकार स्तुति कियाकरतेहैं कारण इसका यहीहैकि यहमन सबमें समान रूपसे रहताहै। वाक् स्थूलहै इसलिए, एवं वाक् प्राण मन तीनों अविनाभूतहैं इस लिए मनप्राणवाङ्मय विश्वप्रपंचके लिए केवल "अथो वागेवेदं सर्वम्" (यह सब वाक्ही वाक्है ऐ० आरण्यक ३।१।६) "वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता" (इसी वाक्में सारे भुवन गुथेहुएहैं- तै० ब्रा० २।८।८।४) यह कहा जाताहै। श्रुतिमें पढ़ेहुए इस वाक् शब्दको मन और प्राणकाभी उपलक्षण समझना चाहिए क्योंकि यह वाक्—प्राण एवं मनके बिना कभी नहीं रहती। हमने बतलायाथाकि नामरूपकर्म्मको परिच्छिन्न करनेवाले आयतनका नामही छंदहै। नामरूपकर्म्म ही मनप्राणवाक् है। ऐसी अवस्थामें "वाक्परिमाणं छन्दः" यह छन्दलक्षण जभी समन्वित होसकताहै जबकि वाक्से तीनोंका ग्रहण किया जाय। 'वाक्परिमाणं छन्दः

इस लक्षणका "वाक्का (मनः प्राणगर्भित वाक्का दूसरे शब्दोंमें नामरूप कर्म्मका) जो परिमाणहै, वयोनाधहै, उसीका नाम छंदहै" यह अर्थ है। जबकि सारे पदार्थोंकी वाङ्मयता पूर्वके निरूपणसे सिद्ध होजाती है तो विवश होकर देवताओंकी भी वाङ्मयता मानलेनी पडती है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तीनोंही प्रपंच वाङ्मयहैं। सातों लोक वाङ्मयहैं। देवता, मनुष्य, पशु, गन्धर्व आदि सबका स्वरूप इसी वाक्के आधारपर प्रतिष्ठितहै। बस इसी वाक्विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर वेद महर्षि कहते हैं—

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सानो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥

(तै० ब्रा० २।८।८।४) इति।

जिस वाक्का माहात्म्य "वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता" इन शब्दोंसे प्रकट कियाजारहाहै वह सर्व प्रपंच मूलभूत भूता, सर्वत्र व्याप्त रहनेवाली वाक् शब्द और अर्थभेदसे दो प्रकारकी है। एकही वाक्के—शब्दप्रपंच, और अर्थप्रपंच यह दो भेदहैं। शब्दवाक् एवं अर्थवाक् दो से अतिरिक्त तीसरी वाक्की सर्वथा अनुपपत्तिही समझनी चाहिए। शब्दवाक् 'शब्द' नामसे प्रसिद्धहै, एवं अर्थवाक् 'अर्थ' नामसे प्रसिद्धहै। शब्द और अर्थ दोनों पार्वती और परमेश्वर (शिव) की तरह अभिन्नहैं। आप संसारमें जितनेभी पदार्थ देखरहे हैं—वे सब शब्दमयहैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, पांचके अलावा कोई छठा पदार्थही नहीं हैं। इन पांचोंमें शब्द प्रतिष्ठितहै। पाषाण, ढेला, पुस्तक, टेबिल आदि किसीभी पार्थिव पिण्डपर आप हाथ मारिए उसी समय शब्द प्रादुर्भूत होगा। "संयोगाद्विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः" (वै० दर्शन २।२।३१), इस वैज्ञानिक सिद्धांतके अनुसार शब्दकी उत्पत्ति

के वस्तुका संयोग, विभाग, और शब्द यह तीनही कारणहैं। एक वस्तुपर जब दूसरी वस्तुका किंवा हस्तादिका 'आघातयुक्त संयोग' होताहै तो उसी समय शब्द होपडताहै। एवमेव बांसको जब बीचमेंसे चीराजाताहै तो वहां भी शब्द होताहै। यह शब्द विभाग जन्यहै। एवं जब वीणादिका शब्द होताहै तो वही शब्द धाराक्रमसे उत्तरोत्तर नए नए शब्द प्रकट कर हमारी श्रोत्रेन्द्रियके पास पहुंचादेताहै। इस धाराक्रमसे श्रोत्रेन्द्रियपर आयाहुआ जो शब्दहै वह शब्दजन्यहै। साथही में इतनी बात और समझलेनी चाहिए कि इस शब्दकी उत्पत्तिका प्रधान कारण वायुहै। चाहे संयोगज शब्दहो विभागज शब्दहो अथवा शब्दज शब्दहो- विना वायुके तीनोंही अनुपपन्नहैं। वायुही शब्दरूपमें परिणत होताहै। शून्यप्रदेशमें यह वायु भरा रहताहै। इस वायुपर जब अन्य वायुका आघात होताहै तभी शब्द होताहै। एक मेज आपके सामने रक्खीहुईहै। आपको 'चौथे अङ्कमें बतलाएहुए' अब् वायु सोमात्मक ऋतविज्ञानके अनुसार मानना पडेगाकि मेजके चारों ओर वायु भराहुआहै। आप वायुस्तरसे घिरी हुई मेजपर बडे वेगसे हाथका प्रहार करतेहैं- उसी समय 'खट' शब्द होपडताहै। इसका कारण यहीहै कि आप के हाथके आक्रमणसे वह वायु भागना चाहताहै, उस स्थानसे हटना चाहता है परन्तु आप इतनी शीघ्रतासे अपने हाथका प्रहार करतेहैं कि जिससे उस वायुको भागनेका मौका नहीं मिलता। आक्रमणसे जितना स्थान वायुके निकलजानेके लिए पर्य्याप्त होनाचाहिए उतना स्थान उसे नहीं मिलने पाता। बस वायु रहताहै अधिक, स्थान रहताहै थोडा। इसी कारण वायु में संघर्ष होपडताहै। उसी क्षण शब्द पैदा होजाताहै। यदि आप मेजपर आहिस्ता आहिस्ता अपना हाथ रक्खेंगे तो वह वायु निकलजायगा। एवं ऐसी अवस्थामें शब्द नहीं होगा। आपके हाथमें जितना अधिक वेग होगा शब्द उतनाही अधिक होगा, एवं जितना वेग कम होगा शब्दमें उतनाही

शैथिल्य होगा। यदि वेगका सर्वथा अभाव होगा तो शब्द न होगा। इसी लिए सूत्रमें पठित संयोगका हमने 'आघातयुक्त संयोग' अर्थ कियाहै। अन्यथा संयोग तो वेगके अभावमेंभी रहता ही है। परन्तु ऐसे वेगशून्य संयोग से शब्द नहीं होता। इसी प्रकार बांसको जब चीरा जाताहै तो बांसके चारों ओर रहनेवाला वायु भागना चाहताहै। परन्तु वह चीरनेकी क्रिया इतनी शीघ्र होती है कि उस वायुको निकलनेके लिए पर्य्याप्त स्थान नहीं मिलता। बस उसी समय शब्द होपडताहै। यदि यहांभी चीरनेकी क्रियामेंसे वेग निकालदिया जायगा तो इस शिथिलतासे वायुको निकलजानेके लिए पर्य्याप्त स्थान मिलजानेसे शब्द न होगा। यहीप्रकार शब्दज शब्दमेंभी समझनी चाहिए। अपिच बिना वायुके शब्द उत्पन्न नहीं होता इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि आप पानीके भीतर अपने दोनों हाथ डालदीजिए और हाथोंसे खूब ताली बजाते रहिए वहां कभी शब्द नहीं होगा। क्यों कि वहां वायुका अभावहै। साथहीमें एक बात और समझलेनी चाहिए पूर्वमें संयोगज, विभागज, शब्दज, तीनों शब्दोंके जो उदाहरण बतलाएहैं वे केवल 'ध्वनिस्वरूप' हैं। उनमें केवल आवाजमात्रहै। जो शब्द हम (मनुष्य) अपने मुखसे बोलतेहैं उसमें- क, च, ट, प, इस रूपसे वर्णविभाग हैं, किन्तु ध्वनिमें यह बात नहीं है। परन्तु ध्वनिही असली शब्दहै, इसी लिएतो "तस्माद् ध्वनिःशब्दः" (महाभाष्य १।१।१) यह कहाजाताहै। ध्वनि वाक्में केवल वायुही वायुहै। वर्णविभाग करना इन्द्रका कामहै। इन्द्र वायु में घुसकर उसके खण्ड खण्ड करके उन खण्डोंको परिच्छिन्न बनाकर वर्णरूपमें परिणत करदेताहै। यह इन्द्रभाग केवल मनुष्योंमें ही रहताहै

इसी लिए "तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति" (परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी इन वाक्के चार भागों में से जो वाक्का चौथा भागहै मनुष्य उसेही बोलते हैं- ऋक् १।१६४।४५)यह कहा जाताहै। प्रकृतमें हमें केवल यही बतलानाहै कि शब्दकी उत्पत्तिके तीन कारणहैं। एवं तीनोंमें वायु प्रधानहै। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर "वायुः खात् शब्दस्ततः" (आकाशसे निकलताहुआ वायु शब्दरूपमें परिणत होजाताहै-यजुर्वेदीय काश०ब्रा०) यह कहाजाताहै। पूर्वके निदर्शनसे यह भलीभांति सिद्ध होजाताहै कि पृथिवीरूप अर्थ वाक्में अवश्यही शब्दवाक्है। इसी प्रकार जलमेंभी शब्दहै। बहतेहुए जलके कल कल नादको कौन नहीं जानता। वायुके सनसनाहटसे कौन अपरिचितहै। तेज (अग्नि) का धक् धक् शब्द किससे छुपाहुआहै। एवं आकाश शब्दमयहै- इस प्रत्यक्ष सिद्धान्तमें आजतक किसने प्रमाण मांगाहै। इसप्रकार पांचों महाभूतों में शब्दकी सत्ता सिद्ध होजाती है। पांचोंही महाभूत 'अर्थ प्रपंच' है। एवं यह अर्थप्रपंच शब्दमयहै। इसीलिए हम अवश्यही-"पार्वती परमेश्वराविव वागर्थौ संपृक्तौ" (शिवपार्वतीकी तरह वाक् और अर्थ दोनों अभिन्नहैं- एकदूसरे में ओतप्रोतहैं) यह कहसकते हैं। शब्द और अर्थ अभिन्न है, इसमें एक अनुभूत प्रमाण औरभी है। १० मनुष्य एक कमरेमें सोरहे हैं उनमें किसीका नाम देवदत्तहै, किसीका नाम यज्ञदत्तहै, किसीका नाम रामलालहै। एक मनुष्य उन दसोंमें से केवल रामलालको आवाज देताहै आपको यह सुनकर आश्चर्य होगाकि उस आवाजसे केवल रामलालकी ही

---

१ परा पश्यन्ती आदि का क्या स्वरूप है? ध्वनिवाक्में केवल वायुही कैसे रहताहै? इन्द्र-वायुमें प्रविष्ट होकर वायुको खण्डरूपमें कैसे परिणत करदेताहै? यह इन्द्र क्या पदार्थहै? आदि विषयोंका विस्तृतविवेचन श्रीगुरुप्रणीत "पथ्यास्वस्ति" नामके वैदिक वर्णमात्रिका ग्रन्थ में देखना चाहिए। यह ग्रन्थ अभीतक अमुद्रित है।

आंख खुलती है। शेष ६ वों ज्योंके त्यों सोते रहते हैं। इसका एकमात्र कारणहै शब्दार्थकी अभिन्नता। "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशः०" इत्यादि सूत्रभी इसी विषयकी पुष्टि करताहै। भगवान् जैमिनि कहते हैं कि शब्दका अर्थके साथ औत्पत्तिक सम्बन्धहै। जिस समय अर्थ उत्पन्न होताहै वह सारे नामोंको अपने साथ लिएहुएही उत्पन्न होताहै। 'अर्थके उत्पन्न हुए बाद- उसके साथ शब्दका सम्बन्धहो' यह बात नहीं हैं। अर्थात शब्दार्थका उत्पन्न सृष्टसम्बन्ध नहीं हैं, अपितु उत्पत्तिसृष्ट (पैदायशी) सम्बन्धहै। इसी आधारपर—"सर्वे सर्वार्थवाचका दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः" (दाक्षिपुत्र पाणिनिके मतानुसार सारे शब्द सारे अर्थोंके वाचकहैं। संसार में जितनेभी शब्दहैं वे सब अर्थोंको कहनेवाले हैं) यह कहा जाताहै। उस नित्य सम्बन्धका हमें ज्ञान कैसे होताहै? इसका उत्तर देतेहुए अन्तमें "तस्य ज्ञानमुपदेशः" यह कहाहै। जब सब शब्द सबके वाचकहैं तो फिर किस शब्दसे किसका ग्रहण किया जाय, यह अडचन आपडती है। ऐसी अवस्थामें तो घोडेके लिए- गधेका प्रयोग होसकताहै, एवं हाथीके लिए—घोडेका प्रयोग होसकताहै। इस अनवस्थाको दूर करनेके लिए महर्षि उपदेश देते हैं कि 'जिसका आकार ऐसा देखो उसे और अन्यान्य शब्दोंसे न बोलकर 'हाथी' शब्दसे ही पुकारा करो। फलानेको फलाने नामसे ही बोलाकरो। इसी सम्बन्धको न्यायशास्त्र—'संकेतसम्बन्ध' कहा करताहै। परन्तु उसका संकेत यहां अभिप्रेत नहीं है। वह तो शब्दको आगन्तुक मानताहै। यहां शब्दको अर्थके साथही प्रादुर्भूत होनेवाला माना जाताहै। यहां के संकेतका केवल 'यद्यपि सर्वेसर्वार्थ वाचकाः- इस सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक अर्थ सभी नामोंसे व्यवहृत किया जासकताहै- परन्तु इसे और किसी नामसे न बोलकर इस एक नियत नामसे ही पुकारा करो' यही अर्थहै। किसको किस नामसे पुकारें इसका ज्ञान वृद्धोपदेशपर निर्भरहै। पिता-

वृक्षपर बैठेहुए पक्षियोंकी ओर इशारा करके अपने दूधमुहे बच्चेसे कहताहै कि बच्चे ! यह चिडियाहै, यह तोताहै, यह कौआहै, यह चीलहै । बस उन नामोंकी अभ्यास परम्परासे उस बच्चेके हृदयमें छाप पड जाती है । परिणाम इसका यही होताहै कि इतर नामोंसे उसकी तबियत हटकर इन नियत नामों परही जमजाती है । यदि आप बचपनसे उसे चिडियाकी ओर इशारा करके कहदोगे कि यह घोडाहै, एवं घोडेकी ओर इशारा करके कहदोगेकि यह चिडियाहै तो विश्वास कीजिए- वह घोडेको चिडियाही कहने लगेगा, एवं चिडियाको घोडाही कहने लगजायगा । एकही वस्तुके–राइस, चांवल, तन्दुल आदि अनेक नामहैं । किसी देशके वृद्धोंने उसके लिए 'राइस' नाम नियत कर रक्खाहै, किसीने 'चांवल' शब्द नियत कर रक्खाहै, किसीनें 'तन्दुल' शब्द नियत कर रक्खाहै । कोई अक्षतको ही प्रधान मानताहै । यह सारे नाम तबतक सर्वथा अनुपपन्नहै जबतककि शब्दार्थका नित्यसम्बन्ध मानते हुए "सर्वे सर्वार्थवाचकाः" यह सिद्धान्त न मानलिया जाय । इस सिद्धान्तका मौलिक विज्ञान यहीहै कि शब्द और अर्थ दोनों एकही स्थानसे एकही वस्तुसे उत्पन्न होतेहैं । सूर्य्यसे ऊपर आपोमय परमेष्ठीमण्डल है यह पूर्वके प्रकरणोंमें बतलाया जाचुकाहै । प्राणमय स्वयम्भू, आपोमय परमेष्ठी, वाङ्मय सूर्य्य, अन्नमय चन्द्रमा, अन्नादमयी पृथिवी पांचों प्राकृतात्मा मनः प्राणवाङ्मयहैं । अव्यय सबका आलम्बनहै । इस अव्ययकी आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्, यह पांच कलाएं हैं । पांचोंमें आनन्द विज्ञान विश्वातीतहै । प्राणवाक् विश्वहै । मन दोनों ओरहै। विश्वमें अव्यय का मनप्राणवाक् भाग (जोकि भाग सृष्टिसाक्षी होनेसे कर्म्मात्मा कहलाताहै)

उद्बुद्ध रहताहै। एवं आनन्दविज्ञान सहकारी रहते हैं। एवं मुक्तिमें आनन्द विज्ञान भाग (जोकि भाग मुक्तिसाक्षी होनेसे ज्ञानात्मा कहलाताहै) उद्बुद्ध रहताहै। एवं मनप्राणवाङ्मय कर्म्मभाग सहकारी रहताहै। सृष्टिमें जैसे ज्ञानभागकी अपेक्षाहै, एवमेव मुक्तिमें कर्म्मभागकी अपेक्षाहै। विना ज्ञानके सृष्टि नहीं होसकती। ज्ञानभाग बिलकुल निष्क्रियहै, शान्तहै, प्रकाश स्वरूप है, अतएव इसे 'अकर्म्म' कहा जाताहै। कर्म्मभाग कर्म्म कहलाताहै। ज्ञान घन अकर्म्मब्रह्ममें, क्रियाघन कर्म्मब्रह्म व्याप्तहै। एवं कर्म्मब्रह्ममें अकर्म्म ब्रह्म व्याप्तहै। अकर्म्म अमृतहै, कर्म्म मृत्युहै। "अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्" (मृत्युके भीतर अमृतहै, एवं मृत्युके बाहर अमृतहै—शतपथ १०।५।२।४) 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः' (वह सबके भीतरहै और सबके बाहरहै—ईशावास्योपनिषत्-मन्त्र ५) इत्यादि श्रुतिएं दोनोंमें ओतप्रोत भाव सम्बन्ध बतलाती हैं। जो मनुष्य—

"न कर्म्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" इत्यादि श्रुतियों का असली मर्म्म न समझकर शुद्धज्ञानको मुक्तिका कारण मानते हैं वेभी भूलमें हैं। एवं जो मनुष्य—

"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" इत्यादि श्रुतियोंका तात्पर्य्य न समझकर केवल कर्म्मको ही बन्धन मुक्तिका कारण मानते हैं वहभी भूलमें हैं। कोरा ज्ञान, एवं कोरा कर्म्म निरर्थकहैं। ज्ञानयोग सांख्य-योगहै, कर्म्मयोग कर्म्मयोगहै। दोनोंही अनुपादेयहैं। जबतक दोनोंके समु-

---

१ सृष्टिमें आनन्द विज्ञानकी अपेक्षा क्यों होती है? इसके लिए श्रीगुरु प्रणीत १२ वाद ग्रन्थोंमें से "संशय तदुच्छेदवाद" नामके ११ वें वाद ग्रन्थका "सच्चिदानन्द खण्ड" देखना चाहिए। यह ग्रन्थ मुद्रित होचुकाहै—एवं "श्रीग्रन्थप्रकाशनकार्यालय जयपुर" से प्राप्त होसकताहै।

र्चयरूप बुद्धियोगको नहीं अपनाया जाता तबतक बन्धनमुक्ति सर्वथा असंभवहै। संपूर्ण गीताशास्त्रमें इसी बुद्धियोगका उपदेशहै। भगवान् न केवल कर्मको अच्छा समझते, न केवल अकर्म्मको (ज्ञानको) अच्छा समझते। अपितु उनका कहनाहै कि—

"कर्म्मण्यकर्म्मः यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म्मकृत्॥ (गीता ४।१८)

अर्थात् जो ज्ञानमय कर्म्म किंवा कर्म्ममय ज्ञानका, दूसरे शब्दों में बुद्धियोगका (क्योंकि इसी समुचित योगको बुद्धियोग कहा जाताहै) आश्रय लेताहै, मनुष्यों में वही बुद्धिमान्है- अर्थात् बुद्धियोगका अनुयायी है। वही युक्तयोगी है। समझलो वह सारा कर्म्म करचुकाहै। भगवान्को जितनाही प्रेम अव्ययके ज्ञानस्वरूप अमृतभागसे है, उतना ही प्रेम बल्कि उससे अधिक प्रेम अव्ययके कर्म्ममय मृत्युभागसे है। वे अव्ययको सद्रूप अमृत एवं असद्रूप मृत्युमय समझते हैं। जैसाकि गीता कहती है—

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ (गी० ९।१९ इति)

प्रकृतमें इस प्रपंचसे हमें केवल यही बतलानाहै कि स्वयम्भू आदि पांचों मण्डलों में व्याप्त अव्ययपुरुष ज्ञानकर्म्ममयहै। इसका ज्ञानभाग आनन्दविज्ञानमनोमयहै- उसका मुक्तिसे सम्बन्धहै, एवं कर्म्मभाग मनप्राणवाङ्मयहै- इसका सृष्टिसे सम्बन्धहै। पांचों मण्डल सृष्टिस्वरूपहै, अतएव इनमें रहनेवाले अव्ययात्माके लिए केवल—"स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः" यह कहाजाताहै। पांचों में तीनों हैं। तीनों में से प्रकृतमें हमारा सम्बन्ध केवल वाक्भागसे है। यह वाक्भाग- पांचों मण्डलोंमें भिन्न भिन्न

स्वरूप धारण करलेताहै। इसी भेदके कारण- उन पांचोंके नाम रूप कर्म्म तीनोंमें अन्तर होजाताहै। स्वयम्भूकी वाक् 'वेदवाक्' कहलाती है। "वेदाः सत्यम्" (वेद सत्यहै-अर्थात् मौलिकहै) इस श्रुतिके अनुसार इसीको 'सत्या-वाक्' कहाजाताहै। परमेष्ठीमण्डलकी वाक् सरस्वती कहलाती है। सौरी-वाक् बृहती कहलाती है। चन्द्रमण्डलकी वाक् 'सुब्रह्मण्या' कहलाती है। एवं पृथिवीकी वाक् 'अनुष्टुप्' कहलाती है। स्वयम्भूमण्डल प्राणमय होने से वेदघनहै, स्वयम्भूके प्राणमुखसेही वेदसृष्टि होतीहै, वेद सत्यहै, अतएव उसकी वाक्को अवश्यही सत्यावाक् कहाजासकताहै। एवं परमेष्ठीसे सम्बन्ध रखनेवाले छन्दसी त्रिलोकीके समुद्रका नाम क्योंकि सरस्वान् है- अतएव इसके सम्बन्धसे यह वाक् सरस्वती कहलाती है। एवं सूर्य्य बृहतीछन्दपर स्थिर रहताहै, अपिच इसका साम पृथिवी आदिकी अपेक्षा बृहत् (बहुत बडा) है, इसलिएभी इसकी वाक् 'बृहती' कहलाती है। एवं "ब्रह्माकृष्णाश्च नोऽवतु, चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः" (कृष्णब्रह्मा इस यज्ञमें हमारी रक्षा करै; चन्द्रमाही कृष्णवर्ण होनेसे कृष्णब्रह्मा कहलाताहै, शतपथ ब्राह्मण) इस वाजि श्रुतिके अनुसार "गो नामसे प्रसिद्ध सूर्य्यरसको पान करनेके कारण गोपी नामसे प्रसिद्ध नक्षत्रोंके साथ रासक्रीडा[1] करते हुए आकाशविहारी चन्द्रमा को आधिदैविक यज्ञका ब्रह्मा कहाजाताहै। चन्द्रमाका प्रकाश अपना प्रकाश नहीं है, वह सूर्य्यके प्रकाशसेही प्रकाशित रहताहै। प्रातिस्विक रूपसे वह

---

१ आकाशविहारी कृष्णचन्द्र (कालेचांद) की रासक्रीडाका क्या स्वरूप है। एवं ईश्वरावतार वासुदेव कृष्णने व्रजमें गोपियोंके साथ रासक्रीडा क्यों की, इत्यादि विषयोंका वैज्ञानिक विवेचन श्रीगुरुप्रणीत रहस्य, शीर्षक, हृदय इन नामोंसे प्रसिद्ध कांडत्रयमें विभक्त गीताभाष्यके रहस्यकाण्डान्तर्गत आचार्यरहस्य के "वैहायसकृष्णरहस्य" नामके प्रकरणमें देखना चाहिए। यह ग्रन्थरत्न अभीतक अमुद्रितहै।

सर्वथा काला है अतएव उसे कृष्णब्रह्मा" कहाजाताहै। क्योंकि चन्द्रमा ब्रह्मा कहलाताहै अतएव उसकी वाक् 'सुब्रह्मण्या' कहलाती है। एवं पृथिवी अग्निमयी है। अग्निको ही प्रजापति कहते हैं (देखो शत० ६ काण्ड ३।६)। एवं प्रजापतिका अनुष्टुप्छन्द है। अतएव पृथिवीकी वाक्को अनुष्टुप् कहा जाताहै। इन पांचों वाक् प्रपंचोंमें से हम आपका लक्ष्य केवल पारमेष्ठिनी सरस्वती वाक्की ओर दिलाना चाहते हैं। याज्ञिकसृष्टिका मूल यही वाक् है। क्योंकि यज्ञका प्रथम प्रवर्त्तक यही आपोमय परमेष्ठी है, जैसाकि 'अपांप्रणयन' कर्म्मकी उत्पत्तिमें विस्तारके साथ बतलाया जाचुकाहै। सृष्टि—शब्द और अर्थभेदसे दो प्रकारकी है। दोनोंका आधार प्रभवस्थान यही परमेष्ठी है। इसी वाक्को आपोमयी होनेसे 'आम्भृणी' वाक् कहाजाता है। ऋग्वेदके १०।१२५सूक्तमें इसी त्रैलोक्यव्यापिनी आम्भृणी वाक्का वर्णन है। परमेष्ठीमें हमने 'अम्भ' नामके गाङ्गय वायुरूप पवित्रतम पानीकी सत्ता बतलाई थी। बस इसी अम्भके सम्बन्धसे इसे 'आम्भृणी वाक्' भी कहा जाताहै। वस्तुतस्तु परमेष्ठीकी जो वाक्है वह आपोमयी है। उससे दो धाराएं निकलती हैं। एक धाराका नाम सरस्वती है, एक धाराका नाम आम्भृणी है। परमेष्ठीमें भृगु और अंगिरा दोनों हैं। भृगु ऋतहै। इसी लिए परमेष्ठी परमेष्ठी कहलाताहै। एवं अंगिरा सत्यहै। सत्य और ऋत क्या पदार्थहै इसका उत्तर पूर्वके १–२ रे अङ्कमें दियाजाचुकाहै। बस एक-धाराका सम्बन्ध ऋत भृगुसेहै, एकधाराका सम्बन्ध सत्य अंगिरासेहै। दो-नोंधाराओंमें दोनोंहैं। केवल प्रधान अप्रधानका भेदहै। अङ्गिराधारामें अङ्गिरा उद्बुद्धहै, अतएव वह प्रधानहै, भृगु अनुद्बुद्धहै अतएव वह अप्रधा-नहै। एवमेव भृगुधारामें भृगुउद्बुद्धहै अतएव वह प्रधानहै, अंगिराअनुद्-बुद्धहै, अतएव वह अप्रधानहै। दूसरे शब्दोंमें एकधारामें सौम्यप्राणकी प्रधानताहै, दूसरी धारामें आग्नेयप्राणकी प्रधानताहै। बस आग्नेयप्राण

प्रधान जो उस वाक्‌की अंगिरा धाराहै, उसीका नाम सरस्वती है। शब्द-प्रपंचकी अधिष्ठात्री यही सरस्वती वाक् है। एवं सौम्यप्राण प्रधान जो जो उस वाक्‌की भृगुधाराहै उसीका नाम—'आम्भृणी' है। अर्थप्रपंचकी अधिष्ठात्री यही आम्भृणी वाक्‌है। शब्दवाक्‌के परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी चार भेद हैं। इनमें जो मध्यमाहै उसेही ध्वन्यात्मिका वाक् कहते हैं। एवं क–च–ट–त–पात्मिका वर्णवाक्‌को वैखरी वाक् कहते हैं, जैसाकि पूर्व प्रकरणमें बतलाया जाचुकाहै। कचटतप–आदि वर्णविभाग इन्द्रके द्वारा होताहै। सौर अमृतप्राणका नामही 'इन्द्र' है। यह सूर्य्य परमेष्ठीमण्डलके बाद उत्पन्न होताहै, अतएव वहां उत्पन्न होनेवाली सरस्वती वाक्‌में वर्ण विभाग नहीं रहता- उसमें केवल ध्वनिमात्रहै। ध्वन्यात्मिकावाक्‌का नामही सरस्वती है। बस इसी वाक् विज्ञानको बतलानेकेलिए महर्षियोंने सरस्वती को वीणावादिनी (वीणा बजानेवाली) कहाहै। वीणासे सुमधुरा ध्वन्यात्मिका वाक्‌ही अभिप्रेतहै। मुरलीमनोहर भगवान् कृष्णने और किसी वाद्यको न अपनाकर केवल बांसुरीही क्यों बजाई? उन्हें वंशीसे ही इतना प्रेम क्योंथा? इस प्रश्नका उत्तरभी इसीसे सम्बन्ध रखताहै। भगवान् कृष्ण[1] इसी परमेष्ठी विष्णुके अवतारथे। परमेष्ठी घोर कालाहै। क्योंकि परमेष्ठीके बाद पैदा होनेवाले सूर्य्यकी भूतज्योतिका वहां सर्वथा अभावहै। अतएव तदंशभूत वासुदेवकृष्ण कृष्ण कहलाए। एवं वहांकी वाक् ध्वन्यात्मिका थी- अतएव उन्होंने ध्वनिप्रधान वंशीकोही अपना वाद्य बनाया। अस्तु कहना यही है कि परमेष्ठीके अंगिराभागसे सम्बन्ध रखनेवाली जो सरस्वती वाक्‌है वह ध्वन्यात्मिकाहै। वर्णात्मिका वाक् का यही वाक् आधारहै। असली

---

१ वासुदेव कृष्ण परमेष्ठीके अवतार कैसे हैं? इन्होंने वंशी क्यों बजाई? गौएं क्यों चराई? आदि विषयोंका वैज्ञानिक विवेचन गीतारहस्य के "परमेष्ठी कृष्णरहस्य" में देखना चाहिए।

शब्द (प्राथमिक शब्द) यही ध्वनिहै । इसीलिए—"तस्माद्ध्वनिः शब्दः" यह कहाजाताहै । अंगिराकी घनावस्थाका नामही अग्निहै । यही शब्दप्रपंचका मूलहै । अतएव—'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्' (अग्नि क–च–ट–त आदि वर्णवाक् रूपमें परिणत होकर मुखमें प्रविष्ट होगया—ऐतरेय आरण्यक) यह कहाजाताहै । यह केवल कहनाही कहना नहीं है- अपितु वस्तु स्थितिही ऐसी है । कायाग्निही शब्दका प्रभवहै । मनकी इच्छासे शरीराग्निपर धक्का लगताहै । उस धक्केसे क्षुब्ध होकर वह अग्नि वायुके ऊपर प्रेरणाबलका प्रयोग करताहै । वही वायु अग्निसे प्रेरित होकर- उरःस्थलमें आताहुआ मन्दस्वरका जनक होताहै । एवं वह वायु यदि कण्ठतक पहुंचाताहै तो मध्यम स्वरका जनक होताहै, एवं वही यदि मस्तकसे टकरा कर मुंहसे निकलताहै तो तार (अत्युच्च) स्वरको पैदा करताहै । यदि अग्नि का साधारण धक्काहै तबतो वह वायु उरस्थलसे टकराकर ही बाहर निकल जाताहै । यदि अग्निका अधिक वेग होताहै तो कण्ठसे टकराकर निकलता है । यदि औरभी प्रबल आक्रमण होताहै तो माथेसे टकराकर निकलताहै । इन तीन भावोंके कारण वाक्के—मन्द, मध्य, तार, तीन भेद होजाते हैं । इन तीनोंका- गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, इन तीनों छन्दोंसे सम्बन्धहै । गायत्रीका उरःस्थानीय मन्दस्वरसे सम्बन्ध रहताहै । त्रिष्टुपका कण्ठस्थानीय मध्यस्वरसे सम्बन्धहै । एवं जगतीका शिरस्थानीय तारस्वरसे सम्बन्धहै । प्रातःकालसे सायङ्काल तकके तीन विभाग कर डालिए । प्रातःकालमें गायत्र अग्नि रहताहै । मध्यान्हमें त्रैष्टुभ सावित्र ऐन्द्रअग्नि रहताहै । एवं सायङ्कालमें जागत आदित्याग्नि रहताहै । प्रातःकालका गायत्राग्नि अष्टावयवहै अतएव इसके छन्दको गायत्री कहतेहैं । मध्यान्हका सावित्र ऐन्द्रप्राण एकादशावयवहै अतएव इसके छंदको त्रिष्टुप् कहतेहैं । एवं सायङ्कालका आदित्य(इसीको सरस्वती सम्बन्धसे सारस्वत अग्निभी कहाजासकताहै) द्वादशावयवहै अतएव इसके

क्षत्रिय दोनोंके सामने अपना मस्तक झुकादेना चाहिए । गायत्रप्राणकी सत्ता उरःस्थल तकहै वही ब्राह्मणका स्वरूपहै अतएव उसे इतना आचमन करना चाहिए जिससे कि वह जल वहांतक जापहुंचे । तभी उसकी शुद्धि होती है । एवं त्रैष्टुभप्राणकी सत्ता कण्ठतकहै अतएव उसे वहांतक जल पहुंचजाय इतना आचमन करना चाहिए । तभी उसकी शुद्धिहै । एवं जागत प्राणकी सत्ता मस्तक द्वारा मुखतकहै अतएव उसे अपना मुखमात्र गीला करना चाहिए, एवं शूद्रको केवल ओष्ठमात्रसे जलका स्पर्श करना चाहिए । जैसाकि भगवान् मनु कहते हैं—

"हृद्गाभिःपूयते विप्रः, कण्ठगाभिस्तु भूमिपः ।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु, शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः" ॥

(मनुः २ अ० ६२ श्लो० इति)

क्याकहैं कितनेही विद्वान् हमें कहते हैंकि तुम्हें साम्प्रदायिक झगडोंमें न पडकर अक्षरके सीधे अर्थ परही ध्यान रखना चाहिए । खैंचातानीसे वास्तविक अर्थ लुप्त होजाताहै । परन्तु हम सत्यके उपासकहैं । सत्य बात कहने में हमें जराभी हिचकचाहट नहीं है । हमारा सत्यकथन चाहे सनातनधर्मियोंको बुरा लगे, चाहे आर्यसमाजियोंको बुरा लगे, हमें इसकी चिन्ता नहीं है । स्वामी दयानन्दने जोकि आर्यसामाजिक जनताके ऋषि कहलाते हैं उन्होंने 'आचमन' का फल कफशुद्धि बतलायाहै । स्वामीजी महाराज अपने सुविख्यात सत्यार्थ प्रकाश नामके महाग्रन्थमें अपने भक्त शिष्योंको उपदेश देते हैंकि—

"सन्ध्योपासन जिसको ब्रह्मकर्मभी कहते हैं । "आचमन" उतने जलको हथेलीमें लेके उसके मूल और मध्यदेशमें ओष्ठ लगाके करेकि वह जल कण्ठके नीचे हृदयतक पहुंचे, न उससे

अधिक, न न्यून । उससे कण्ठस्थ कफ और पित्तकी निवृत्ति थोडीसी होती है । पश्चात् 'मार्जन' अर्थात् मध्यमा और अनामिका अंगुलीके अग्रभागसे नेत्रादि अङ्गोंपर जल छिड़के । उससे आलस्य[1] दूर होताहै । जो आलस्य[2] और जल प्राप्त न होतो न करै" ।

(देखो सत्यार्थप्रकाश- तृतीय समुल्लास- सन्ध्योपदेश प्रकरण २१ वें संस्करणके १४ हवें पृष्ठकी २-३-३-४-५-६ पंक्तिएं अजमेर वैदिक यन्त्रालयमें मुद्रित) ।

हजारों महर्षियोंके द्वारा विज्ञानकी कसौटी पर कसाहुआ आचमन विज्ञान झूठाहै । जिन भगवान् मनुकी "मनुर्वै यत् किंचिदवत्तद्भेषजं भेषजतायाः" (छान्दोग्यब्राह्मण) इत्यादि श्रुतिवचन मुक्तकण्ठसे प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं । जिस मनुस्मृतिको स्वयं स्वामीजी महाराज प्रमाण मानते हैं, उसका—

"कण्ठगाभिस्तु भूमिपः" आदि कहना झूठाहै । एवं स्वामीजी महाराज की पूर्व पंक्तिएं सच्ची हैं । सवासोलाह आना सच्ची है । क्यों नहीं जबकि उन्होंने पहिलेसे ही अपने भक्तोंको 'प्रक्षिप्त' शब्द सिखारक्खाहै । आप यदि उनके सामने उनके कपोलकल्पित मतके विरुद्ध श्रुति स्मृतिका वचन

---

१ मालुम होताहै स्वामीजी स्नान करनेसे पहिलेही सन्ध्या करते होंगे तभी तो उनको आलस्य दूर करनेके लिए शरीरपर जल छिड़कनेकी आवश्यकता हुई । २ जिस सन्ध्याकर्म को नित्यकर्म बतलाया जाताहै उसी नित्यकर्मके अङ्गभूत नित्यमार्जनको न करनेपरभी स्वामीजीके मतानुसार कोई क्षति नहीं है । धन्यहै महाराज ! खूब सत्य ज्ञानका प्रचार किया ।

रक्खेंगे तो वे उसी तरह उसे प्रक्षिप्त बतलाकर अपना पीछा छुडालेंगे। इसप्रकार शास्त्रविज्ञानसे अपरिचित अन्ध विश्वासी विक्षिप्त लोग प्रक्षिप्त का सहारा लेकर आज संसारमें मनमाना नाटक रचारहे हैं। ऐसेही महाशयों की कृपासे सनातनधर्म्मके गहरेसे गहरे वैज्ञानिक सिद्धान्तोंकी मजाक उडाना वर्त्तमानकालके नवयुवकोंका नित्यकर्म्म बनगयाहै। फलतः दूसरों की विज्ञानराशिका सहारा लेकर अपना स्वत्व खोया जारहाहै, जिसको कि रोकनेके लिए सत्यविज्ञानके प्रचारकी आवश्यकताहै। अस्तु हम पुनः अपने पाठकोंका ध्यान प्रकृतकी ओर लेजाना चाहते हैं। हम बतलारहे थे कि प्रातःसवन स्थानीय गायत्रअग्निका उरस्थानसे सम्बन्धहै, अतएव मनुष्यको चाहिए कि वह प्रातःकाल इसी मन्द्रस्वरसे बोले। यदि वह चिल्लाकरके या जोरसे बोलेगातो उसका वक्षस्थल छिलजायगा, एवं उसके मुंहसे खून आने लगेगा। इसका कारण यही है कि रातभर सोते रहनेके कारण अग्नि मन्द रहताहै। शिथिल रहताहै। प्रातःकाल होतेही उसमें पूरा बल नहीं आता। ज्यों ज्यों दिन बढ़ताहै सौरअग्निके प्रवेशसे त्यों त्यों इसके शरीराग्निकी वृद्धि होती है। ऐसी अवस्थामें प्रातःकाल जोरसे बोलनेमें हानि होगी। क्योंकि जितना बल जोरसे बोलनेमें चाहिए उतना बल अभी उसमें नहीं है। एवं मध्यान्हमें मध्यस्वरसे कण्ठस्थानमें बोलना चाहिए। क्योंकि इस समय इसमें इतना बल आजाताहै। एवं सायङ्काल उच्चस्वरसे बोलना चाहिए। प्रातःकाल शार्दूल पशुके स्वरके समान बोलना चाहिए। मध्यान्हमें—चक्रवाक (चकवा) नामके पक्षिके समान बोलना

१ 'शार्दूलद्वीपिनौ व्याघ्रे' (अमर० २।५।१) इस कोषप्रमाणके अनुसार हिंसक व्याघ्रजातीयपशु विशेषका नामही शार्दूलहै। इसकी आवाज गूंजतीहुई होती है क्योंकि इसकी वाणी उरस्थलसे सम्बन्ध रखनेवाले वायुसे सम्बन्ध रखतीहै।

चाहिए क्योंकि इसका स्वर कण्ठसे सम्बन्ध रखताहै। एवं सायङ्काल मयूर हंसादिके समान बोलना चाहिए। क्योंकि इनका स्वर मस्तकसे सम्बन्ध रखताहै। इससे सङ्गीतकी भी शिक्षा मिलती है। प्रातःकाल मन्दस्वरसे गाना चाहिए। भैरवी, कालिङ्गडा, मालकोष आदिका इसी स्वरसे सम्बन्धहै। मध्यान्हमें मध्यस्वरसे गाना चाहिए। एवं सायङ्काल पंचमस्वरसे गाना चाहिए। सारे कथनसे प्रकृतमें हमें केवल यही बतलानाहैकि वाक्का मूल अंगिराग्निही है। इसेही सरस्वती वाक् कहते हैं। बस इसी वाग्विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर अभियुक्त कहते हैं—

आत्मा बुध्या समेत्यर्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ १ ॥

मारुतस्तूरसिचरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्।
प्रातःसवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम् ॥ २ ॥

कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम्।
तारं तार्तीयसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम् ॥ ३ ॥

सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहितो वक्त्रमापद्यमारुतः।
वर्णाञ्जनयते .... ॥ ४ ॥

प्रातःपठेन्नित्यमुरस्थितेन स्वरेण शार्दूल रुतोपमेन।
मध्यंदिने कण्ठगतेनचैव चक्राह्व संकूजित सन्निभेन ॥ ५ ॥

---

१ अग्निसे प्रेरित वायु अग्निके तारतम्यसे उरस्थल, कण्ठ, शिर, तीन स्थानोंसे टकराताहै। इन तीनोंमें ही यदि उरस्थलसे टकराकर मुख में आताहै तो मन्द्रस्वर होताहै। कण्ठस्थानसे टकरानेसे मध्यस्वर होता है। यदि बीचके दोनों स्थान छोड़कर सीधा मस्तकसे टकराकर मुखमें से निकलताहै तो तारस्वर होताहै।

तारं तु विद्यात् सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम् ।
मयूर हंसान्यभृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिरःस्थितेन ॥ ६ ॥

(पा० शिक्षा० इति)

पूर्वके निरूपणसे श्लोकोंका अर्थ स्पष्ट होजाताहै । अतः यहां इनके स्वतन्त्र रूपसे अर्थ बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

'अंगिराभागही शब्दप्रपंचका जनकहै' यह पूर्वप्रकरणसें भलीभांति सिद्ध होजाताहै । अग्निही शब्द वाक्है, इसमें प्रत्यक्षप्रमाण यही है कि यदि आप दो घण्टे निरन्तर बोलते रहते हैं तो आप थकजाते हैं । इस थकानका कारण एकमात्र अग्निकी कमी है । शरीरमें जो बलहै वह अग्निही है ; जिसके शरीरमें अग्निकी मात्रा जितनी अधिक होती है वह उतनाही अधिक बलवान होताहै । एवं अग्निकी मात्रा जितनीही कम होती है उतनाही निर्बल होताहै । अधिक बोलनेसे कमजोरी मालुम होती है अतएव मानना पडताहै कि अग्निही शब्दरूपमें परिणत होकर मुखसे निकलताहै । अतएव अधिक बोलनेवालेका मुंह अग्नि निकलजानेके कारण शुष्क होजाताहै । यहतो हुई अङ्गिरा प्रधान सरस्वती वाक्की कथा । अब चलिए भृगु प्रधान आम्भृणी वाक्की ओर । इसीसे सारे अर्थ उत्पन्न होते हैं । आप्यप्रधाना आम्भृणीसे ही सारे लोक बनते हैं । इसीसे भूत उत्पन्न होते हैं । पानी ही पुरुष-अर्थकी उत्पत्तिका कारणहै । पानीही सब कुछहै इसी अभिप्रायसे चयन श्रुति कहती है—

"सर्वाणि हत्वेव भूतानि, सर्वेदेवा एषोऽग्निश्चितः । आपो वै सर्वेदेवाः, सर्वाणि भूतानि । ता हैता आप एव एषोऽग्निश्चितः" (शतपथ० १० काण्ड ६।५।१४ कं० इति) ।

पहिले अग्निके लिए "सर्वाणिदेवाः०" इत्यादि कहकर बादमें 'आपो वै सर्वेदेवाः०' इत्यादि कहतेहुए 'ता हैता आप एव एषोऽग्निश्चितः' पर उपसंहार कियाहै। इसका कारण यही है कि आप ऋतहै। अग्नि सत्यहै। सत्य अग्नि सदा ऋतसे घिरा रहताहै। दोनों अविनाभूतहैं। अर्थ प्रपंचमें भी दोनों हैं, शब्द प्रपंचमेंभी दोनों हैं। शब्दप्रपंचमें भृगुगर्भित अङ्गिराहै। अर्थप्रपंचमें अङ्गिरागर्भित भृगुहै। बस पारमेष्ठिनी वाक्से यही दो वाक् धारा निकलती हैं। दोनोंका प्रभव एकहै। दोनों अविनाभूतहैं। अतएव शब्दप्रपंच और अर्थप्रपंच अविनाभूतहैं। इसी विज्ञानके आधार पर—

"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" यह कहाजाताहै।

इस प्रकार शब्द और अर्थकी अभिन्नता सर्वात्मना सिद्ध होजाती है। शब्द और अर्थ दोनों अभिन्नहैं- इसीलिए दोनोंके प्रतिपादक शास्त्रोंकी परिभाषाएं जानलीजिए परब्रह्मका ज्ञान गतार्थहै। प्रसङ्गागत दोनोंकी समानताका भी सूक्ष्मरूपसे निदर्शन करादेना अनुचित न होगा। शब्दप्रपंचमें—

"अकारो वै सर्वावाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नाना रूपा भवति" (अकारही सारा वाक् प्रपंचहै। यह वाक्ही स्पर्श और ऊष्मासे व्यक्त होतीहुई नानारूपमें परिणत होजाती है. ऐ० आरण्यक २।३।७)।

इस श्रुतिवचनके अनुसार जैसे एकही अकारसे वैदिकवर्णमातृकाके २८८ वर्ण प्रादुर्भूत होजाते हैं, इसीप्रकार अर्थप्रपंचमें केवल एकही ब्रह्मासे (प्रतिष्ठारूप वेदघन तत्वविशेषसे) सारा संसार बनाहै। संसारका उपादान यही वेदमूर्ति ब्रह्माहै। ऋग् यजुः साम भेदसे एकही वेदके तीन विभाग होजाते हैं। इन तीनोंमें ऋक् और साम दोनों छन्दहैं, एवं यजु वय (छन्द

से छन्दित रहनेवाला असली पदार्थ) है। इस यजुमें यत् और जू दो भाग है। स्थिति तत्वका नाम जूहै, गतितत्वका नाम यत् है। यही दोनों आकाश वायुहैं। आकाश स्थिरहै, वायु चलहै। दोनोंकी समष्टि यज्जू है। परन्तु इस बातको ध्यानमें रखना चाहिए कि जिसे आज साधारण मनुष्य वायु कहते हैं, वह वायु यजुका वायु नहीं है। वह वायु तो मूलभूत मौलिक वायु है। उसीसे आगेकी भूतभौतिक सृष्टि होनेवाली है। अस्तु इसी यज्जूको परोक्ष प्रियदेवता 'यजू' कहते हैं (देखो शत० १०।३।५)। यही यजुर्वेद असली ब्रह्म किंवा ब्रह्माहै। इसी ब्रह्मासे सारी सृष्टि होती है। इसका जो यत् (गति) भागहै वह आगति गतिभेदसे दो प्रकारका होजाताहै। केन्द्रसे प्रधिकी ओर जो गति होती है उसीका नाम गतिहै। एवं प्रधिसे केन्द्रकी ओर जो गतिहै उसका नाम आगतिहै। इस प्रकार एकही ब्रह्मके—स्थिति, आगति, गति, तीन भेद होजाते हैं। स्थितिका नाम ब्रह्म है, आगतिका नाम विष्णुहै, गतिका नाम इन्द्रहै। हमारे वेदका इन्द्रही पुराणका महेशहै। मूलभूत होनेसे स्थितितत्व (ब्रह्मतत्व) संसारका प्रभव कहलाताहै। एवं बाहरसे वस्तु लाकर वस्तुकी स्वरूपसत्ता रखनेके कारण आगतिरूप विष्णुतत्व 'पालक' कहलाताहै। एवं केन्द्रसे बाहरकी ओर वस्तुगत पदार्थोंको अपनी विशेषण शक्तिद्वारा बाहर फेंकने वाला गतिरूप इन्द्रतत्व (पुराण परिभाषानुसार रुद्रतत्व) 'संहार कर्ता' कहाजाताहै। इन तीनोंमें—जबतक गति और आगति स्वतन्त्र रहती है तबतकतो दोनों इन्द्र और विष्णुही कहलाते हैं, परन्तु जब दोनोंका उस स्थितितत्वके साथ समन्वय होजाताहै, तो यही दोनों अग्नि और सोम कहलाने लगते हैं। गति विकासरूपहै। इसका जब उस स्थितिके साथ सम्बन्ध होजाताहै तो वही स्थिति अग्नि कहलाने लगती है। एवं संकोचरूप आगतिसे मिलकर वही ब्रह्म सोम कहलाने लगताहै। इसप्रकार केवल अवस्थाविशेषके कारण

एकही अक्षर ब—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम, पांच स्वरूप धारण करलेताहै। इन पांचोंमें तीन एक श्रेणीमें हैं, इन्हींकी समष्टिका नाम हृदयहै, जैसाकि ३ रे अङ्कमें बतलाया जाचुकाहै। एवं अन्तके दोनों एक श्रेणीमें हैं। इन्हीं दोनोंके (अग्नीषोमके) समन्वयके तारतम्यसे विविध भावापन्न संसार उत्पन्न होताहै। बस यही हालत शब्दब्रह्ममें है। वहांभी एकही अकार तालुस्थानसे बुलकर 'इ' के रूपमें परिणत होजाताहै। उसी अ को जब आप कण्ठस्थानसे न बोलकर तालु स्थानसे बोलेंगे तो वह अ न बुलकर इ बुलजायगा। उसीको जब ओष्ठस्थानसे बोलाजाताहै तो वह उ के स्वरूपमें परिणत होजाताहै। मूर्धास्थानसे बोलेजानेपर वही ऋ बन जाताहै। दन्तस्थानसे बुलकर ऌ बनजाताहै। इस प्रकार अवस्थाविशेषके कारण एकही अ—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, इन पांच स्वरूपोंमें परिणत होजाताहै। इन पांचों अक्षरोंमें—अ, इ, उ, एक श्रेणिमेंहैं। ऋ, ऌ, एक श्रेणिमें हैं। यही पांचों अक्षर शब्द सृष्टिके—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोमहै। तीनों शुद्धहैं। दोनों वैकारिकहैं। इसी विज्ञाको बतलानेके लिए ऋ—ऌ में अज् भक्तिके बीचमें- र्, ल्, डालागयाहै। डाला क्या गयाहै-अपने आप डलगयाहै। उधर सारी शब्दसृष्टि- अ, इ, उ, ऋ, ऌ, इन पांच अक्षरोंसे होती है, इधर सारी अर्थसृष्टि- ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम, इन पांचोंसे होती है। स्पर्श संकोचसे सम्बन्ध रखताहै, ऊष्मा विकास से सम्बन्ध रखती है। स्पर्श साक्षात सोमहै, ऊष्मा अग्निहै। इन्हीं दोनों के तारतम्यसे (अग्नीसोमके तारतम्यसे) सारी वर्णसृष्टि होती है, एवं इन्हीं दोनोंके तारतम्यसे अर्थसृष्टि होती है। शब्दसृष्टिमें स्फोट, स्वर, वर्ण, तीन तत्वहैं, इधर अर्थसृष्टिमें भी अव्यय, अक्षर, क्षर, यही तीन तत्वहैं। स्फोट अर्थसृष्टिका अव्ययहै, स्वर अक्षरहै अतएव "स्वरोऽक्षरं सदासैर्व्यजनैः पूर्वैश्चावृतिः" (का० प्रा०) यह कहा जाताहै। एवं वर्ण क्षरहै।

उधर अव्यय स्थानीय स्फोट धरातल पर (आलम्बने तत्वपर) प्रतिष्ठित होकर अक्षर स्थानीय स्वर, क्षर स्थानीय वर्णसे सारी शब्दसृष्टिका निर्म्माण किया करताहै, इधर अव्ययालम्बनपर प्रतिष्ठित होकर अक्षर, क्षरसे सारी अर्थसृष्टिका निर्म्माण कियाकरताहै। इस विषयको अप्राकृत होनेके कारण हम अधिक नहीं बढाना चाहते। सारे प्रपंचसे प्रकृतमें हमें केवल यही बतलानाहै कि शब्द और अर्थ (अर्थब्रह्मको ही परब्रह्मभी कहाजाताहै) दोनों अभिन्नहैं। एवं दोही जाननेकी वस्तुहैं। इन दोनोंके अलावा वास्तवमें कोई तीसरी वस्तु नहीं है। दोनों अभिन्नहैं, अतएव दोनोंके समान नियमहैं। दोनोंमें शब्दब्रह्मकी अपेक्षा परब्रह्मको जानना कठिनहै, इसीलिए शब्द ब्रह्म द्वारा परब्रह्म ज्ञानकी सुलभता बतलाते हुए वेदमहर्षि कहते हैं—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

इसी आधारपर वैय्याकरण धुरीण भगवान् भर्तृहरि—

इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ।
अत्रातीतविपर्य्यासः केवलामनुपश्यति ॥

यह कहकर शब्द प्रपंचको मुक्तिका द्वार बतलाते हैं। इसी आधारपर "एकः शब्दः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गेलोके कामधुग् भवति" (म० भा० १।१।१ प्रदीप) इत्यादि रूपसे शब्दब्रह्मको स्वर्गप्राप्तिका साधन बतलाते हैं। वास्तवमें बात यथार्थ है। प्राप्तव्य स्थानके दोनों मार्ग हैं। दोनों भिन्न होते हुएभी अविनाभूतहैं। इसीलिए तो शब्दवाक्के प्रयोगसे (मन्त्र प्रयोगसे) अर्थरूप विच्छूका विष शान्त होजाताहै। इसी आधार पर तो "जपात् सिद्धिः" यह कहाजाताहै। क्योंकि दोनों अविनाभूतहैं। दोनों वाक्हैं। बस इस शब्दवाक और अर्थवाकके भेदसे कल्पभी शब्द और अर्थभेदसे

ही प्रकारका होजाताहै । शब्द छन्दका शब्द प्रपंचसे सम्बन्धहै, अर्थछन्दका अर्थ प्रपंचसे सम्बन्धहै । "अक्षर" शब्दका दोनोंके साथ सम्बन्धहै । अक्षरसे केवल छन्दसे अवच्छिन्न भावोंके अवयव अभिप्रेतहैं । पृथिवीका पदार्थ अग्निहै । उसका छन्द गायत्री है । उसके आठ अक्षरहैं । इसका तात्पर्य यहीहै कि वह छन्द अष्टावयवहै । इससे यहभी सिद्ध होजाताहै कि पृथिवी का अग्नि अष्टावयवहै । यहांपर पदार्थके आठ अवयवही आठ अक्षरहैं । एवं जब हम अपने मुखसे गायत्री छन्द बोलते हैं, तो उसमें भी आठ अवयव होते हैं । इन आठ अवयवोंका शब्दाक्षरसे सम्बन्धहै । दोनोंके अवयवों के लिए "अक्षर" शब्द प्रयुक्त होताहै यही कहनाहै । हम आगेके प्रकरणों में दोनोंके लिए अक्षर शब्दका प्रयोग करेंगे । उससे पाठकोंको भ्रम न होजाय इस लिए अक्षर शब्दका सांकेतिक अर्थ बतलादिया गयाहै। विज्ञान न जाननेके कारण आजदिन छन्दका केवल शब्दप्रपंचसे ही सम्बन्ध समझा जाताहै, परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है । छन्दका[2] दोनों प्रपंचोंसे ही सम्बन्धहै जैसाकि पूर्वके निरूपणसे भलीभांति सिद्ध होजाताहै । इसीलिए महाभारतमें लोकगायत्रीके २४ अक्षर गिनाते हुए २४ पदार्थोंकी गणना की है । जैसाकि आगेके श्लोकोंसे स्पष्ट होजाताहै—

१—१ आप, २ फेन, ३ उषा, ४ सिकता, ५ शर्करा, ६ अश्मा, ७ अय, ८ हिरण्य, अग्निके यही आठ अवयवहैं । एकही अग्नि इन आठ स्वरूपों में परिणत रहताहै । इस विषयका विस्तृत विवेचन चयन विद्यामें (श० ६।१।३।६) देखना चाहिए ।

२ छन्द क्या पदार्थ है ? छन्दके अवान्तरभेद कितने हैं ? आदि विषयों का अभिनवप्रणीत छन्दोविषयक "छन्दःसमीक्षा" नामके सुविस्तृत ग्रन्थमें देखना चाहिए । इस महाग्रन्थका "छन्दशास्त्रकी भूमिका" नामका उपपत्ति प्रकरण "पिङ्गलसूत्र" के साथ छपचुकाहै । यह ग्रन्थ निर्णयसागरप्रेस बम्बई से प्राप्त होसकताहै ।

सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च महिषा वारणास्तथा ।
ऋक्षाश्च वानराश्चैव सप्तारण्याः स्मृता नृप ॥१॥
गौरजाविमनुष्याश्च अश्वाश्वतरगर्दभाः ।
एते ग्राम्याः समाख्याताः पशवः सप्त साधुभिः २॥
एते वै पशवो राजन् ग्राम्यारण्याश्चतुर्दश ।
वेदोक्ताः पृथिवीपाल येषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः ॥३॥
उद्भिजाः स्थावराः प्रोक्तास्तेषां पंचैव जातयः ।
वृक्षगुल्मलतावल्ल्यस्त्वक्सारास्तृणजातयः ॥४॥
तेषां विंशतिरेकोना महाभूतेषु पंचसु ।
चतुर्विंशतिरुद्दिष्टा गायत्री लोकसंमता ॥ ५ ॥
य एतां वेद गायत्रीं पुण्यां सर्वगुणान्विताम् ।
तत्वेन भरतश्रेष्ठ स लोके न प्रणश्यति ॥ ६ ॥

(महाभारत) इति ।

इस प्रकार इन लोकों से—"पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये" (यजुः सं० ३१।६) इस श्रुतिमें कहेहुए १४ संसज्ञ (चेतन) प्राणियोंको, वृक्ष, लता, गुल्म, वल्ली, त्वक्सार, इन पांच अन्तःसंज्ञ (अर्द्धचेतन) प्राणियोंको, एवं पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, इन पांच असंज्ञ (अचेतन) पदार्थोंको मिलाकर २४ की संख्या पूरी कर लोकगायत्रीका स्वरूप बतलाया गयाहै। सातों लोक इन २४ अक्षरोंसे व्याप्तहै । इस उदाहरणसे अक्षर का दोनोंके साथ सम्बन्ध सिद्ध होजाताहै। अक्षरसे सम्बन्ध रखनेवाली शब्द वाक् और अर्थवाक् दोनोंके परिमाणविशेषका ही नाम छन्दहै जैसाकि पूर्व में बतलाया जाचुकाहै। शब्द किसीन किसी विषयसे सम्बन्ध रखताहै। पदकी किसीन किसी पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्नमें शक्ति रहती है। निरुक्त के—"अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षर वर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्, न त्वेव न निर्ब्रूयात्"

(यदि शब्दके अर्थको प्रकट करनेवाला सामान्यभाव उस शब्दमें वाक्यमें नहीं है तो उस वाक्य किंवा शब्दके अक्षर एवं वर्णगत सामान्यभावको लेकर उसका निर्वचन करडालना चाहिए । इस शब्दमें सामान्यअर्थ प्रकट नहीं होता अतएव इसका निर्वचन नहीं होसकता–इस नहींके रूपमें शब्द का निर्वचन नहीं करना चाहिए–यास्कनि० २ । १ । ४) इस सिद्धान्तके अनुसार ऐसा कोईभी शब्द नहीं है जिसका कोई अर्थ नहो । शब्द किसी वस्तुका वाचकहै । उस शब्दार्थमें शब्द सरस्वतीवाक्है, अर्थ आम्भृणीवाक् है । दोनों अविनाभूतहैं ।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाहृते ।
अनुविद्धमिवज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ (वाक्यपदी)

यह इसी आधारपर कहाजाताहै । भगवान् भर्तहरि कहतेहैं कि ऐसा कोईभी ज्ञान नहीं है जो शब्दके बिना उत्पन्न होताहो । ज्ञान प्रपञ्च शब्दमें ओतप्रोत होकरही प्रतिभासित होताहै । बात यथार्थहै । गो-शब्दके सुनतेही तद्विषयक ज्ञान दूसरे शब्दोंमें गौकीमूर्ति सामने खडी होजातीहै । एवमेव गौको देखतेही–'गो' शब्द खयालपर चढजाताहै । बस इन्हीं सबकारणोंसे हम दोनों को अभिन्न कहनेकेलिए तय्यारहैं । इसी शब्दार्थमय आधिदैविक जगतसे आधिभौतिक एव आध्यात्मिक जगत्की उत्पत्ति होतीहै अतएव इनदोनों में भी शब्द और अर्थ दोनोंकी सत्ता सिद्ध होजाती है । बस इसीलिए आधिदैविक जगत्के साथ अध्यात्मका सम्बन्ध करनेके लिए अर्थ प्रपञ्च (आधिभौतिक पदार्थ) एवं शब्दप्रपञ्च (मन्त्रवाक्) दोनों का सहारा लेनापडताहै । हमने बतलादियाहै कि छन्दभेदके कारण ३३ सों देवताओं का स्वरूप एक दूसरेसे सर्वथा पृथक् पृथक् है । उदाहरणार्थ मूल-भूत पार्थिव अग्नि देवताकोही लीजिए । इस अग्निके छंदका नाम गायत्री है । गायत्री छंद आठ अक्षरकाहै । अर्थ प्रपञ्चमें आठअक्षर आठ वस्तुहैं ।

शब्द प्रपञ्चमें आठ अक्षर आठ अक्षरहैं। गायत्री छंदकी अष्टावयवता अनेक प्रकारसेहै। ४ आत्मा, २ पक्ष, १ पुच्छ, १ शिर, यह आठों गायत्र अग्निके आठ अवयवहैं। आत्मासे यहां मूलद्वारसे प्रारम्भकर कण्ठतकका भाग अभिप्रेतहै। मस्तक, हाथ, पैर, आदि इतर शरीरावयवोंकी अपेक्षा इसभागमें चौगुना अग्नि रहताहै, अतएव इसे आत्मा कहाजाताहै। बायां हाथ बायां पैर एकपक्षहै, दहिना हाथ एवं दहिना पैर एक पक्षहै। एवं मूलग्रन्थिके पासकी त्रिकास्थिमें रहनेवाला प्राण पुच्छहै। यही सर्वाङ्ग शरीरकी प्रतिष्ठाहै। इस पुच्छसे 'डारविन' के सिद्धान्तकी पुष्टि नहीं समझनी चाहिए। डारविननें बंदरोंको मनुष्य जातिका पूर्वज बतलातेहुए इनके प्रारम्भ कालमें इन्हें पूंछवाला सिद्ध कियाहै। परन्तु यह थ्योरी हमारे वैदिक विज्ञानके सर्वथा विरुद्ध अतएव त्याज्यहै। पशुओंके जैसे पूंछ होतीहै, एवमेव पुरुषोंके भी पूंछ होतीहै। दोनोंमें सृष्टिके प्रारम्भ कालसे ही पूंछहै। परन्तु दोनोंके स्वरूपमें बडा अन्तरहै। पुरुषमें भी पूंछहै परन्तु बहुत छोटी, दूसरे शब्दोंमें नहीं होनेके समान। जिसे हमने त्रिकास्थि कहाहै वह पूंछका हिस्साहै। परमेश्वरनें जितनी प्राणमात्रा पशुको दीहै, उतनीही मनुष्यको दीहै, केवल संनिवेश क्रमके भेदसे स्वरूपमें अन्तरहै। जितना पुच्छ प्राण पशुमें है उतनाही पुच्छप्राण एक मनुष्यमें है। अन्तर केवल इतनाही है कि पुरुषके पुच्छ भागका अधिक हिस्सा मस्तिष्क के निर्म्माणमें उपयुक्त होजाताहै। अर्थात् अधिक भाग ज्ञानमात्रा के निर्म्माणमें काम आजाताहै। पशुमें मनुष्यकी अपेक्षा ज्ञानमात्रा बहुतही कम रहतीहै क्योंकि यहां साराभाग पुच्छ निर्म्माणमें काम आजाताहै। यह पुच्छ व्यवस्था दोनों में नियत है। जितनी पूंछ पुरुषमें आजहै, २ लाख वर्ष पहिलेभी इतनीहीथी। यज्ञविज्ञान को देखने से पताचलताहै कि पुरुष का स्वरूप जैसा आजहै सृष्टिके प्रारम्भमें भी ऐसाही था जैसाकि आगे आनेवाले यज्ञपुरुषादि ब्राह्मणोंमें स्पष्ट

होजायगा। ऐसी अवस्थामें हमारी दृष्टिमें डारविन्‌के सिद्धान्तका कोई मूल्य नहीं है। अस्तु इस विषयपर प्रकृतमें अधिक प्रकाश नहीं डाला जासकता। यहां केवल यही समझलेना पर्य्याप्त होगाकि त्रिकास्थिगत प्राणका नामही पुच्छप्रतिष्ठाहै। इन सातों भागोंका जो श्री (रस) भागहै उससे आठवां शिरभाग बनताहै। 'सातभाग चित्याग्निमय हैं, आठवां शिरभाग चितेनिधेय (अमृत) अग्निमयहै। इसप्रकार अध्यात्ममें उस गायत्री छंदसे छंदित गायत्रअग्निके आठ विभाग होजाते हैं। अपि च—ब्रह्मरन्ध्रसे पाद पर्यन्त दूसरे क्रमसे अग्निके आठ अवयव विभक्तहैं। एक एक अवयव एक एक प्राणहै। "प्रादेशमितः प्राणः" इस श्रुतिके अनुसार प्रत्येक प्राणका व्याप्तिमण्डल प्रादेशमात्र (१०॥ अंगुल) है। 'स भूमिं सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम्' (वह उस स्थानका चारोंऔरसे वेष्टनकर १०॥ अंगुलमें बैठगया) इस श्रुति द्वारा भी प्राणकी प्रादेशताही सिद्ध होतीहै। हमारे शरीरमें ऐसे आठ प्राणहैं। अपनी नांपसे प्रत्येक मनुष्य आठ आठ प्रादेशकाहै। यदि कम अथवा अधिक होतो उसे वैकारिक समझना चाहिए। ब्रह्मरन्ध्रसे कण्ठतक एक प्रादेशहै। कण्ठसे हृदयतक दूसरा प्रादेशहै। हृदयसे नाभितक तीसरा प्रादेशहै। नाभिसे मूलद्वारतक चौथा प्रादेशहै। मूलद्वारसे गोडेकी पालीतक ५–६ दो प्रादेशहैं। यहांसे पैरतक ७–८ दो प्रादेशहैं। इसप्रकार सारे शरीरमें कुल आठ प्रादेशहैं। प्रत्येक १०॥ अंगुलका है। अतः कुल ८४ अंगुल होजातेहैं। बस, लम्बाहो अथवा नाटा अपनी नापसे प्रत्येक मनुष्य ८४ अंगुलकाहै। क्योंकि गायत्री छंदसे इसका निर्म्माणहै। गायत्रीके आठ अक्षर होते हैं। एक एक अक्षर एक एक प्राण हैं। प्रत्येक प्राण प्रादेशमितहैं। यही गायत्रीके आठ अवयवों का दूसरा विभागहै। एवं आपः फेनादि ८ व्याहृतियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले विभागका पूर्वमें निरूपण कियाही जाचुकाहै। प्रकृतिमें भी गायत्रअग्नि प्राणरूपसे व्याप्त रहताहै। उसीकानाम देवताहै। इस प्राणरूप

अतएव देवतानामसे प्रसिद्ध गायत्रअग्निको अध्यात्मके साथ युक्त करने का एकमात्र उपायहै, आठही आधिभौतिक पदार्थोंका सहारालेकर अष्टाक्षर गायत्रीमन्त्रका प्रयोगकरना। यहां उभयथा आठका प्रयोग होतेही अपने आप छन्दकी मूर्त्ति बनजाती है। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि हम जो अक्षर मुंहसे बोलतेहैं शून्याकाशमें उसकी एक तस्वीर बनजातीहै। यदि बारबार उसकी पुनरावृत्ति कीजाती है तो चयन (चिनाव किंवा चेजा नाम से प्रसिद्ध व्यापारकोही याज्ञिक परिभाषामें चयन कहतेहैं) के कारण वह अक्षरमूर्त्ति स्थूलरूपमें परिणतहोकर सामने खडी होजाती है।

"स तु दीर्घकालादरनैरन्तर्य सत्कार्य सेवितो दृढभूमिः" (पा० यो० दर्शन) के अनुसार दृढभूमिमें चिरकालादिका अभ्यासही प्रधानकारणहै। सनातनी जगत् इसी विज्ञानके आधारपर जपद्वारा देवताका प्रसन्न होना मानताहै। जिस देवताको पकडना होताहै उसके छन्दके अनुसार उदात्त, अनुदात्तादि स्वरयुक्त मन्त्रवाक् का प्रयोग किया जाताहै, एवं उस देवताके स्वरूपके अनुकूल उसकी पूजाके पदार्थ लिएजातेहैं। इसप्रकार यथोक्त विधिके अनुसार नियम पूर्वक आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक वाक्प्रपञ्चपर निरन्तर व्यापार करनेसे उस देवताका साक्षात्कार होजाताहै। संख्याकी समानता के कारण यहछंद उस देवछन्दको पकडलेताहै। उसीतरह छंदसे छन्दित देवता पकडमें आजाताहै। उस देवताका एवं उसके छंदका जैसा स्वरूपहै उससे यदि प्रमादवश साधक छन्दमें गडबड होजातीहै तो ठीक कनक्शन न मिलनेसे जैसे बिजलीके दोतार परस्पर संयुक्तहोकर विस्फोटन कर डालतेहैं एवमेव वही देवता अध्यात्मका घातक बनजाताहै। इन्द्रको मारनेकेलिए यज्ञ करताहुआ वृत्रासुर 'इन्द्र शत्रुर्वर्धस्व' बोलतेहुए इसी स्वर (समास स्वर) दोषसे उलटा इन्द्रद्वारा अपना सर्वनाश करावैठाथा। विरुद्ध होतेही छंदका स्वरूप बिगड जाताहै। मात्रा, स्वर, वर्ण, आदि किसी

यदि जरासीभी त्रुटि होजाती है तो उलटा सत्यानाश होजाता है। इसीका स्मरण दिलाते हुए भाष्यकार कहते हैं—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

(महाभाष्य १।१।१ इति)

निदर्शन मात्र है। सभी देवताओं के विषयमें यह साधारण नियम समझना चाहिए। यदि आप इन्द्रको पकडना चाहेंगे तो आपको ११ अक्षरवाले त्रिष्टुप् छन्दका प्रयोग करना पडेगा। क्योंकि आन्तरिक्ष्य मरुत्वान् इन्द्र त्रिष्टुप् छन्दसे ही छन्दित रहते हैं। एवं जैसे अष्टाचय अग्निदेवताकेलिए 'अष्टाकपाल पुरोडाश होताहै एवमेव यहां इस एकादशावयव इन्द्रके लिए एकादशकपाल पुरोडाश' का निर्वाप करना पडेगा। इसप्रकार शब्द छन्द (त्रिष्टुप् छन्द), और अर्थछंद (११ कपाल दोनोंसे वह प्राकृतिक छंद पकडमें आजायगा। एवं उस छन्दके सहारे तदवच्छिन्न देवताका आत्माके साथ सम्बन्ध होजायगा। योंतो अनेक छंद हैं, एवं अनेक देवता हैं, परन्तु स्थूलरूपसे चार छंदोंमें ही सारे छंदों का अन्तर्भाव मानलिया जाता है। 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' (आप जो कुछ देख रहे हैं सब चार चार हैं—अर्थात् प्रत्येकमें चार चार हैं कौ० ब्रा० २।१।) इस अनुगम श्रुतिके अनुसार पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, आप, भेदसे चारलोक हैं। इन चारोंलोकों के छंदका स्वरूप बतलावें इसके पहिले अनुगम किसे कहते हैं यह जानलेना भी आवश्यक होगा। जिन वेद वचनोंके आधारपर ब्राह्मणग्रन्थ चलते हैं—उनवेद वचनोंको निगम और अनुगम दो भागोंमें विभक्त मानरक्खा है। नियत विषयका प्रतिपादन करने वाला वेद वचन 'निगम' कहलाताहै एवं अनेक स्थलोंमें प्रवृत्त होनेवाला वेद वचन अनुगम कहलाताहै। दोचार

उदाहरणों से निगम अनुगमका भेद भली भांति समझमें आजायगा—'देवानां वै विधामनु मनुष्याः' (मनुष्य देवताओंके चलाए हुए मार्गका अनुकरण करनेवाले हैं शत० ६।४।२।६)। त्रिविधाग्निः, अंगारा, अर्चिर्धूम इति—अग्नि, अंगार, अर्चि, धूम भेदसे त्रिवृत् है। लाल अंगार है। प्रकाशमण्डल अर्चि है। धूआं प्रसिद्धही है कौ० उ० २८।५)। इत्यादि वचन निगम नामसे व्यवहृत होते हैं—क्योंकि पूर्ववाक्य नियत विषयका ही प्रतिपादन करते हैं। एवं 'षोडशकलंवा इदंसर्वम्' (सब षोडशकलायुक्त हैं—कौ० ब्रा० ८।१) चतुष्टयं वा इदं सर्वम् (कौ० ब्रा० २।१) आदि श्रुतिवचन अनुगम नामसे व्यवहृत होतेहैं' क्योंकि ऐसे वचन नियत विषयमें ही रूढ नहीं है। ऐसे वचनों को हम एकप्रकार से यौगिक कहसकते हैं। पञ्चकलअव्यय, पञ्चकलअक्षर, पञ्चकलक्षर, परात्पर भेदसे आत्मा षोडशकलहै, यह आत्मा सर्वव्यापकहै। इसलिएभी 'षोडकलंवा' इत्यादि कहाजासकताहै। एवं, अन्तर्य्यामी, सूत्रात्मा, वेदात्मा, चिदात्मा, यज्ञात्मा, विज्ञानात्मा, दैवात्मा, आकृतिमहान्, प्रकृतिमहान्, अहंकृतिमहान्, शरीरात्मा, हंसात्मा, वैश्वानरात्मा, तैजसात्मा, प्राज्ञात्मा, इन १५ खण्ड आत्माओं से युक्त एक वही षोडशीपुरुष सर्वत्रव्याप्तहै। प्रत्येक प्राणी में १६ आत्माहैं। इस अभिप्रायसे भी 'षोडकलंवा० इत्यादि कहाजाताहै। एवं प्रत्येकमें १६ १६ हैं—इसलिएभी षोडशकलं यह कहाजाताहै। दूसरीहै—चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' यह श्रुति। १ परात्पर २ अव्यय ३ अक्षर ४ क्षर। १ परात्पर, २ पुरुष (अव्य, अक्षर, क्षर) ३ प्रकृति, (स्वयम्भू आदि) ४ विकृति (प्रजा आदि)। १ आत्मा, २ प्राण, ३ ब्रह्मौदन, ४ प्रवर्ग्य, । इसप्रकार कई तरंहसे इस पूर्वश्रुति वचनकी भी अनुगमता सिद्ध होजातीहै। इसी अनुगमके अनुसार—लोकभी १ पृथिवी, २ अन्तरिक्ष, ३ द्यौ, ४ आप, भेदसे चार मानेंजाते हैं। पहिलके तीनों लोक अग्निमयहैं, एवं यह चौथा सोम-

मयहै। सोमकी घनावस्थाका नामही आपहै—अतएव इसे आपोलोक भी कहाजाताहै। त्रैलोक्यतो प्रसिद्ध हैही। किन्तु—'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' कौषीतकि ब्राह्मण) इस श्रुति प्रमाणके अनुसार इस चौथे लोक की भी सत्ता स्वीकार करनी पडती है। सोम दिग्भास्वर भेदसे दोप्रकार का बतलाया जाचुकाहै। दिक्सोमके अभिप्रायसे ही (हेसोम तुम इस विशाल अन्तरिक्षमें व्याप्त होगएहो' यह कहाजाताहै—ऋक् १।९१।२२)। इसी अभिप्रायसे दिक्सोममय इस चौथे लोकको दिक्लोक भी कहाजाताहै। अतएव कहीं 'श्रुतियोंमें पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौ रापः' यह पाठ रहताहै, एवं कहीं 'पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशः' यह पाठ रहताहै। दोनों में कोई विरोध नहीं है। इन चारों लोकोंके, अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा यह चार लोकाधिपतिहैं। चन्द्रमा आपोलोकके अधिपतिहैं अतएव इनकेलिए 'चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावतेदिवि' पक्षि रूप चन्द्रमा द्युलोकमें पानीके भीतर दौड लगाया करताहै, यजुः सं० ३३।९०) यह कहाजाताहै। प्रकृतमें कहना यहीहै कि लोक कुल चारहैं। अतएव छंद भी कुल चारहीहैं। पृथिवी के छंदको 'मा' छन्द कहतेहैं। अन्तरिक्षके छन्दको 'प्रमा' छन्द कहतेहैं, द्यौ के छन्दको 'प्रतिमा' छन्द कहतेहैं, एवं दिक्लोकके छन्दको अस्रीवि छन्द कहते हैं। "अग्नीषोमात्मकं जगत्" के अनुसार अग्नी और सोम दोही तो वस्तुहै। अग्नि-घन, तरल, विरल भेदसे तीनहैं। तीनों अग्नि, वायु, सूर्य्य नामसे प्रसिद्धहैं। चौथा सोमहै। सचमुच इन चारके अलावा, दूसरे शब्दोंमें दोके अलावा कोई तीसरी वस्तु नहीं है। ऐसी अवस्थामें छन्दभी इतनेही होसकते हैं। अन्य छन्दोंका भी इन्हीं चारोंमें अन्तर्भावहै। इसी अभिप्रायसे सूत्रग्रन्थ कहताहै—

१—'माछन्दः, तत् पृथिवी, अग्निर्देवता।

२—'प्रमाछन्दः, तदन्तरिक्षम्, वातो देवता।

३-'प्रतिमा छन्दः, तद्द्यौः, सूर्यो देवता ।

४-'अस्त्रीवि छन्दः,तद्दिशः,सोमो देवता।(आप० श्रौ०सू० १६।२८।१) ।

मा, प्रमा, प्रतिमा, अस्त्रीवि, यह नाम किसी गुप्त रहस्यसे सम्बन्ध रखते हैं, जिसका उद्‌घाटन किसी आगे के प्रकरणमें कियाजायगा । विषय आवश्यकता से अधिक लम्बा होगयाहै, अतएव इसे यहीं समाप्त कर अब हम अपने पाठकों को ग्रन्थके अक्षरार्थकी ओर लिएचलते हैं ।

पूर्वके निरूपणसे पाठक यह भलीभांति समझगए होंगे कि यदि आधि दैविक प्राणदेवताका अध्यात्मके साथ सम्बन्ध करना होतो उस देवताके स्वरूपानुकूल अर्थ छन्द (पदार्थ) एवं शब्द छन्द (मन्त्र) की सम्पत्ति प्राप्त करना आवश्यक होगा । इसी सम सम्पत्तिसे वह देवता पकडमें आवेगा । आज यह यजमान यज्ञ करना चाहताहै । आधिदैविक प्राणदेवताओं को अध्यात्मके साथ मिलाना चाहताहै । जिस यज्ञदेवताका यह यजमान अपने आत्माके साथ सम्बन्ध करना चाहताहै, वह यज्ञदेवता १० अक्षरके विराट् छन्दसे छन्दित होनेके कारण दशावयवहै । अतः पूर्व प्रतिपादित विज्ञानके अनुसार दशावयव विराडयज्ञको आत्मसात् करनेके लिए यहां १० आधि भौतिक पदार्थोंका सन्निवेश परम आवश्यक होजाताहै । यज्ञदेवता विराट् छन्दसे छन्दित कैसेहै, बस इस एक प्रश्नका उत्तर देकर हम इस प्रकरणको समाप्त करते हैं—

विराट् छन्दसे छन्दित अतएव दशावयव यज्ञदेवताका स्वरूप समझने के लिए पाठकों को प्रथम अंकमें बतलाए हुए वेदमूर्त्ति ब्रह्माके स्वरूपको ध्यानमें रखना आवश्यक होगा । वहांपर षोडशी पुरुषका स्वरूप बतलाते हुए हमने कहाथाकि आनन्द विज्ञान मन प्राण वागात्मक पंचकल अव्यय पुरुषकी जो पराप्रकृतिहै उसेही अक्षर कहते हैं । इस अक्षरकी ५ च कला

ओं में से जो पहिली कलाहै उसे 'ब्रह्मा' कहते हैं । इस अक्षर रूप ब्रह्मासे संश्लिष्ट जो आत्मक्षरकी (जिसे कि अपरा प्रकृति कहतेहैं) पहिली कलाहै उसेभी 'ब्रह्मा' ही कहते हैं। अक्षरका ब्रह्मा अमृतहै । अतएव वह अक्षर (अविनाशी) है। एवं आत्मक्षर भागका ब्रह्मा मर्त्यहै अतएव वह 'क्षर' (विपरिणामी) है । "अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्" के अनुसार उस एकही प्रकृतिब्रह्मके अमृत और मर्त्य दो भागहैं। यही दोनों अक्षर और क्षरहैं । दोनों अविनाभूतहैं । इस क्षरविशिष्ट अक्षर ब्रह्मासे जो विकार उत्पन्न होताहै उसीको "प्राण" कहते हैं। अक्षर और आत्मक्षर विशिष्ट ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम, इन पांच कलाओंसे क्रमशः प्राण, आप, वाक्, अन्नाद, अन्न इन पांच विकार क्षरोंका जन्म होताहै । इस वैकारिक जगत् के यही पांच विकार मूलस्तम्भहैं। इन पांचों में भी शेष चारों का प्रतिष्ठारूप एवं प्रथमज प्राणही है । इसी प्राणमुखसे सबसे पहिले वेद सृष्टि होती है (देखो १ अंक ६ वां १० वां पृष्ठ)। संसारमें सबसे पहिले संसारके मूलतत्व वेदका ही प्रादुर्भाव होताहै । इस वेदसे "वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे" इस मनुवचनके अनुसार आगेकी सारी सृष्टिएं होती हैं। वाक् और शब्द आजदिन दोनों पर्य्याय समझे जाते हैं-परन्तु विज्ञान दृष्टिसे दोनों सर्वथा विभिन्न पदार्थ हैं । वाक् व्यापकहै । शान्तहै, एकहै। शब्द व्याप्यहै अशान्तहै, नानाभावोपेतहै । वाक्से शब्द उत्पन्न होताहै। शब्दकी उत्पत्तिका प्रधान कारण वाक्की लहरहै । एक वाक् नामका व्यापक तत्व सर्वत्र भराहुआहै । "वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता" के अनुसार कोई भी स्थान उससे खाली नहीं हैं । यह वाक् अमृत मयी है। इसमें जब धक्का लगताहै तो लहर उत्पन्न होती है । वही लहर आते आते हमारी कर्ण शष्कुली (कर्णविवर) पर धक्का मारती है । बस उसी क्षण "संयोगविभागशब्देभ्यः शब्दोत्पत्तिः" इस दार्शनिक सिद्धान्त

के अनुसार शब्द प्रकट होजाताहै। 'शपं (आक्रोशं) ददाति' शब्दकी यही व्युत्पत्तिहै। शब्द धक्का देताहै। वाक् शान्तहै। उसमे जराभी आक्रोश भाव नहीं है। शब्द मरणधर्म्माहै, वाक् नित्याहै। इस अमृत वाक्को 'इन्द्र' कहाजाताहै, एवं मर्त्या शब्दमयी वाक्को 'इन्द्रपत्नी' कहाजाताहै। परन्तु साथही में यहभी समझलेना चाहिएकि 'नामृतं मृत्युभिर्विना' (अमृत मृत्युओं के विना कभी नहीं रहसकता) इस वैज्ञानिक सिद्धान्तके अनुसार शब्द विना वाक्के रहभी नहीं सकता। यही कारण है कि जहां अभियुक्त अमृत वाकके लिए 'अथोवागेवेदं सर्वम्' यह कहते हैं वहां शब्दरूप इन्द्रपत्नीके लिएभी 'वाचीमाविश्वा भुवनान्यर्पिता' यह कहते भी नहीं हिचकते। सृष्टिका कारण यद्यपि अमृतवाक्विशिष्टा मर्त्यावाक् (शब्द) ही है तथापि संसारमें प्रधानता मर्त्यभागकी ही है अतएव भगवान् मनुने 'वेदवाग्भ्यः' न कहकर 'वेदशब्देभ्यः' यही कहाहै। शब्दतन्मात्राही सृष्टिका मूलहै। यह मर्त्यामृतभावापन्न वेद मौलिकतत्त्वहै। इससे सबसे पहिले 'विराट्' पुरुषका ही जन्म होताहै। दूसरे शब्दों में आप वेदको ही विराट् समझिए। जिस वेदसे विराट् पुरुष व्यक्त होताहै वह वेद ब्रह्माग्निमयहै। ब्रह्माग्निमयवेदके ऋक्, यजुः, साम, यह तीन भेदहैं। इन तीनों में ऋक् साम आयतनहै। छन्दहै। एवं यजु पुरुषहै। ऋक सामका इन्द्रसे सम्बन्धहै, यजुका विष्णुसे सम्बन्ध है- (देखो श० ४।६।७।३ इति)। तीनोंकी समष्टिका दूसरे शब्दोंमें आगति रूप विष्णु एवं गतिरूप इन्द्रकी समष्टिका नामही 'ब्रह्मा' है। इस ब्रह्ममय वेदके यजुभागमें जो यतभागहै वह वायुहै, जूभाग आकाशहै यह पूर्वके प्रकरणमें कईबार बतलाया जाचुकाहै। इस जूरूप आकाशमें यत्रूप वायुके संचारसे सबसे पहिले पानीही पैदा होताहै। इस आपोमय मण्डलमें अथर्वा नामका चौथा वेद प्रकट होताहै। इस अथर्वाके— भृगु और अङ्गिरा दोभाग हैं। दोनोंकी समष्टिका नामही 'अथर्वा' है। भृगुभी घनादि अवस्थाविशेष

से आप, वायु, सोम, तीनप्रकारका होजाताहै, एवं आङ्गिराभी इन्हीं तीन अवस्थाओंके कारण अग्नि, यम, आदित्य. तीन रूप धारण करलेताहै। इस प्रकार आपोमय अतएव ऋतरूप अथर्वाके ६ स्वरूप होजाते हैं। अतएव ६ ओं को 'आप' कहाजाताहै। जैसाकि श्रुति कहती है—

आपोभृग्वङ्गिरोरूपमापोभृग्वाङ्गिरोमयम् ।
अन्तरैते त्रयोवेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः ॥

इस विषयका विशदविवेचन पूर्वमें किया जाचुकाहै अतएव हम यहां अधिक कुछ नहीं कहना चाहते। यहांपर केवल यही समझलेना पर्य्याप्त होगाकि उस यजुसे आप नामका अथर्वा उत्पन्न होताहै। एवं उसके ६ विवर्त हैं। ऋक्,[1] साम,[2] यत,[3] जू,[4] आप,[5] वायु,[6] सोम,[7] अग्नि,[8] यम,[9] आदित्य,[10] इसप्रकार चारवेदोंके १० अवयव होजाते हैं। इन १० सों की समष्टिका नामही विराट् पुरुषहै। इस विराटपुरुषका जन्म त्रयीवेदस्वरूप पुरुष और आपरूप स्त्रीके सम्बन्धसे ही होताहै। यजुर्वेद अग्निमय होनेसे पुरुषहै। एवं आपनामका अथर्ववेद सौम्य होनेसे स्त्री है। यह आप षड्ब्रह्महै, यजु द्विब्रह्महै। इस द्विब्रह्ममें इस षड्ब्रह्मकी आहुति होतीहै। परमेश्वरकी लीला बडी विचित्रहै। होताहै कुछ और एवं वह लीलाधर दिखलाताहै कुछ और। अग्नि पुरुषका स्वरूपहै परन्तु स्त्रीके रुधिरमें रहताहै। सोम स्त्रीका स्वरूपहै वह पुरुषके शुक्रमें रहताहै। प्रत्यक्षमें पुरुष स्त्रीके साथ संयोग कररहाहै परन्तु वस्तुतः प्राणदृष्ट्या आग्निप्राणमय पुरुषमें सौम्य प्राणमयी स्त्री संयुक्त होरही है। पुरुष स्त्री है, स्त्री पुरुषहै। स्त्री का प्रातिस्विक सोम (रेत) भाग पुरुषकी वस्तु कहलाती है, पुरुषका प्रातिस्विक अग्नि (रज) भाग स्त्रीकी वस्तु कहलाती है (देखो ५ अङ्क)। यजुरूप अग्नि आधार बनताहै। आपरूप सोम आधेय बनताहै। स्थितिगत्यात्मक

अतएव चलाचल यजु योनिमें मातरिश्वा वायु द्वारा इसी रेतोरूप षड्ब्रह्मकी आहुति होती है। इस आहुतिसे जो एक नया स्वरूप बनताहै उसीका नाम दार्शनिक परिभाषामें 'महान्' है। एवं इसीको याज्ञिक परिभाषामें 'विराट्' कहतेहैं। वेदत्रयी, एवं अथर्वा की समष्टि महान्है। इन दोनोंकी पूर्व कथनानुसार १० कला होजाती है अतएव हम अवश्यही इसे विराट् कहनेके लिए तय्यारहैं। बस इसी विराट्से आगेकी सारी सृष्टिएं होती हैं। अव्यक्त ब्रह्माका व्यक्तीभाव यही 'महान्' है। अव्यक्त तत्वकी व्यक्तावस्थाका नामही महान् है। अतएव दोनोंको समान धर्म्मा बतलाया जाताहै यजुरग्नि पुरुषहै, अथर्वासोम स्त्री है। दोनोंके समन्वयसे विराट् उत्पन्न होताहै। अतएव—

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः॥ (मनुः १।३२)

यह कहाजाताहै। अग्निमें सोमकी आहुति होनेका नामही यज्ञहै। यज्ञ कईप्रकारके हैं। परन्तु उन सबमें आदिभूत यही विराट् यज्ञहै। सबसे पहिले यही यज्ञ होताहै। अतएव और और तालावोंके होतेहुएभी जैसे प्रधानताके कारण भूपालतालको ही श्रेष्ठ बतलाया जाताहै, एवमेव सर्व यज्ञमूलभूत होनेसे इस विराड्यज्ञके लिएही "विराड् वै यज्ञः" यह कहाहै। इसीसे आगेकी सारी प्रजाएं उत्पन्न होतीहैं। आज इसयजमान को अपना नया आत्मा उत्पन्न करनाहै। उत्पन्नकरना विराट्का कामहै। विराट् दशावयवहै। अतएव छन्द विज्ञानके अनुसार इस यज्ञमें १० पात्रोंको ही लेना आवश्यकहैं। यदि १० पात्र लेलिए जाते हैं तो विराट् छन्द पकडमें आजाताहै। इससे प्रकृतिसिद्ध प्रजोत्पत्तिका साधन उपस्थित होजाताहै। बस इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर—

"दशाक्षरा वै विराट् । विराड् वै यज्ञः । तद् विराजमेवैतद्यज्ञमभि सम्पादयति" यह कहा गयाहै ।

"विराड् वै यज्ञः" यह श्रुतिवचन 'अनुगम' भावापन्नहै, अतएव इसके कई अर्थ होतेहैं । परन्तु विस्तार भयसे उन सबका यहां निरूपण नही किया जासकता । केवल एक अर्थ और बतलाकर इस प्रकरणको समाप्त करतेहैं । पूर्वके अर्थमें "विराड् वै यज्ञः" को हमने प्रातिस्विक नियतयज्ञ परक लगायाथा परन्तु अब हम इसे सर्वत्र समानरूपसे सभी यज्ञोंके साथ सम्बद्ध बतलाने के लिए तय्यारहैं । 'अग्निमें सोमकी आहुति देनेकी जो एक प्रक्रियाहै उसेही यज्ञ कहतेहैं' यज्ञ शब्दका यह सामान्य एवं व्यापक अर्थहै । इस परिभाषाके अनुसार ऐसा कोईभी यज्ञ नहीं जिसमें अग्नि नहो । ऐसी अवस्थामें यज्ञमात्र का विराट्पना सिद्ध होजाताहै । कारण इसका यहीहै कि अग्नि सारेत्रैलोक्यमें १० अवयवोंमें परिणित होकर ही व्याप्त रहताहै । पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, तीनही लोकहैं । इन तीनों लोकोंमें अग्नि भराहुआहै । इनमें पार्थिव आंगिराग्नि, एवं सौर दिव्य सावित्राग्नि, यह दोनों अग्नि तो सत्यहैं एवं आन्तरिक्ष्य अग्नि ऋतहै । पृथिवी का गोला अग्निमयहै अतएव "अग्निर्भूस्थानः" यह कहाजाताहै । एवं सूर्य्य अग्निमयहै इसमेंतो प्रमाण बतलाने की आवश्यकताही नहीं है । यह दो अग्नितो स्थूलहैं । तीसराहै इनदोनों के बीचमें रहनेवाला आन्तरिक्ष्य अग्नि । यह अग्नि आठजातिकाहै । इसप्रकार कुल १० अग्नि होजातेहैं । यही तीनों दार्शनिक परिभाषामें अपान, व्यान, प्राण, कहलातेहैं, विज्ञान परिभाषामें आंगिरस, नाक्षत्रिक, सावित्र नामसे प्रसिद्धहै । एवं यज्ञपरिभाषामें गार्हपत्य, धिष्ण्य, आहवनीय नामसे पुकारेजातेहैं । गार्हपत्य एकहै, धिष्ण्य आठहैं आहवनीय एकहै । इसप्रकार लोकभेदसे एकही अग्नि दशकल होजाताहै अतएव हम अग्निको अवश्यमेव विराट् कहनेकेलिए तय्यारहैं । बिना अग्नि

के कोई यज्ञनहीं अतएव सभी यज्ञोंके विषयमें-'विराड्वैयज्ञः' यह कहाजा-ताहै। जितनेभी पार्थिव पदार्थहैं सबमें अग्नि भराहुआहै। अतएव सब ऊष्मासे युक्त रहतेहैं। जिस पदार्थका स्पर्श कियाजाताहै वही गरम मिल-ताहै। जिन पदार्थोंका शीतस्पर्शहै वहांभी अग्नि मौजूदहै। केवल मात्राका तारतम्यहै। आपके हाथकी गर्मीकी अपेक्षा उसमें गर्मी कमहै अतएव आप उसे ठंढा पातेहैं। शीतस्पर्शवाले और पदार्थोंको छांडिए केवल पानी और हिम (बर्फ) को ही लीलिए। इन दोनोंसे अलावा तो संभवतः और किसीमें अधिक ठंढापन न होगा। इन दोनोंके लिएही हमारा विज्ञानशास्त्र कहताहैकि पानीका जो बहावहै- एवं पानीका जो घनीभावहै दोनोंही अग्नि से सम्बन्ध रखतेहैं। अग्निकी नियतमात्रा पानीको पानी बनाए रखती है अर्थात् उसे तरलभावमें परिणत रखती है, एवं अग्निकी ही एक नियतमात्रा उसे बर्फ बनाडालती है। बदल पानीहै। परन्तु इसी अग्निकी महिमासे आज वह घनभावमें परिणत होरहाहै। घनता सम्पादक आसुरप्राणविशेषके साथ संयुक्त होकर वही अग्नि घनताका कारण बनजाताहै। इसी आसुर प्राणको 'नमुचि' कहतेहैं। अपने घनभावके कारण पानीका मुञ्चन न करनेके कारणही यह प्राण नमुचि कहलाताहै। इन्द्रप्राण इसका विरोधी है। इसके साथ मिलकर वही अग्नि घनताका शत्रु होजाताहै। बस इसी अग्निवज्रके सहारे आन्तरिक्ष्य मरुत्वान् इन्द्र नमुचि असुरको मारडालता है उसी समय पानी तरलभावमें परिणत होताहुआ जमीनपर गिरपडताहै। कहना यहीहै कि 'अपां संघातो विलयनं च तेजःसंयोगात्' (पानियोंका संघात और विलयन दोनों अग्निसंयोगसे होतेहैं- वै० दर्शन ५।२।८) के अनुसार शीतस्पर्श प्रधान पानी और बर्फमें भी अग्निसत्ता सिद्ध होजाती है। अनुभव क्यों नहीं होता इसका उत्तर मात्राका तारतम्यहै। पूर्वके निरूपणसे एवं सूत्रप्रमाणसे यहभी सिद्ध होजाताहै कि द्रवत्व पानीका

सांसिद्धिकधर्म्म (स्वाभाविकधर्म्म) नहीं है, अपितु नैमित्तिकही है । ऐसी अवस्थामें जो महानुभाव द्रवत्वको पानीका स्वाभाविक धर्म्म मानते हैं वे- 'अग्निर्देवेभ्य उदक्रामत् सोऽपः प्राविशत्' अग्नि देवताओं से (सौरमण्डलसे) अलग होकर पानी में प्रविष्ट होगया- इस श्रौतप्रमाणके अनुसार एवं सूत्र ग्रन्थके अनुसार सर्वथा प्रौढिवाद ग्रस्तही हैं । अस्तु हमें कहना यही हैकि गर्मी सभी पदार्थोंमें है । यह गर्मी त्रैलोक्याग्निमय वैश्वानरका धर्म्म है । अग्नि अन्नादहै । बिना अन्नके इसकी स्थितिही नहीं होसकती । अतएव सभीको अन्नाहुतिसे युक्त मानना पडताहै । इसी प्रक्रियाका नाम यज्ञहै । अतएव हम सभीको यज्ञमय होनेसे- विराड्यज्ञ कहनेके लिए तय्यारहैं । क्योंकि अग्नि १० कल होनेसे विराट्है ।

इसी पूर्वोक्त विराड् यज्ञसंपत्तिको प्राप्तकरनेकेलिए इस यज्ञमें भी १० पात्रों का समावेश करना उचितहै । यह विराट्-दशिनी, विंशिनी, त्रिंशिनी, चत्वारिंशिनी भेदसे चारप्रकारकी है । असलमें विराट् तो दशिनी है । १० अक्षरके छन्दका नाम ही विराट्है । परन्तु केवल दशिनी विराट्को एक पदाविराट् कहतेहैं । उसमें एक विराट् और मिलादी जाती है तो वही विंशिनी विराट् कहलानेंलगती है । इसीको द्विपदा विराट् कहतेहैं । यही नियम त्रिंशिनी, चत्वारिंशिनी नामकी त्रिपदा चतुष्पदा विराट्में समझना चाहिए । बस चतुष्पदासे अधिकसंख्या विराट्की नहीं होती, अतएव इसे 'परमाविराट्' कहतेहैं । प्रसंगागत इस परमाविराट् का स्वरूप बतलादेना भी अनुचित नहोगा-

अग्निका (ब्रह्माग्निका) नामही प्रजापतिहै-(देखो शत० ६।८।१।४ इति)। वह 'अर्द्धहवैप्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' के अनुसार वह अमृत मर्त्यमयहै । इसी मर्त्यामृत (नित्यचितिनिचेयात्मक) अग्निको आत्मा कहतेहैं । 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इस अनुगम श्रुतिके अनुसार यह आत्मा-आत्मा,

प्रजा, पशु, वित्त, भेदसे चार स्वरूप धारण करकेही प्रतिष्ठित रहताहै। प्रजा, पशु, वित्त, तीनोंकी समष्टिको ही आत्मबन्धु कहतेहैं। इन तीनों आत्मबन्धुओंसे युक्त जो अग्निमय आत्माहै—उसीका नाम परमाविराट्है। तीनों बन्धुओंके विना आत्मा अधूरा रहताहै। जब तीनों आजाते हैं तब यह आत्मा अपने आपको 'कृत्स्न' समझने लगता है। इसी अभिप्रायसे बृहदारण्यक श्रुति कहती है—

'आत्मैवेदमग्रआसीत्-एक एव। सोऽकामयत-जाया मे स्यात्, अथ प्रजायेय, अथ वित्तं मे स्यात्, अथ कर्म्म कुर्वीय। एतावान्वै कामः। नेच्छंश्च नातोभूयो विन्देत्। तस्मादप्येतर्हि-एकाकी कामयते जाया मे स्यात्, अथ प्रजायेय, अथ वित्तं मे स्यात्, अथ कर्म्म कुर्वीयेति। स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोति, अकृत्स्न एव तावन्मन्यते। तस्य उ कृत्स्नता"—

मेरे [1]स्त्री हो, [2]पुत्र हो, [3]संपत्तिहो, एवं इन सब कामनाओंको प्राप्त कर संसारमें खूब [4]कर्म्म करूं, खूब यश कमाऊं, यही क्रमिक चार स्वाभाविक कामनाएं होती हैं। बस आत्मा-इन चार कामनाओंको ही पूरी करसकता है। इन चारसे अधिक चाहकरभी वह प्राप्त नहीं करसकता। साथही में चारोंमें से जबतक एकभी आत्मबन्धु प्राप्त नहीं होता तबतक यह अपने आपको अधूरा समझताहै। एवं चारोंको प्राप्त किए बाद अपने आपको धन्य समझने लगताहै (१।४।४।१।३०) इति। प्रजा, पशु, वित्त इन तीनों में वित्त अन्तरङ्ग बहिरङ्गभेदसे दोप्रकारका होजाताहै। इन्द्रिएं अन्तर्वित्तहैं, होत्रका वहिर्वित्तहैं। देवता, गणदेवता, लोक, वेद भेदसे चार प्रकारकी प्रजाहै। ऋतु, छन्द, दिशा, स्तोम भेदसे चार पशुहैं। ९ वीं इन्द्रिएं हैं। १० वें होत्रकाहैं। इसप्रकार ४ प्रजा, ४ पशु, १ अन्तर्वित्त, १ बहिर्वित्त भेदसे

३ के १० आत्मबन्धु होजाते हैं। यही विराट्है । इन १० आत्मबन्धुओंके कारण वह आत्मा 'विराडात्मा' कहलाने लगताहै। यह १० ही आत्मबन्धु-भर्ग, मह, यश, सर्व भेदसे ४-चार चार भागों में विभक्त होजातेहैं। पार्थिव तेज भर्ग है। आन्तरिक्ष्य तेज महहै। दिव्य तेज यशहै, चौथे लोकका वारुण तेज सर्वहै । 'आपो वै सर्वेदेवाः' इस चयन श्रुतिके अनुसार इस चौथे लोकके तेजको अवश्यही सर्व कहा जासकताहै । इस प्रकार इन चारों के कारण वही दशिनी विराट् निम्नलिखित क्रमानुसार परमाविराट् होजाती है—

दशाक्षरयुक्त मर्त्यामृतभावापन्न विराड्अग्नि	१ आत्मा	विराट्प्रजापतिः
१—अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, यह चार देवताहैं ।	२ प्रजा	
२—वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, यह चार गणदेवताहैं ।		
३—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, आप, यह चार लोकहैं ।		
४—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, ब्रह्मवेद, यह चार वेदहैं ।		
५—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत, यह चार ऋतुहैं ।	३ पशु	
६—गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्, यह चार छन्दहैं।		
७—प्राची, प्रतीची, उदीची, दक्षिणा, यह चार दिशाहैं।		
८—त्रिवृत (९), पंचदश (१५), सप्तविंश (२७), एकविंश (२१), यह चार स्तोमहैं ।		
९—वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, यह चार इन्द्रिएं हैं। (अन्तर्वित्त)	४ वित्त	
१०—होता, अध्वर्यु, उदुगाता, ब्रह्मा, यह चार होत्रकाहैं । (बहिर्वित्त)		

आत्मा, प्रजा, पशु, वित्तभेद भिन्न इस विराट् प्रजापतिके लिए अवश्यमेव— 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम् । सर्वमुखेवेदं प्रजापतिः'
यह कहाजासकताहै । इसप्रकारसे सबके संकलनसे ४० संख्या होजाती है । इसी अभिप्रायसे "सैषा चत्वारिंशिनी परमा विराट्" (गोपथब्राह्मण) यह कहाजाताहै । पूर्व के निरूपणसे आपको यह अवश्यही मानलेना पड़ेगाकि विराट्यज्ञके बाहर कुछभी नहीं बचताहै । ऐसी अवस्थामें यदि विराट् सम्पत्ति प्राप्त करली जाती है तो सारे ब्रह्माण्डकी सम्पत्तिका यजमानके आत्माके साथ सम्बन्ध होजाताहै । प्रजा, पशु, वित्त, तीनही तो सारी सम्पत्तिहै । विराट्से तीनों पकड़में आजाते हैं । इससे आत्मा कृत्स्न होजाताहै । बस इसी अतिगहन विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर—"विराड् वै यज्ञः । तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभि सम्पादयति" यह कहागयाहै ।

विराट्की उत्पत्ति बतलादी गई । अब संक्षेपसे द्वन्द्व भावकी उत्पत्ति बतलाकर प्रथम ब्राह्मणको समाप्त कियाजाताहै । १० पात्रोंके पांच युग्म बनाकर रक्खेजाते हैं । एककी अपेक्षा युग्ममें अधिक वीर्य्य होताहै । यही कारण है कि उस सर्वजगदागार सच्चिदानन्द जगदीश्वरको भी "द्विधाकृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्–अर्धेन नारी" के अनुसार अपने आपको दो स्वरूपोंमें परिणत करना पड़ताहै । 'एकाकी न रमते तद् द्वितीयमैच्छत्-पतिश्च पत्नी च' (एकला आत्मा रमण नहीं करसकताहै, इसीलिए उसने अपनेआपको पति और पत्नी दो भागोंमें परिणत करना चाहा) आदि श्रुति वचन भी इसी बातकी पुष्टि करते हैं । संसारके मूलप्रभव अग्निसोमही पतिपत्नी हैं । इसी आधारपर 'एकाकी बृहस्पतिभी कुछ नहीं कर सकते' यह किंवदन्ती प्रचलितहै । क्योंकि जीवका प्रभव, प्रतिष्ठा, परायणभूत ब्रह्मतत्त्व दो स्वरूपोंमें परिणत होकरही सारा संसार चक्र चलारहाहै, यही कारणहै कि तदंशभूत जीवात्माभी किसी कार्यको करनेके लिए मनुष्य

होताहुआ दूसरा सहायक चाहताहै। इसी विज्ञानके आधारपर हमारा वैवाहिक सम्बन्ध निर्भरहै। इतर समुदायोंकी तरंह हमारा वैवाहिक स बन्ध केवल ऐहलौकिक सुखका साधन नहीं है अपितु दोनोंके सुख प्राप्तिका कारणहै। दोमें वीर्य्य आजाताहै। हमारा यज्ञ निर्वीर्य्य न हो बस इसी लिए युग्मरूपसेही पात्रोंको रक्खाजाताहै। अपिच यज्ञद्वारा यजमानको नया दिव्यात्मा पैदा करनाहै। एवं प्रजनन व्यापार मिथुन (जोडे) से सम्बन्ध रखताहै। इसलिएभी द्वन्द्वरूपसेही पात्रोंको रखना उचितहै। बस इन्हीं दोनों उपपत्तियोंको लक्ष्यमें रखकर—

'द्वन्द्वं वै वीर्यम्। यदा वै द्वौ संरभेते–अथ तद्वीर्यं भवति। द्वन्द्वं वै मिथुनं प्रजननम्। मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते' २२। यह कहागयाहै।

इति प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तम्।

१

---

२ अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्—

यथोक्त विधिके अनुसार परिस्तरण होनेके अनन्तर वह अध्वर्यु 'कर्मणे वां वेषाय वाम्' यह मन्त्र बोलता हुआ सबसे पहिले शूर्प और अग्निहोत्रहवणी दोनों पात्रोंको उस दर्भास्तरण पर रखनेके लिए उठाता है। इन पात्रोंको यज्ञके लिए, एवं यज्ञमण्डलको परिवेष्टित करनेके लिए उठाया जाताहै। इसी लिए 'कर्मणे वाम्, वेषायाम्' यह कहागयाहै। मन्त्र का अर्थ करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—"यज्ञो वै कर्म्म। यज्ञायहि। तस्मादाह कर्म्मणे वामिति। वेषाय वामिति, वेवेष्टीयज्ञम्" । इन

अक्षरोंमें बडा ही चमत्कारहै । याज्ञवल्क्य यज्ञको ही कर्म्म मानतेहैं । क्या यह बात ठीकहै । यदि ऐसाहै तबतो खाना, पीना, सोना, चलना, बैठना, आदि संसारके सभी कर्म्म यज्ञहैं । उधर यज्ञका 'अग्निमें सोमका आहुत होना' यह अर्थ किया जाताहै, इधर 'कर्ममात्र' को यज्ञ कहा जाताहै । विज्ञान रहस्यको न जाननेके कारण सचमुच 'यज्ञो वै कर्म्म' यह कथन एक विचित्र पहेली बनजाती है । परन्तु जब विज्ञानचक्षुसे इस वाक्यके याथातथ्यका विचार कियाजाताहै तो सारे सन्देह दूर होजाते हैं । कर्म्मको यज्ञ कहते हैं इसके लिए पहिले कर्म्मका स्वरूप समझलेना आवश्यक होगा। जिस अव्ययात्मासे सारा संसार बनाहै वह ज्ञानकर्म्ममयहै । इसका आनन्द विज्ञान मनोमय आधाभाग ज्ञानात्मा कहलाताहै, एवं मनप्राण-वाङ्मय आधा भाग कर्म्मात्मा कहलाताहै । ज्ञानात्मा और कर्म्मात्मा दोनों अविनाभूतहैं । अन्तर दोनोंमें केवल इतनाही है कि सृष्टिभागमें कर्म्मभाग प्रधानहै, एवं मुक्तिभागमें ज्ञानभाग प्रधानहै जैसाकि ६ ठे अङ्कमें विस्तारके साथ बतला दियागयाहै । अव्यय पुरुषके यह दोनों भाग आलम्बनमात्र हैं। अतएव अव्ययकी आनन्दादि पांचों कलाएं आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, वाङ्मय (अन्नमय) कोष कहलाती हैं । म्यानको ही कोष कहते हैं। कोष वस्तु नहीं है । वस्तु कोषमें रहती है । अतएव कोषरूप अव्ययको संसारमें रहते हुएभी संसारसे अलग बतलाया जाताहै । संसारके सारे आनन्द अव्ययके आनन्दमय कोषमें रहते हैं । संसारके सारे विज्ञान, मन, प्राण, वाक्, क्रमशः अव्ययके विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, वाङ्मय, कोषमें रहते हैं। इन सांसारिक पांचों भावोंका उदय चाहे कहीं होताहो किन्तु भूमण्डलमें रहनेवाले हम पार्थिवप्राणियोंको यह पांचों भाग सूर्य्य सेही मिलते हैं। सूर्य्य आनन्दघनहै । इसीलिए इसे स्वर्ग मानाजाताहै । सूर्य्य विज्ञानघनहै अतएव इसकेलिए 'धियोयो नःप्रचोदयात' यह कहाजाता

है। सूर्य्य मनोमयहै अतएव इसकेलिए 'आदित्यंमनः' यह कहाजाताहै। सूर्य्य प्राणमयहै अतएव इसकेलिए 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः' यह कहाजाताहै। सूर्य्य वाङ्मयहै अतएव इसकेलिए 'त्रयी वा एषा विद्या तपतीति' यह कहाजाताहै। त्रयीविद्याको ही वाक् कहते हैं। वस्तुतस्तु इन पांचोंका स्वरूपतः सूर्य्यमें ही आविर्भाव होताहै। इसका कारण यही है कि अव्ययात्माकी क्षराक्षर नामकी परापर प्रकृतिसे पहिले स्वयम्भूका प्रादुर्भाव होता है। अनन्तर क्रमशः—परमेष्ठी, सूर्य्य, पृथिवी, चन्द्रमा, का जन्म होताहै। यही पांचों पिण्ड वैज्ञानिक परिभाषानुसार 'पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्य वल्शा' नामसे प्रसिद्धहै। इन पांचोंमें स्वयम्भू परमेष्ठी ऊपरकी वस्तुहै, पृथिवी चन्द्रमा नीचेकी वस्तुहै। सूर्य्य दोनोंके बीचमें है। सूर्य्यसे ऊपरका भाग अमृत कहलाताहै, एवं नीचेका भाग मर्त्यभाग कहलाताहै। अतएव "यत्किंचार्वाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्" (सूर्य्यके नीचे जो कुछ है वह मृत्युसे आक्रान्तहै—शत० १०।५।१।४) यह कहा जाताहै। अतएव इसे अमृत मृत्युका विभाजक बतलाया जाताहै। (देखो यजुः सं० ३३ अ. ४३ मं.)। अमृत मृत्यु विभाजक सूर्य्यके ऊपर रहनेवाले जो आपोमय परमेष्ठी और प्राणमय स्वयम्भूहै उन दोनोंकी समष्टि 'महान्' नामसे प्रसिद्धहै। स्वयम्भू अव्यक्त है, परमेष्ठी व्यक्तहै। अव्यक्त स्वयम्भूकी व्यक्तावस्थाका नामही 'महान्' है। अतएव षोडशी पुरुषके आत्मक्षर भागसे उत्पन्न होनेवाली स्वयम्भू आदि पांच प्रकृतियों की ४ ही प्रकृतिएं रहजाती हैं। अतएव उपनिषदोंमें स्वयम्भू और परमेष्ठी दोनोंके लिए प्रायः महान् शब्द प्रयुक्त होताहै। यह महान् आपोमयहै। सबसे पहिले—ज्ञानकर्म्ममय (विद्या-कर्म्ममय) उस चिदात्माका (षोडशी पुरुषका) इसी महान्से सम्बन्ध होताहै। परन्तु ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम, इन पांचों अक्षरोंमें से महान्-विष्णुअक्षरमय होनेसे यज्ञमयहै। यद्यपि पांचों ही प्रकृतिएं यज्ञमयहैं। क्योंकि पञ्ची

हुत प्राणादि यज्ञत्वरोंसे ही इन पांचोंकी उत्पत्ति होती है । सर्वहुत यज्ञही इनकी उत्पत्तिका कारणहै । परन्तु स्वयम्भू यज्ञ प्राणमय होनेसे असंगहै । अतः यज्ञरूप होतेहुएभी उसे यज्ञसम्पत्तिके बाहर मानाजाताहै । अग्निमें सोमकी आहुति होनेका नाम यज्ञहै । वह सबसे पहिले परमेष्ठीमें ही उत्पन्न होताहै । कारण इसका यही है कि आगतिरूप विष्णु यदि स्थितिरूप ब्रह्मा से मिलजाताहै तो सोम अक्षरका जन्म होजाताहै । वह सोममय विष्णु इस परमेष्ठीका अक्षरहै । अतएव त्वर सोमका यहीं उत्पन्न होना न्याय प्राप्तहै। परमेष्ठी में सोमहै अतएव 'तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्' (पृथिवी लोकसे तीसरे द्यौमें सोम रहताहै–शतपथब्राह्मण) यह कहाजाताहै । इसी सोमाहुतिके कारण हम इस परमेष्ठी विष्णुको 'यज्ञमूर्त्ति' कहने के लिए तय्यारहैं । अतएव ब्राह्मणग्रन्थोंमें विष्णुको यज्ञ, एवं यज्ञको विष्णु बतलाया जाताहै । कहना इससे यही है कि यज्ञवृत्तिके कारण परमेष्ठी में जो कुछ आताहै सोमवत वह सारा प्रपञ्च लीन होजाताहै । जैसे सोम आहुत होकर तन्मय बनजाताहै, प्रातिस्विक रूपसे उद्बुद्ध नहीं रहता एवमेव ऊपरसे आनेवाला विद्याकर्म्ममय चिदंशभी इस यज्ञसमुद्रमें विलीन होजाता है । यहां उसकी चिति नहीं होती अपितु विलयन होताहै । अतएव चिदात्माके रहनेपरभी उससे कोई सम्बन्ध नहीं होने पाता । परमेष्ठीके नीचे सूर्य्यहै । सूर्य्य अग्निमयहै । अतएव इसके सम्बन्धसे होनेवाला यज्ञ चयन यज्ञ कहलाताहै । अग्निके ऊपर अग्निके चिनावसे इसका स्वरूप बनाहुआहै । क्योंकि सूर्य्यमें आगतवस्तुको अपने ऊपर सवार करनेकी वृत्ति

---

१ सौर संवत्सररूप प्रजापति यजुष्मती और लोकम्पृणा नामकी चितियोंसे चीयमान होरहे हैं । इसी चितियज्ञको चयनयज्ञ कहते हैं । ६-७-८-९ शतपथके इन चार काण्डोंमें इसी प्राकृतिक नित्य, एवं वैध उभयविध अग्नि चयनका वर्णनहै ।

है। अतएवं परमेष्ठी द्वारा आयाहुआ चिदात्मा यहां परमेष्ठीकी तरह विलीन नहीं होता अपितु इसपर प्रतिष्ठित हो स्वस्वरूपसे चमकने लगताहै। इसी लिए सूर्य्यही मनप्राणवाङ्मय कहलाताहै। सृष्टिभागमें अव्ययके कर्म्म-मय मनप्राणवाङ्मय भागकी ही प्रधानता रहती है, आनन्दविज्ञान अन्तर्नि-गूढ रहते हैं अतएव मनप्राण वाक्का ही व्यवहार होताहै। सूर्य्य द्वाराही चन्द्रमा से निर्म्मित आध्यात्मिक प्रज्ञानरूप आदर्शपर उस चिदात्माका प्रतिबिम्ब पडताहै। प्रतिबिम्बको ही वैदिकपरिभाषामें आभास कहाजाताहै। बस सूर्य्य द्वारसे प्रज्ञानमें आयाहुआ जो चिदाभासहै उसीका नाम जीवात्माहै। आत्म भाग षोडषी पुरुषहै परन्तु क्योंकि उसका आगमन सूर्य्य द्वारा होताहै-अतएव रोदसी त्रिलोकी में रहनेवाले हम पार्थिव जीवप्रजापति, एवं शिपि-विष्ट प्रजापतियोंका आत्मा इसी सूर्य्यको बतलाया जाताहै (देखो यजुः सं० १३ अ. ४६ मं.) सूर्य्यमें आकर वह चिदात्मा सूर्य्यगत विद्या अविद्या भागसे युक्त होजाताहै। सूर्य्य विज्ञानघनहै, एवं क्रियाघनहै। विज्ञान विद्याहै। क्रियाभाग आवरक होनसे अविद्याहै। सूर्य्यके इस विद्या और अविद्या दोनोंका नाम बुद्धिहै। सौरभागही हमारी बुद्धि बनताहै। अतएव इसके लिए 'धियोयोनः प्रचोदयात्' यह कहाजाताहै। विद्याबुद्धि-धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, भेदसे चारप्रकारकी है, अविद्याबुद्धि-अधर्म्म, अज्ञान, आसक्ति, अनैश्वर्य्य, भेदसे चारप्रकारकी हैं। योगशास्त्र इन्हींको 'अविद्या[१]' अस्मिता[२], रागद्वेष[३,४], अभिनिवेश[५], यह पांच क्लेश बतलाताहै। अविद्या अज्ञान है। अस्मिता अनैश्वर्य्य है। रागद्वेष आसक्तिहै। अभिनिवेश अधर्म्महै। बस सांख्यशास्त्रकी यही आठ बुद्धिहैं। धर्म्म ज्ञानादि चारोंसे अव्ययात्मा के विद्याभाग का उपकार होताहै, दूसरे शब्दोंमें इन चारोंसे अव्ययका विद्याभाग (ज्ञानभाग) स्वच्छ होताहै, अतएव विद्योपकार होनेसे इन चारों को विद्याबुद्धि कहतेहैं, एवं शेष चारोंको अविद्यारूप कर्म्मभागके उपकारक

होनेसे अविद्याबुद्धि कहते हैं। विद्याभाग ज्ञानहै, अविद्याभाग कर्म्म है। सूर्य्य दोनोंसे युक्तहै। विद्याभाग अन्तर्निगूढ़है, अविद्यारूप कर्म्मभाग बहिर्मुखहै। अतएव सौरत्रिलोकीके सारे पदार्थ ज्ञानगर्भित कर्म्ममयहैं। पार्थिव यज्ञोंकी प्रतिष्ठा सूर्य्य है। सूर्य्यमें—ज्योति, गौ, आयु तीन भागहैं। तीनोंके कारण सौरयज्ञ ज्योतिष्टोम, गोष्टोम आयुष्टोम भेदसे त्रिधा विभक्त होजाताहै। ज्योतिष्टोमयज्ञ—अग्निष्टोम[1], अत्यग्निष्टोम[2], उक्थ्यस्तोम[3], षोडशीस्तोम[4], अतिरात्रस्तोम[5], वाजपेयस्तोम[6], आप्तोर्यामस्तोम[7] भेदसे सप्तसंस्थहै जैसाकि पूर्व प्रकरणोंमें बतलाया जाचुकाहै। दर्शपूर्णमास, अग्निहोत्र, चातुर्मास्य पशुबन्ध आदि आदि सभी इष्टि, सोम, पशु आदि यज्ञोंका सप्तसंस्थ ज्योतिष्टोममें अन्तर्भावहै। औरतोऔर अतियज्ञनामसे प्रसिद्ध चयनयज्ञका भी ज्योतिर्म्मय सूर्य्यसे ही सम्बन्धहै। इन्ही सारे यज्ञोंके कारण सूर्य्य यज्ञमूर्त्ति है। सारे संसारमें जो कर्म्मशक्तिहै, उसके प्रदाता प्राणघन यज्ञमय सूर्य्यही है। यज्ञमूर्ति सूर्य्य कर्म्ममयहै। संसारके सारे पदार्थ, सारी प्रजा यज्ञमूर्त्तिकर्म्ममय सूर्य्यसे उत्पन्न होतीं हैं- अतएव हम सबको यज्ञमय कर्म्म भावसे युक्त कहनेके लिए तय्यारहैं। सभी पदार्थ यज्ञहैं। सभी कर्म्ममय हैं। अतएव जैसे विष्णुको यज्ञ, एवं यज्ञको विष्णु कहाजाताहै, एवमेव कर्म्मको यज्ञ, यज्ञको कर्म्म कहाजासकताहै। बस इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर 'यज्ञो वै कर्म्म' यह कहागयाहै। कर्म्म—आदान, विसर्ग भेदसे दो ही प्रकारका है। यज्ञमें यही दोनों व्यापार होते हैं, इस लिए भी हम यज्ञको कर्म्म कहनेके लिए तय्यारहैं। इस विज्ञानके अनुसार संसारके सारे कर्म्मों की यज्ञता, एवं कर्म्मता सिद्ध होजाती हैं। भोजन करना सचमुच यज्ञहै। चलना गतियज्ञहै। हँसना हास्ययज्ञहै। सभी यज्ञहैं। यज्ञके अलावा कुछ भी नहीं है। सारे पदार्थ यज्ञपुरुष स्वरूपहैं। अग्निही यज्ञहै। उस अग्निके वैश्वानर, तेजस, प्राज्ञ तीन विवर्त्त हैं। तीन अग्नियोंके कारण प्रसंज्ञ,

अन्तसंज्ञ, ससंज्ञ भेदसे तीनही प्रकारके जीवहैं । सभी जब अग्निमयहैं तो सभी यज्ञहैं । सभीमें आदानविसर्ग (अपने पदार्थोंको देना—बाहरकी वस्तुओंको लेना) होतारहताहै । अतएव सभी कर्म्ममयहैं । सभी कर्म्म यज्ञरूप हैं । हरएक पदार्थ (चाहे वह जडहो- या चेतनहो- या अर्द्धचेतनहो) हरवख्त कुछ खातारहताहै, एवं अपनेमें से निकालता रहताहै । अतएव सभी कर्म्माक्रान्त कहने योग्यहैं । बस इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर—'यज्ञो वै कर्म्म। तस्मादाह कर्म्मणे वामिति' यह कहाहै । पात्र, समिध, कुशा आदि आदि यज्ञिय पदार्थही यज्ञपुरुषका स्वरूप सम्पादन करते हैं । विना वस्त्रके जैसे पुरुष अधूरा रहताहै, एवमेव विना इन पात्रादिके यह यज्ञपुरुष अधूरा रहताहै । इनसे इसका वेष्टन कियाजाताहै । बस यज्ञके वेष्टन करनेके लिए इन पांचोंका स्थापन होताहै अतएव 'कर्म्मणे वाम्, वेषाय वाम्' यह कहा है । इसप्रकार यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु १० पात्रोंके साथ साथही और और जिन जिन पात्रोंका उपयोग होताहै उन सबको उपयोगक्रमानुसार अपणाग्निके पश्चिमभागमें अथवा उत्तरभागमें दोनोंमेंसे किसी एकभागमें रख देताहै ।

इति परिस्तरणं पात्रासादनं च ।

अथ व्वाचं यच्छति । वाग्वै यज्ञोऽविक्षुब्धो यज्ञं तनवाऽइति ।

५ अथ वाक् संयमनम्

अथ वाचं यच्छति । वाग्वै यज्ञः । अविक्षुब्धो यज्ञं तनवा (तनवै) इति ।

(परिस्तरण और पात्रासादनके) अनन्तर (वह अध्वर्यु) वाक्संयमन करता है। वाक्ही यज्ञहै। हम क्षोभ रहित होकर यज्ञका वितान करें (इसी प्रयोजनके लिए वाक्संयमन करताहै)।

इसप्रकार "कर्म्मणे वामिति शूर्प्पाग्निहोत्रहवण्यादाय वाचं यच्छति" (का० श्रौ० सू० २ अ० ५५ सू०) के अनुसार पात्र ग्रहणानन्तर अध्वर्यु मौन धारण करताहै। आगे जाकर एक 'हविष्कृदाह्वान' नामका कर्म्म होने वालाहै। यहांसे प्रारम्भ कर 'हविष्कृदाह्वान' कर्म्म पर्य्यन्त सिवाय मन्त्र वाक्के और कुछ नहीं बोलसकता। जिस कर्म्ममें अध्वर्युको मन्त्र बोलना पडेगा- बस उसी समय अपनी वाक् खोलेगा। शेष समयमें सर्वथा मुनि रहेगा। यदि कहीं भूलसे अध्वर्यु बोलदेगा तो उसे उसी समय वैष्णव मन्त्र बोलकर प्रायश्चित्त करना पडेगा। यद्यपि यहां 'वाचं यच्छति' इस प्रकार सामान्यरूपसे ही वाक्संयमनका आदेश कियाहै परन्तु आगेही जाकर 'अथ प्रत्युष्टं रक्षाः प्रत्युष्टमरातयः' यह कहाहै। एवं आगे जाकर स्पष्टही—

'स यदिदं पुरा मानुषीं वाचं व्याहरेत्-तत्रो वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेत्'(१।४।६) मानुषी वाक्मात्रके संयमनका सम्बन्ध सिद्ध होजाताहै। मानुषी वाक् का संयमन क्यों करना चाहिए- इसकी उपपत्ति बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—'वाक्, ही यज्ञहै। ऐसी अवस्थामें वाक्प्रयोग करना यज्ञको क्षुब्ध करनाहै। यज्ञक्षोभसे यज्ञसे उत्पन्न होनेवाले आत्मामें विकृतिकी संभावना है अतएव वाक् संयमन करना परमावश्यकहै। कहीं विराट्को यज्ञ बतलाया जाताहै, कहीं विष्णुको यज्ञ बतलाया जाताहै, यहां वाक्ही को यज्ञ बतलाया जारहाहै। इसमें विरोध नहीं समझना चाहिए। स्थान एवं अधिकार भेद से जैसे एकही मनुष्य—पिता, पुत्र, मातुल, श्वशुर, फौजदारसी, आदि

इसकी स्थिरताका एकमात्र कारण उस प्रतिबिम्बाधार पानीकी शान्तिहै। आप उस पानीको हाथसे हिलादीजिए। बस उसी समय पानीमें लहर पैदा होजायगी एवं उसी क्षण उस प्रतिबिम्बित सूर्यके खण्ड खण्ड होजायंगे, एवं प्रतिबिम्बका स्वरूपही बिगड जायगा। बस ठीक यही बात यहां समझिए। मन पानीका बर्तनहै। बुद्धि प्रतिबिम्बित सूर्यहै। यदि मन दृढहै शान्तहै तो बुद्धिभी शान्तहै एवं एकाकारहै। शान्त मनके ऊपर प्रतिष्ठित जो शान्त अतएव निश्चल बुद्धिहै उसीका नाम 'व्यवसायात्मिका' बुद्धि है। 'इदमित्थमेव नान्यथा' (यह ऐसाहीहै—विपरीत नहींहै) इसप्रकार का जो निश्चयज्ञानहै उसीकानाम 'व्यवसाय' है। व्यवसायमें—वि—अव—साय—तीन विभागहैं। विका अर्थहै विशेष। अवका अर्थहै नीचेकी ओर। सायका अर्थहै समाप्ति। 'षोऽन्तकर्म्मणि' धातुसे तद्धित प्रत्ययद्वारा 'साय' बनाहै। बुद्धि उस विषयके अन्तस्तलपर बैठजाय वहीं समाप्त होजाय अर्थात् तन्मय होजाय बस व्यवसाय शब्द ऐसी अवस्थाको ही सूचित करताहै। इस निश्चयज्ञानापरपर्यायक व्यवसाय संपत्तिसे युक्त जो बुद्धिहै—उसीकानाम 'व्यवसायात्मिका' बुद्धिहै। यह बुद्धि एकाकारहै। इसमें इदंवा—इदंवा यह नाना वृत्ति नही होती। इसमें तो निश्चय ज्ञानही होताहै। परन्तु इसकी उत्पत्ति अचल मनसेही सम्बन्ध रखतीहै। व्यवसायात्मिका बुद्धिको प्राप्त करनेकेलिए पहिले तदाधारभूत मनका चाञ्चल्य दूर करनेकी आवश्यकता है। मनके चाञ्चल्यको दूर करनेकेलिए वाक्संयम करना आवश्यकहै। क्योंकि जो वस्तु निर्बल होतीहै वही शीघ्र हिलपडतीहै। शाखाएं वायुके धक्केसे हिलपडती हैं परन्तु मूलस्तम्भ टससे मस भी नहीं होता। इसी नियमके अनुसार जितना वाक्संयन कियाजाताहै उतनाही मन दृढ होजाताहै। अग्नि वाक्है। हम प्रतिदिन अन्न खातेहैं—अतएव प्रतिदिन अग्नि बढता रहताहै। अग्नि वृद्धिसे मनोवृद्धि होतीरहती है। वही अन्न रस, असृक्

मांसादिके क्रमिक विशकलनसे मन बनताहै। तो बस यदि आप मनको स्थिरकर व्यवसायबुद्धि प्राप्त करना चाहतेहैं तो आपको वाक्संयम करना पड़ेगा। जब अभ्यास योगसे मनकी चञ्चलता दूर होजायगी तो मन शान्त होजायगा। उसीसमय विज्ञान भी शान्त होजायगा। शान्त विज्ञानसे चितकेस्वरूप (आत्मस्वरूप) का साक्षात्कार होजायगा। बस जो धीर एवं निश्चल विज्ञानवान्हैं वेही 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः' के अनुसार उस अक्षय आनन्दको प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। परमार्थ दृष्टिसे ही विज्ञानकी व्यवसायात्मिकता श्रेष्ठहो यह बात नहीं है। सांसारिक अर्थों काभी वही यथावत् संचालन करसकताहै जोकि बुद्धिमान् होताहै। जिस की विज्ञानशक्ति प्रबल रहती है वही सब कार्य सुचारुरूपसे करनेमें समर्थ होताहै। विज्ञानशक्तिको प्रबल रखनेका एकमात्र उपायहै, मनको शान्त रखना। मनको शान्त रखनेका एकमात्र उपायहै कम बोलना। अधिक बोलनेसे मन निर्बल होजाताहै। उसी समय वह चञ्चल होपडताहै। उस के चञ्चल होतेही उस एक बुद्धिके अनन्त खण्ड होजातेहैं। उसी समय उसमें अव्यवसाय धर्म्म कूदपडताहै। यह ऐहलौकिक परलौकिक दोनों अर्थोंका विघातकहै। अतएव उसका विरोध, एवं व्य० का आदेश करते हुए भगवान् कहते हैं—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ (गीता)

अर्थ स्पष्टही है। इस प्रकार सारे प्रपञ्चसे यह भलीभांति सिद्ध हो जाताहै कि वाक् साक्षात् यज्ञहै। अग्निरूप आध्यात्मिक यज्ञही वाक्रूपमें परिणत हो बाहर निकलताहै। अतएव हम अवश्यही वाक्को यज्ञ कहनेके लिए तय्यारहैं। निर्बल मनुष्य क्षुब्ध रहताहै। क्षोभ बुद्धिका नाशकहै।

आज यह अध्वर्यु यज्ञ जैसा कठिन कर्म्म करनेवालाहै । अतएव इसे अवश्य ही मौन धारण करना चाहिए । 'वाग वै यज्ञः' यह अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवत तीनोंसे सम्बन्ध रखताहै । सारा प्रपञ्च मनप्राणवाङ्मयहै । प्रत्येक वस्तु यज्ञमयहै । यज्ञमनप्राणवाङ्मयहै । वाक् स्थूलहै । उसेही हम देखते हैं । वही वाक्पिण्ड यज्ञमूर्त्तिका परिचायकहै अतएव हम अवश्यही 'वाग् वै यज्ञः' यह कहनेके लिए तय्यारहैं । अपिच—विना मन्त्र वाक्के वैध मनुष्ययज्ञ कथमपि नहीं होसकता । इसलिएभी हम 'वाग् वै यज्ञः' यह कहसकते हैं । 'स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति' के अनुसार शान्तचित्तमें विज्ञान चमकताहै । बस इसी विज्ञानसम्पत्तिको प्राप्त करनेके लिए एवं तद्द्वारा शान्तभावसे यज्ञकर्म्म करनेके लिएही वाक्संयम किया जाताहै। इससे श्रुति शिक्षा देती है कि यदि तुम किसी कार्य्यकी सफलता चाहते हो तो उसके करनेसे पहिले अपने वाग् व्यापारको थोडीदेरके लिए बन्द करदो । इससे तुम्हें बल मिलैगा । ऐसा करनेसे तुम उस कार्य्यको करनेमें समर्थ होसकोगे । बस इसी वाग्विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर—

"वाग्वैयज्ञः । अविक्षुब्धो यज्ञं तनवै-इति" यह कहागयाहै ।

इति वाक्संयमनं समाप्तम् ।

अथ प्रतपति प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तꣳ रक्षोनिष्टप्ता ऽअरातय ऽइतिवा ॥२॥ देवा ह वै यज्ञंतन्वानाः ते ऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रुस्तद्यज्ञमुखादेवैतन्नाष्ट्रा रक्षांस्यतोऽपहन्ति ॥३॥

६ अथ पात्रप्रतपनम्

अथप्रतपति—'प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः, निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः' (१ अ० ७ मं०) इति वा ॥ देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रुः । तद्यज्ञमुखादेवैतन्नाष्ट्रा रक्षांस्यतोऽपहन्ति ॥

(वाक्संयमके) अनन्तर (वह अध्वर्यु) पात्रोंको (अपराग्निमें) तपाताहै । 'प्रतपनं प्रत्युष्टं निष्टप्तमिति वा' (का० श्रौ० सू० २।५६) इसके अनुसार 'प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः' (राक्षस जाति जलगई उसके सारे व्यक्ति जलगए) इस मन्त्र भागसे, अथवा 'निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः, (राक्षस जलगया, अराति जलगए) इसमन्त्र भागसे पात्रोंको तपाताहै ॥१॥ यज्ञवितान करतेहुए देवतालोग असुर और राक्षसोंके आक्रमणसे डरनेलगे । उस डरको दूरकरनेकेलिए यज्ञके प्रारम्भसेही (उन्होंने इस प्रतपनक्रियासे असुर राक्षसोंको मारभगाया—अतएव आज यह अध्वर्युभी) यज्ञमुखसेही नाष्ट्रा और राक्षसोंको (इस प्रतपन क्रियासे) मार भगाताहै ॥२॥

वाक् संयमनके अनन्तर वह अध्वर्यु उन १० पात्रोंको पूर्वोक्त मन्त्र बोलते हुए उसी युग्मक्रमके अनुसार तपाताहै । इसी कर्म्मको पात्रप्रतपन कर्म्म कहते हैं । बिना अग्नि सम्बन्धके ऋषिलोग उस वस्तुको असुर और राक्षसोंसे आक्रान्त समझते हैं । उसकी दृष्टिमें अतप्तवस्तु आसुरभाव युक्त है, अतः अपवित्रहै, अतएव (अयज्ञिय होनेसे) यज्ञमें अग्राह्यहै । बस इसी अग्राह्य भावको दूर करनेके लिए मन्त्र बोलतेहुए पात्रोंको तपाया जाताहै । इससे सचमुच उन पात्रोंके असुर निकल जाते हैं एवं वे पात्र पवित्र होते हुए यज्ञिय बनजाते हैं । बिना तपाए वस्तु आसुर भावसे कैसे आक्रान्त रहतीं हैं ? तपाएसे उसका विनाश कैसे होजाताहै ? राक्षस, असुर, अराति आदि शब्द एकार्थकही हैं अथवा भिन्न भिन्नार्थक ? वे देवता कौ-

नसे थे जिन्होंने इस प्रतपन द्वारा पात्रोंके आसुरभावका विनाश किया आदि प्रश्नोंका उत्तर 'ब्रह्मविज्ञान' से मिलसकताहै। आत्मा, ब्रह्म, यज्ञ भेदसे उस सर्वेश्वर प्रजापतिके तीन विवर्त्तहैं। आत्मविज्ञान, ब्रह्मविज्ञान, यज्ञविज्ञान, इन तीन विभागोंमें विज्ञानशास्त्र विभक्तहै। इन तीनों विज्ञानोंमें आत्मविज्ञान सर्वाधारहै। विश्वातीत शुद्ध तत्वही आत्माहै। इसी आत्मतत्वको औपनिषद पुरुष कहतेहैं। उपनिषदोंमें प्रधानरूपसे इसी पुरुषविज्ञानका निरूपणहै। इस आत्मतत्वके आधारपर ब्रह्म और यज्ञ दोनों प्रतिष्ठित रहतेहैं। मौलिकतत्वका नामही ब्रह्महै। यही उस आत्माका पहिला विवर्त्तहै। एवं यौगिक तत्त्वकाही नाम यज्ञहै। यह उस औपनिषद पुरुषका दूसरा विवर्त्त है। इन तीनोंमेंसे आत्मतत्व शुद्धरूपसे कभी नहीं पहिचाना जासकता। उसे हम यदि प्राप्त करसकतेहैं तो केवल ब्रह्म, एवं यज्ञकेही द्वारा प्राप्त करसकतेहैं। शुद्धतत्व तो सर्वथा अविज्ञेयही है। अतएव उपनिषदोंनें उसका मौलिक ब्रह्मको लक्ष्यबनाकर तद्द्वाराही प्रतिपादन कियाहै। एवं ब्राह्मणग्रन्थ प्रधानरूपसे यज्ञद्वारा एवं गौण रूपसे मौलिक ब्रह्मद्वारा उस शुद्धकी ओरें हमारा ध्यानदिलाताहै। इसप्रकार वह शुद्धआत्मतत्व ब्रह्म और यज्ञके अन्तर्भूत करलिया जताहै। अतएव विश्वविज्ञानकी दृष्टिसे ब्रह्म और यज्ञ दोही विभाग रहजातेहैं। संहिता भाग प्रधान रूपसे इसी ब्रह्मका विज्ञान बतलाताहै। एवं ब्राह्मणग्रन्थ प्रधानरूपसे यज्ञविज्ञानका प्रतिपादन करताहै। मौलिक तत्वसे यौगिकतत्व उत्पन्न होताहै। रासायनिक प्रक्रियासे जब दो मौलिकतत्व परस्पर मिलादिए जाते हैं तो उनदोनोंके रासायनिक मेलसे तीसरा अभूतपूर्व यौगिकतत्व उत्पन्न होजाताहै। दो मौलिकोंके योगसे उत्पन्न होनेके कारण ही इसे यौगिक कहाजाताहै। कहना इससे यही है कि यौगिक वस्तुका प्रभव प्रतिष्ठा परायण वही मौलिकतत्वहै। अतएव यौगिक वस्तुके विज्ञानको जाननेंसे पहिले

मौलिक तत्वके विज्ञानकी आवश्यकता सिद्ध होजाती है । उदाहरणार्थ बारूदकोही लीजिए । सोरा और कोयला इनदोनोंके योगसे दारू बनीहै । अतएव दारूको हम यौगिक द्रव्य कहेंगे । एवं इसके मूलभूत सोरा और कोयला यह दोपदार्थहैं । अतएव इन्हें हम दारूका मौलिकतत्व कहेंगे । बस जबतक आप इनदोनों मौलिकतत्वोंका विज्ञान न जानलेंगे तबतक दारूके विज्ञानका जानना कठिनही नहीं अपितु असंभवहै । शतपथ ब्राह्मण यज्ञविज्ञान का प्रतिपादकहै । यज्ञका मूलतत्व ब्रह्महै । अतएव हम कहसकतेहैं कि यज्ञविज्ञानकी ग्रन्थिएं तबतक कथमपि नहीं सुलझसकतीं जबतककि तत्सम्बन्धी ब्रह्मविज्ञान न समझलिया जाय । ब्रह्म मूलहै, यज्ञ तूलहै । यज्ञविद्या ब्रह्मविद्याके आधारसेही प्रतिष्ठितहै । मूलतत्वके सम्बन्धसेही यौगिक तत्वका जन्म होताहै. अतः हम अवश्यही ब्रह्मविज्ञानको यज्ञविज्ञानका आधार माननेके लिए तय्यारहैं । ऐसी अवस्थामें यज्ञरहस्यको जाननेके लिए पहिले ब्रह्मविज्ञानका जानलेना आवश्यक होजाताहै । विना ब्रह्मविज्ञानके जाने यज्ञविज्ञान समझना कठिनही नहीं अपितु असम्भवहै । बस हमारे इस अनुवादमें यदि कोई कठिनताहै तो यही है । हम चाहते हैं कि विलुप्त यज्ञविज्ञानका पुनः प्रचारहो । एवं तद्द्वारा धर्म्मपर प्रबल वेगसे बढ़तीहुई अश्रद्धाका विनाशहो । परन्तु ब्रह्म विज्ञानके बिना हमारे इस उद्देश्यमें बडी कठिनाई उपस्थित होरही हैं । पहिले तो यज्ञका प्रतिपादन करनेवाला वेद[१] भागही महाविस्तृतहै । फिर इस के मूलभूत ब्रह्मके प्रतिपादन करनेवाले वेदभाके विस्तारका तो ठिकानाही क्याहै । संहिताभाग ब्रह्मभागहै । इसमेंभी प्रधानरूपसे ब्रह्मका विज्ञान बतलानेवाली ऋक्संहिताहै । संहिताकेमन्त्र-विज्ञान, स्तुति, इतिहास, इन तीन भागों में विभक्तहै । एक मन्त्रविभाग ब्रह्मविज्ञान बतलाताहै । एक विभाग

---

१ ब्राह्मणग्रन्थही कर्म्म प्रधान यज्ञका प्रतिपादन करतेहैं । बस यही भाग "यज्ञभाग" है ।

देवतादिकी स्तुतिमात्र करताहै। एवं एक भाग इतिहास[2] बतलाताहै। इसप्रकार संहितामें तीन विषयोंका निरूपणहै। एवं ब्राह्मणग्रन्थ यज्ञापरपर्य्यायक कर्म्मकाण्डका प्रतिपादन करताहै। आरण्यक उपासना तत्वका निरूपण करताहै। उपनिषत् ज्ञानका बखान करतेहैं। बस यदि संसारमें विषय होसकतेहैं तो १ विज्ञान, २ स्तुति, ३ इतिहास, ४ कर्म्म, ५ उपासना, ६ ज्ञान, यह ६ ही। इन ६ ओंका संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्, इन चारोंमें पूर्व क्रमानुसार प्रतिपादनहै। सारा धर्म्मप्रपञ्च वेदके चारों भागोंमें निहितहै। अतएव वेदके लिए—

'सर्वज्ञानमयो हि सः। सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति। धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' इत्यादि कहाजाताहै।

ऐसे सर्वज्ञानमय वेदके कर्म्मभागका भाषामें निरूपण, उसकीभी उपपत्ति, उसपरभी ज्ञानप्रचारका सर्वथा अभाव, यह कठिनताकी परम्पराही हमारे उद्देश्यको कठिन बनारही है। यज्ञविज्ञानके रहस्यको हम तबतक बतलानेमें सर्वथा असमर्थहैं जबतककि उससे सम्बन्ध रखनेवाले ब्रह्मविज्ञानका प्रतिपादन न करदिया जाय। यदि उसका प्रतिपादन कियाजाताहै तो हमारे प्रेमीपाठक ऊबजातेहैं। 'जिस क्रमसे शतपथ निकलरहाहै उसके अनुसारतो इसके प्रकाशनमें ४०० चारसौ वर्ष लगेंगे' कहकर कितनेही महानुभाव हमें विस्तारको रोकनेका आदेश करतेहैं। परन्तु क्या करें। हम विवशहैं। हम अपने उद्देश्यसे च्युत नहीं होना चाहते फिर चाहे कोई अप्रसन्नहो या प्रसन्न। हां हम इतना अवश्य कहदेना चाहतेहैं कि वैदिक पदार्थ गिने चुने हैं। उनको समझलेने मात्रसे फिर

---

२ वेदोंमें इतिहास है या नहीं ? इस विषयमें बड़ा मतभेदहै। इस मतभेदका मूल कारण अज्ञानता है। इस विषयका विवेचन हम आगे करनेवालेहैं।

कोई कठिनता नहीं रहती। अभी ग्रन्थका प्रारम्भहै। उचित तो यहथा कि हम स्वतन्त्ररूपसे तीनसौ चारसौ पेजका शतपथ सम्बन्धी एक भूमिका प्रकरण अपने पाठकोंके समक्ष रखकर अनन्तर ग्रन्थ आरम्भ करते। परन्तु कट्टर सनातनी इसकी उपेक्षा करदेते। उन्हें ग्रन्थके आधारके बिना कोई बात अच्छी नहीं लगती। बस इसीलिए हमें एकसाथ दोनों में हाथ डालनापड़ा। ऋषि, देवता, प्रजापति, छंद, असुर, पितर, राक्षस, गन्धर्वादिके मौलिकविज्ञानके आधारपर चुंकि यज्ञ विज्ञान खडाहै अतः इनपदार्थोंको प्रारम्भमें ही समझलेना अधिक उपयोगि सिद्धहोगा। बस यही समझकर ग्रन्थके प्रारम्भमें हमें इतने विस्तृत क्रमका आश्रम लेनापडाहै। जब वर्ष दो वर्षमें सारे पारिभाषिक पदार्थोंसे पाठक परिचित होजांयगे तो फिर आगे उन्हें विस्तारका सामना करनेकी कोई आवश्यकता न रहैगी। बस यही प्रासङ्गिक निवेदन करके हम अपने पाठकोंका ध्यान देवता, राक्षस, असुरोंकी ओर दिलाते हैं। संभवहै इनका सूक्ष्मस्वरूप एक दो अङ्कमें समाप्तहो। आशाहै विषयकी गहनताको लक्ष्यमें रखकर इस गौरवको पाठक महोदय लाघवही समझेंगे--

देवता, असुर, राक्षस इन तीनों प्राणोंका स्वरूप जबतक नहीं समझलिया जायगा तबतक 'देवाहवै यज्ञं तन्वाना ते असुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रुः' इस पङ्क्तिका अर्थ समझमें नहीं आसकेगा अतः अप्राकृत होने परभी सूक्ष्मरूपसे इन तीनोंका वैज्ञानिक स्वरूप बतलाया जाताहै। तीनोंमेंसे क्रमप्राप्त पहिले देवताकाही स्वरूप बतलायाजाताहै। जिन देवताओंका प्रकृतमें स्वरूप बतलाया जायगा वे देवदेवताहैं। कोषकारनें यद्यपि देव और देवता शब्दको परस्पर पर्य्याय माना है, परन्तु वैज्ञानिक दृष्टिसे यह पर्य्यायसम्बन्ध अशुद्धहै। देवता शब्द दूसरे अर्थका वाचकहै, एवं देवशब्द भिन्न अर्थको बतलादेनेवालाहै। देवताशब्द व्यापकहै, देव शब्द व्याप्यहै।

देव देवता अवश्यहै, किन्तु देवता देवही नहीं है । ब्राह्मण और गौडब्राह्मणमें जो अन्तरहै, देवता देवशब्दमें वही अन्तरहै । गौड़, मैथिल, कन्यकुब्ज, महाराष्ट्र, तैलिङ्ग, सरयूपारी, आदि आदि पञ्चगौड़ और पञ्चद्राविड़ सभी ब्राह्मणहैं । ब्राह्मण शब्दसे सबका ग्रहण होसकताहै । किन्तु पंचगौड़ोंमें जो एक गौड़शाखाहै वह केवल गौड़ब्राह्मणसेही सम्बन्ध रखती है । गौड़ब्राह्मणभी ब्राह्मणहै, परन्तु, ब्राह्मण केवल गौड़ही है यह बात नहीं है । इसी व्याप्य व्यापक भावको समझानेके लिए संस्कृतसाहित्यमें 'ब्राह्मणवसिष्ठ' नामका न्याय सुप्रसिद्धहै । अनेक ब्राह्मण पंक्तिमें बैठेहुए हैं । उन सबमें वसिष्ठनामका ब्राह्मण उन सबका मुखियाहै । राजा कहताहै कि सब ब्राह्मणों को एक एक[1] गौ (सोनेका सिक्का) दक्षिणामें देदो, एवं वसिष्ठको १० गौ का दान करो । वसिष्ठभी यद्यपि ब्राह्मणही था अतः जो दक्षिणा सबको प्राप्तथी वही इसेभी मिलनी चाहिएथी परन्तु चूंकि 'वसिष्ठ' नामका एक यही ब्राह्मण था अतः राजाकी विशेष आज्ञाका अधिकारी यही हुआ एवं इसेही एक गौ न मिलकर १० गौ मिली । बस जो अन्तर वसिष्ठशब्द और ब्राह्मण शब्दमें था वही अन्तर देवता और देव शब्दमें है । देवता शब्द—ऋषि, पितर, असुर, गन्धर्व, देव, आदि सभी प्राणोंका वाचकहै । एवं देव शब्द उन प्राणोंमें से जो सौरप्राण नामका ३३ प्रकारका देवप्राणहै उसीका वाचकहै । जिस स्थानका एवं जिस कर्म्मका जो प्राण अधिष्ठाताहै, नायकहै, उस स्थानमें एवं उस कर्म्म में वही प्राण-

---

१ जैसे आजकलके सोनेचांदीके सिक्केपर बादशाहका चित्र रहताहै एवमेव वैदिककालमें सिक्कोंपर गौका चित्र रहता था क्योंकि गौ पशु सूर्य्य प्राणघन रहनेसे उन वैज्ञानिकोंका आराध्यथा । वे सिक्केहीं 'गो' नामसे प्रसिद्ध थे । इस विषयका विशद विवेचन हम आगे आनेवाले 'दक्षिणाब्राह्मण' में करेंगे ।

देवताहै। अपने अपने स्थान कर्म्ममें प्रधानरूपसे रहनेवाला प्राणही अपने अपने स्थान एवं कर्म्मका देवताहै। ऋषि अपने कर्म्मका देवताहै। पितर अपने कर्म्मका देवताहै। असुर अपने कर्म्मका देवताहै। बस सारे प्राणोंमें यही व्यवस्था समझलेनी चाहिए। देवता शब्दके इसी व्यापकभावके आधारपर ऋषिदैवत्य, पितृदैवत्य, असुरदैवत्य, देवदैवत्य आदि व्यवहार प्रचलितहैं। तात्पर्य्य कहनका यही है कि देवता शब्द आधिकारिकहै। एवं देव शब्द प्रातिस्विकहै। वैयक्तिकहै। फौज़दारकी गद्दी पर कालभेदसे सैंकडों मनुष्य बैठेते हैं। वे सभी फौज़दार कहलाते हैं। परन्तु उनके जो रघुवीरसिंह, नाहरसिंह, रुद्रदेव, आदि प्रातिस्विक नामहैं वे उन उनमें हीं सीमित हैं। बस ठीक वही व्यवस्था यहां भी समझनी चाहिए। देवता अनन्तहैं। देवकुल ३३ ही हैं। पूर्वके अङ्कों में हमने बतलाया था कि ईश्वर प्रजापतिके स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, यह पांच अवयवहैं। इन पांचों में स्वयम्भूके प्राणका नाम ऋषिहै। पारमेष्ठ्य सौम्यप्राण पितरनामसे प्रसिद्धहै। सौरप्राणको देवता कहते हैं। चान्द्रप्राण 'गन्धर्व' नामसे प्रसिद्ध है। एवं पार्थिवप्राणको असुर कहाजाताहै, जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। इन पांचों प्राणोंमें सौर प्रकाशीप्राण एवं पार्थिव तमोमय प्राणमें परस्पर स्वाभाविक शत्रुताहै। एक अन्धेराहै, एक उजालाहै। दोनों इसी ईश्वर प्रजापतिकी सन्तानहैं। पार्थिव तमोमयप्राण असुरहै, सौरप्रकाशी प्राण देवहै। इन्हीं दोनोंके परस्पर शत्रुताहै अतएव वेद एवं पौराणिक आख्यानोंमें इन दोनोंके संग्रामको 'देवासुरसंग्राम' कहाजाताहै। यदि देवता देवशब्द पर्य्याय होते तो कहीं 'देवासुरसंग्राम' के स्थानमें 'देवतासुरसंग्राम' का भी उल्लेख होता। अपिच ब्राह्मणग्रन्थों में जहां इन दोनों प्राणोंका संघर्ष बतलाया जाताहै वहां सर्वत्र इनके लिए 'देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे'—(प्रजापतिकी सन्तान होनेसे प्राजापत्य नामसे प्रसिद्ध देव असुर

दोनों परस्पर स्पर्द्धा करने लगे—शत० २।५।८) यही कहा जाता है। यदि देवता देवशब्द समानार्थकही होते तो कहीं 'देवताश्च वा असुराश्च०' यहभी उल्लेख रहता। परन्तु ब्राह्मणग्रन्थमात्रमें कहींभी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। अतः हम अवश्यही इन दोनोंको विभिन्नार्थक माननेके लिए तय्यारहैं। अपिच ईश्वरके अंशभूत हम जीवोंमें स्वयम्भू के विभिन्न जातीय वसिष्ठ, भृगु-अङ्गिरा, अत्रि आदि १२ ऋषिप्राणहैं। परमेष्ठीके अग्निष्वात्ता, सोमसद, बर्हिषद, आदि ७४ पितरप्राणहैं। सूर्य्यमण्डलके वसु, रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार आदि ३३ देवप्राणहैं, चन्द्रमाके अङ्गारि, बंभारि, आदि २७ गन्धर्वप्राणहैं। एवं पृथिवीके वृत्र, किलात, आकुली, नमुचि, आदि ९९ असुरप्राणहैं। एवं पुरुष (वैश्वानर), अश्व, गौ, अवि, अज, यह पांच प्रवर्ग्य (अतएव पशुनामसे प्रसिद्ध) प्राणहैं। इन सारे प्राणोंको लेकर 'मैं' (मनुष्य) खडाहुआहूं। दूसरे शब्दोंमें ईश्वरके शरीरमें से उद्रिक्त (अलग छूटेहुए) इन प्राणोंकी जो राशि (ढेर) है—वही मै हूं। न केवल मैं (चेतन) हीं अपितु पैदा होनेवाले चेतनानेचतन जितनेभी पदार्थ हैं सबमें यह पदार्थहैं। हां मात्रा और अवयव सन्निवेशक्रममें अवश्यही अन्तरहै। इसी लिए सबके उन्हीं प्राणों से उत्पन्न होनेपरभी एकदूसरेके स्वरूपमें भेद होजाताहै। जो कुछ ईश्वरमें है वह सबकुछ मात्राभेदसे हममेंहै। वही सारे पदार्थ एक तिल मेंभी है। इसी विज्ञानके आधारपर पूर्वके अङ्कोंमें वाग्विज्ञान बतलाते हुए हमने'सर्वे सर्वार्थवाचका'यह सिद्धान्त बतलायाहै। निम्नलिखित शास्त्रीयवचन भी इसी अर्थकी पुष्टि करतेहैं—

१ १—*"यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह"*—

२—*"योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्"*—

---

१ १ जो कुछ यहांहै वही वहांहै, एवं जो कुछ वहांहै वही य-

२ जो मैंहूं वही वहहै, जो वहहै वही मैंहूं।

३—"ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्"—

४—"ब्रह्मैवेदं सर्वं नेह नानास्ति किञ्चन"—

५—"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते"—

६—"यथाण्डे तथापिण्डे"—

८—"मत्तःपरतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय"—

९—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"—

इसप्रकार पूर्वोक्त श्रुति वचनों से यह भली भांति सिद्ध होजाताहै कि ईश्वरके शरीरमें जो प्राणहैं. वे सभी प्राण जीवमेंहैं। ईश्वरके शरीरमें वही ऋषि।पितर, असुरादि प्राणहैं। ऐसी अवस्थामें हम अवश्यही इनसभी प्राणोंको जीवका आरम्भक (उपादानकारण) माननेकेलिए तय्यारहैं। बस इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर—

'जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एवदेवताभ्यः'—यह कहाजाताहै। पैदाहोनेवाले पदार्थ (जडचेतन उभयविधपदार्थ) इन्ही सारेदेवताओंसे उत्पन्न होतेहैं"—श्रुतिका यही तात्पर्यहै। इस श्रुतिके 'देवताभ्यः' शब्दकी तभी संगति होसकतीहै जबकि देवता शब्दको व्यापक एवं देवशब्दको व्याप्य मानलियाजा। यदि देवताका अर्थ केवल देवही मानलिया

---

३ इस जगत्में जोकुछहै सब उस ईश सत्तासे आक्रान्तहै।

४ सब कुछ ब्रह्मही ब्रह्महै। ब्रह्मसे पृथक् करके भिन्न कहने लायक कोई वस्तु नहींहै।

५ वहभी पूर्णहै, यहभी पूर्णहै। उस पूर्णसे यह पूर्ण अलग हुआहै।

६ जो स्थिति जो पदार्थ अण्डमें (अधिदैवतमें) है वही। इस पिण्डब्रह्माण्ड (अध्यात्म) मे है।

७ हे धनंजय ! मुझसे (अव्ययात्मासे-अव्ययनामसे प्रसिद्ध- ईश्वरसे) भिन्न कोईभी वस्तु नहींहै।

९ संसारके जीवमात्र मेरेही (ईश्वराव्ययकेही) अंशहैं।

जायगाबो—अंशांशीभाव प्रतिपादन करनेवाली पूर्वोक्त सभी श्रुतिएं व्यर्थ होजायंगी। अतः ब्राह्मणश्रुति, उपनिषत्श्रुति, मन्त्रश्रुति, एवं स्मार्त्त, और पौराणिक सारेवचनोंके समन्वयकेलिए 'देवता'-शब्दको यथयावत् प्राणों-काही वाचक मानना उचितहै। जब देवता शब्दको प्राणमात्रका वाचक मान-लिया जाताहै-तो "आ० वै० आ० सर्वाभ्यो एताभ्यो० ए० दे०"—इस श्रुतिमें एवं अंशभाव प्रतिपादन करनेवाले पूर्वोक्त श्रौतस्मार्त्त वचनोंमें कोई विरोध नहीं रहता।

अपिच देवप्राणप्रधान ब्राह्मण समुदाय जैसे देवप्राणकी स्तुति एवं आसुर प्राणकी निन्दाकरताहै, एवमेव आसुरप्राणप्रधान यवन समुदाय आसुर प्राणकी स्तुति एवं देवप्राणकी निन्दाकरताहै। जैसे हम आसुर प्राण भावापन्न योनिविशेषकेलिए 'अरे यह असुर आया—राक्षस आया' आदि निन्दात्मक वचन बोला करतेहैं, एवमेव यवनसंप्रदायवाले देवभावापन्न योनिविशेषकेलिए 'अरे यह देव आया' आदि निन्दाप्रधान वचनों को व्यवहारमें लायाकरतेहैं। कहना इससे यहीहै कि वे देवप्राणकी निन्दा करतेहुए 'देव आया' इसप्रकार देवशब्दकोही बोलाकरतेहैं। उनके शास्त्रोंमें भी 'देव' शब्दही व्यवहृतहुआहै। इतपर संप्रदायसिद्ध व्यवहारकोभी 'शक्तिग्राहक शिरोमणेर्व्यवहारस्य' के अनुसार हम हमारी देव, देवताशब्दकी विभिन्नतामें प्रमाण न मानें इसका कोई कारण नहीं दिखलाईदेता। अपिच हम अपने व्यवहारमेंभी इनदोनों संपत्तियोंकेलिए 'दैवी संपत्ति' 'आसुरी संपत्ति' इन नामोंकोही प्रधानता देतेहैं। हमने कभी भूलसेभी दैवीसंपत्तिके स्थानमें 'देवतामयी संपत्ति' नहीं कहा। कहते कैसे जबकि देवता देवशब्द विभिन्नार्थकहैं। अपिच देवप्राणप्रधानसूर्य्यका वर्णन करनेवाली मन्त्र श्रुतिभी—

'चित्रंदेवानामुदगात्'(देवोंका झुंड उदितहुआ यजुः ७।४२)से देवशब्दको भी हमारेसामने रखतीहै। अपिच--

'हिरण्मयेन सविता रथेनादेवोयाति भुवनानि पश्यन्'-(यजुः३३।४३)।

'अविदाम देवान् स्वर्ज्योतिः'--(यजुः सं० ८।५२)।

द्वयाहवै देवाः, देवाहवै देवाः, इत्यादि मन्त्रब्राह्मण श्रुति वचनोंसेभी हमारेही कथनकीही पुष्टि होतीहै। बस इन्हीं सबकारणोंको लक्ष्यमें रखकर कोपकेविरुद्ध हमनें 'देवताशब्द दूसरे अर्थका वाचकहै, एवं देवशब्द भिन्नअर्थको बतलानेवालाहै' यह कहनेका साहस कियाहै जोकि सर्वथा उचितहै। बस उन ऋषि पितरादि देवताओंमें से आज हम अपने पाठकोंके सामने देव देवताओंका ही स्वरूप रखनेवालेहैं। "देवभी देवताहैं" इस सिद्धान्तके अनुसार आगे बतलाएजानेवाले देवस्वरूपमें यदि हम इन देवोंकेलिए देवता शब्दकाभी प्रयोग करैंतो इसमें विरोध नहीं समझना चाहिए। शाब्दिकक्रमह समाप्त होचुका अब विषयमें प्रवेश करतेहैं।

देवताओंका स्वरूप प्राचीनोंने कैसा समझाहै? उनके मतानुसार देवता कितने प्रकारकेहैं? पहिले इस प्राचीन मतका थोडे शब्दोंमें निरूपण करके अनन्तर इस विषयमें हम अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट करैंगे। वैदिक ऋषि, छन्द, देवता, आदि वैदिक पदार्थोंके निर्णयके विषयमें आजदिन यास्कमुनिप्रणीत 'यास्कनिरुक्त' का पण्डितसमाजमें अधिक आदरहै। अतः और किसी अन्य प्राचीन मतके झमेलमें न पडकर हम अपने पाठकोंका ध्यान निरुक्तमे प्रतिपादित देवस्वरूपकी ओरही, आकर्षित करना अच्छा समझते हैं। उसीमें अन्य मतोंका भी दिग्दर्शन आजायगा। निरुक्तनें १ पुरुषविध, २ अपुरुषविध, ३ उभयविध यह तीनप्रकारके देवता माने हैं। निरुक्तभाष्य-

कार दुर्गाचार्यने इन तीनोंके निष्कर्षभूत—१ पुरुषविध, २ अपुरुषविध, ३ कर्म्मार्थउभयविध, ४ नित्य उभयविध इसप्रकारसे ४ प्रकारके देवता माने हैं। अस्तु दुर्गाचार्यने चाहे कितनेही भेद मानेहों प्रकृतमें उससे हमारा कोई प्रयोजन नहीं। यहां हम केवल मूलग्रन्थमें वर्णित देवतात्रयीका ही स्वरूप बतलावेंगे। जिन तीन देवताओंका पूर्वमें उल्लेख कियागयाहै उनमें से तीसरे देवता यास्काभिमतहैं, एवं शेष दोनों देवता प्राचीनाभिमतहैं। इन मतवादोंके जाने बिना वैज्ञानिकरूपसे प्रतिपादित देवविज्ञानके साथ श्रद्धासूत्रका सम्बन्ध नहीं होसकता अतः अप्राकृत एवं साथही में रूक्ष होने परभी उन प्राचीन मतोंके पक्ष प्रतिपक्षोंका दिग्दर्शन करादेना उचित नहीं तो अनुचितभी न होगा—

यास्क मुनिसे पहिले देवताओंके स्वरूपके विषयमें दो मत थे। कितने ही विद्वानोंका कहना था कि देवता पुरुषविधहैं। जैसा आकार एक मनुष्य काहै ठीक वैसाही आकार देवताओंका है, एवं जो व्यवस्थाएं मनुष्योंमें प्रायः वैसीही व्यवस्थाएं उनमें हैं। अर्थात् उनकाभी मनुष्योंके समान विवाह होताहै। पुत्रादि होते हैं। उनमें और मनुष्यों में अन्तर केवलहै तो इतनाही है कि मनुष्योंमें ५ ज्ञानेन्द्रिएं, ५ कर्म्मेन्द्रिएं, १ मन, इसप्रकार ११ ही इन्द्रिएं हैं। एवं उनमें मनुष्योंसे अधिक ९ तुष्टिएं, एवं अणिमा महिमादि ८ सिद्धिएं यह १७ भाग औरहैं। इसप्रकार उनमें २८ इन्द्रिएं होजाती हैं। इन सिद्धियोंका स्वरूप आगे जाकर बतलायाजायगा। उधर कईएक विद्वानोंका कहना था कि देवता अपुरुषविध हैं। देवता कभी मनुष्योंके समान आकारवाले नहीं होसकते। इसप्रकार दोनों मतों में परस्पर संघर्ष था। दोनोंही मतवादी अपनी अपनी पुष्टिके लिए वेदवचन सामने रखते थे। इस संघर्षको अन्तमें यास्कने–'अपि वा उभयविधास्युः' कहकर समाप्त किया। इस निर्णयसे पहिले होनेवाले संघर्षका क्या स्वरूप था, दोनों

अपने मतकी दृढ़ताके लिए किन वचनोंका आश्रय लेतेथे—संक्षेपतः हम पहिले पाठकोंकी जानकारीके लिए अनुवादरूपसे उस प्राचीन प्रपञ्चका निरूपण करतेहैं—

कितनेही प्राचीन लोग निम्नलिखित पांच कारण बतलाते हुए 'पुरुष-विधाःस्युः' इस सिद्धान्तको स्थापित करते हैं—

१—चेतनावान् पुरुषोंके समान कितनेही वेदमन्त्र इन देवताओंकी स्तुति करतेहैं।

२—जैसे चेतनायुक्त मनुष्योंमें परस्पर संवाद होताहै एवमेव कितने ही वेदमन्त्र इन देवताओंके परस्परमें होनेवाले संवादका निरूपण करते हैं।

३—कितनेही वेदमन्त्रों से देवताओंके हाथपैर होना सिद्ध होताहै। क्यों कि वे उसी रूपसे उनकी स्तुति करतेहैं।

४—पुरुषके उपयोगमें आनेवाले अश्व रथादि द्रव्योंका देवताओंके साथ संयोग बतलायाजाताहै।

५—पुरुषके समान देवताओंके भोजनादि कर्म्म बतलाएगएहैं।

वेदमन्त्रोंमें पूर्वोक्त ५ चों भाव मिलते हैं। बस इसी आधारपर इन प्राचीनोंनें देवताओंको पुरुषविध बतलायाहै। परन्तु दूसरे आचार्य इसमें सहमत नहीं है। उनका कहनाहै कि देवता किसीभी तरह पुरुषविध नहीं होसकते। इस दूसरे मतके माननेवाले आचार्योंनें—पुरुषविध माननेंवाले आ-चार्योंकी ५ चों युक्तियोंका खण्डन करके अपनी पुष्टिकेलिए एक प्रबल युक्ति बतलाकर अन्तमें 'अपुरुषविधाःस्युः' यही सिद्धान्त कियाहै। इन दोनों मतोंके पक्षप्रतिपक्षोंका स्वरूप निम्नलिखितहै—

१–पुरुषविध माननेवाले प्राचीन पहिला कारण बतलातेहुए कहतेहैं–'चेतनावद्वद्धि स्तुतयो भवन्ति'। चेतनावान् पुरुषोंकी तरंह देवताओंके स्तुतिपरक मन्त्रहैं–अतएव हम देवताओंको पुरुषाकार माननकेलिए तय्यारहैं। 'हिरण्मयेन सविता रथेनादेवोयाति भुवनानि पश्यन्'। सुनहरी रथपर सवारहोकर सविता देवता सारे विश्वको देखताहुआ आताहै उदितहोताहै—यजुः सं० मन्त्र ४३। अ० ३३। 'अग्निमीळे पुरहितम्'–मैं पुरोहित अग्निकी स्तुति करताहूं—ऋक् संहिता, आदि श्रुति वचन स्पष्टही देवताओंकी चेतनावान् पुरुषके समान स्तुति करतेहुए इनकी विग्रहवत्ता सिद्ध कररहे हैं।

१–इधर अपुरुषविध माननेवाले प्राचीन इस पहिली युक्तिका खण्डन करते हुए कहतेहैं—

'यथो एतच्चेतनावद्वद्धि स्तुतयोभवन्ति–इति, अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते यथाक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि' (या० नि०) इसका तात्पर्य यही हैकि–यद्यपि कितनेही वेदमन्त्र चेतनायुक्त पुरुषोंके समानही देवताओंकी स्तुति करते हैं, किन्तु इसी लिए इन्हें पुरुष विधमानलेना उचित नहीं। यदि चेतनावत् स्तुतिही पुरुषाकारतामें कारणहो तबतो 'ओषधे त्रायस्व' (हे औषधियो! आप यजमानकी रक्षाकरो), 'स्वधिते मैनंहिंसीः'–(हे छुरिके! तू इसे मत मार), आदि श्रुतियोंद्वारा सम्बोधित लोहमयीछुरिका, और औषधिएं भी पुरुषाकारही मानी जानी चाहिए। क्या आप इनस्तुतियोंके आधारपर औषध्यादिको पुरुषविध माननेका साहस करसकते हैं? कदापि नहीं। अतः देवता अपुरुषविधही हैं।

२–पुरुषविध माननेवाले दूसरा कारण बतलातेहुए—'तथाभिधानानि' (या. नि०) यह सूत्र सामने रखतेहैं। इसका तात्पर्य यही है कि वेदमें कित-

नेही सूक्तोंमें परस्पर देवताओंका संवादहै। एक देवता दूसरे देवताको सम्बो-
धन करके कहरहाहै। ऐसे सूक्त 'संवादसूक्त' नामसे प्रसिद्धहैं। क्योंकि वेद
देवताओंका परस्पर संवाद होना बतलाताहै। एवं यह संवाद अपुरुषविध
माननेपर नहीं बनसकता। इसलिए भी हम देवताओंको पुरुष विध मान-
नेकेलिए तय्यारहैं।

२-इस संवाद सम्बन्धी हेतुको भी हेत्वाभास बनाया जासकताहै। संवादके
आधारपरही यदि देवताओंको पुरुषविध मानलियाजाय तबतो दो पिप्प-
लोंको भी पुरुषविध मानना पड़ेगा। जैसाकि अथर्व श्रुति कहतीहै—

पिप्पल्यः समवदन्तायतीर्जीवनादधि।
यं जीवमश्नवामहै न सरिष्याति पूरुषः॥

अथर्वसं० १०९ सू० १२ अ० २ म०

पिप्पल दो प्रकारकी होतीहैं। छोटी पीपल क्षुद्र पीपलहै। बडी पीपल
आयतीहै। इसीको 'गजपीपल' कहतेहैं। ऐसी दो गजपीपल परस्परमें एक
दूसरीसे कहती है कि जिससमय बच्चा पैदा होताहै उसीसमय सबसे पहिले
हमारेमेंसे किसी एकको घिसकर माताके स्तनपर लगाकर पहिली जन्मघुटी
यदि हमारी देदी जायतो १०० वर्षतक वह कभी बीमार नहीं होसकता।
पूर्व मन्त्रका यही तात्पर्य्यहै। यहांपर इससे हमें केवल यही कहनाहै कि
यह श्रुति दो पीपलियोंका परस्पर संवाद बतलारहीहै। क्या इस संवाद
भाषामे इन पीपलियोंको कोई बुद्धिमान पुरुषविध मानसकताहै—कदापि
नहीं। अतः देवताओंको अपुरुषविधही समझना चाहिए।

३-'पुरुषविधाःस्युः' कहनेवाले प्राचीन तीसरा हेतु बतलातेहुए कहतेहैं—

'अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तयन्ते'—(या० नि०) इति। निम्नलिखित श्रुति वचन पुरुषोंके समान देवताओंके भी हाथ पैरोंका होना बतलाताहै।

'ऋष्यांतइन्द्र स्थविरस्यबाहू' (ऋक्० सं० ४।७।३१।३) यह मन्त्र इन्द्रदेवता को हाथवाला बतलाताहै। यह तभी संभव होसकताहै जबकि—देवताओंको पुरुषाकार मानलियाजाय।

३—इस तीसरे तर्कको काटतेहुए अपरुषविध माननेवाले प्राचीन कहतेहैं—कि निम्नलिखित मन्त्रद्वारा आपका यह तीसरा हेतुभी कटजाताहै। वह मन्त्र यहहै—

एतेवदन्ति शतवत् सहस्रवदभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः।
विष्ट्वीग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित् पूर्वे हविरद्यमाशत॥
(ऋक्० सं० ८।४।२६।२ इति)॥

इष्टि, पशु, सोम भेदसे यज्ञ तीन प्रकारके होतेहैं। इन तीनोंमें जो तीसरा सोमयज्ञहै उसीको ज्योतिष्टोम कहतेहैं। इस यज्ञमें प्रधानरूपसे 'सोमरस' की आहुति होती है अतएव इसे सोमयज्ञ कहाजाताहै। जैसे इष्टिवेदि हविर्वेदी नामसे व्यवहृत होतीहै एवमेव यह सोमवेदि महावेदि कहलातीहै। हविर्वेदिका आहवनीय कुण्ड इस महावेदिका गार्हपत्य बनजाताहै। इसके आगे सदोमण्डप होताहै। इसमें ६ धिष्ण्यअग्नि रहतेहैं। एवं मार्जालीय नामका ७ तवां धिष्ण्य दक्षिण भागमें रहताहै एवं आग्नीध्रीय नामका ८ वां धिष्ण्य उत्तरभागमें प्रतिष्ठित रहताहै। इसके बादहै हविर्धानमण्डप। इस मण्डपमें पूर्वाभिमुख दो शकट रक्खे रहते हैं। यज्ञार्थ आईहुई सोमवल्ली इन्हीं शकटों पर रक्खी रहती है। हविर्धानके आगे (पूर्वमें) उत्तरावेदि। उसके बीचमें आहवनीयहै। आहवनीयके आगे २१ पर यूपहै। बस हवि-

वेदिके गार्हपत्यसे प्रारम्भ कर इस यूप तक महावेदिका स्वरूप खडाहुआहै। इस महावेदिके भीतर सदोमण्डपसे पूर्वभागमें स्थित जो हविर्धानमण्डपहै उसमें दो छकड़ोंकी स्थिति बतलाई है। इनमेंसे दक्षिण शकटके दक्षिणभाग में चार खड्डे होते हैं। इन चारोंको वैदिकपरिभाषामें 'उपरव' कहाजाताहै। इन चारों पर 'उपांशुसवन' नामसे प्रसिद्ध पत्थरकी विशाल शिला रक्खी जाती है। एवं उसपर ग्रावाओंसे (पाषाणमयी लोढियोंसे) सोमवल्लीको कूट॰ कर उसका रस निकाला जाताहै। एवं निकाल निकाल कर समीपमें ही रक्खेहुए द्रोणकलशमें उसे भरदिया जाताहै। कहना इससारे प्रपञ्चसे प्रकृतमें यही है कि जिससमय ऋत्विक लोग सोमरस कूटने लगतेहैं उससमय उन पत्थरोंकी ऐसी गूंजहोती है जैसेकि सैंकडों हजारों आदमी एकसाथ मिलकर किसीको पुकारतेहों। इस गूंजका प्रधान कारण वही चार उपरव (खड्डे) हैं जिनपर कि शिला रक्खीहुई है। सोमरस हरित होताहै। अतः सारे पत्थर हरित होजाताहै। आहुतिसे भी पहिले इस हरित सोमरसका सम्बन्ध इन पाषाणों सेही होताहै। बस पूर्वमन्त्रमें इसी स्थितिका आलङ्कारिक वर्णन बतलायागयाहै। मन्त्रका तात्पर्य्यार्थ यहीहै—जैसे सौ २ हजार २ मनुष्य एकसाथ मिलकर किसीको पुकारतेहैं एवमेव अपने हरितमुखोंसे यह ग्रावालोग सोमपान करनेवाले देवताओंको 'हे देवताओ! आप इस यज्ञमें पधारिए एवं सोमपान कीजिए' इस रूपसे बुलातेहैं। एवं यह ग्रावालोग साधुकर्म्म करनेवाले होता (अग्नि) से भी पहिलेही सोमरूप हविको खारहेहैं। इसप्रकार वदन्ति, अभिक्रन्दन्ति, आशत (अश्नन्ति), इत्यादि क्रियापद पाषाणोंके भी इन्द्रियोंकी सत्ता बतलारहे हैं। एवं 'शृणोतुग्रावाणः' (हे ग्रावालोगों आप हमारी भी सुनिए) सेस्पष्टही इन्हें श्रोत्रेन्द्रिय युक्त बतलाया जारहाहै। ऐसी अवस्थामें अंगवर्णन परक वेदमन्त्रों द्वारा देवताओंकी पुरुषाकारता कथमपि सिद्ध नहीं की जासकती।

४–पुरुषविध माननेवाले चौथा हेतु बतलाते हुए कहते हैं कि कितनेही वेद-मंत्र देवताओंके साथ पुरुषोंके काममें आनेवाले द्रव्योंका संयोग बतलाते हैं। उदाहरणार्थ नीचे लिखे मंत्रपर दृष्टि डालिए।

> आद्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्याचतुर्भिराषड्भिर्हूयमानः ।
> आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमखमामृधस्कः ॥
>
> (ऋक् सं० २।६।२१।४ इति)।

हे इन्द्र! आप इस सोमपानकर्मके प्रति अर्थात् सोमपान करनेके लिए दो घोड़ोंके, चार घोड़ोंके, ६ घोड़ोंके, आठ घोड़ोंके, दश घोड़ोंके रथपर सवार होकर बुलाए हुए अति शीघ्र इस यज्ञमें पधारिए। हे सुमख इन्द्र! यह सुत सोम आपकी बाट जोरहाहै। अतः बिना किसी बिलम्बके शीघ्रही पधार आइए"–औरभी सैंकड़ों मन्त्र ऐसे हैं जिनसे स्पष्टही देवताओंके साथ पुरुषोपयोगि द्रव्योंका संयोग सिद्ध होता है। यह तभी संभव होसकता है जबकि देवताओंको पुरुषविध मानलिए जांय।

४–इस चौथे हेतुवादकाभी आमूलचूड खण्डन करते हुए अपुरुषविध माननेवाले प्राचीन कहतेहैं कि यदि केवल द्रव्यसंयोग ही देवताओंकी पुरुषाकारतामें कारणहै तब तो–सिन्धुनद आदि नदनदियोंको भी आपको (पुरुषविध वादियोंको) पुरुषाकार मानना पड़ेगा। ऋग्वेदमेंही—

'सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्'–(ऋक् सं० ८।३।८।४ इति)।

(यह सिन्धुनद पानीके रथपर सवार होके चारों ओर दौड लगाताहुआ अन्न उत्पन्न करता है) इत्यादि मन्त्र सिन्धु नदके साथ रथका सम्बन्ध बतलाते हैं। क्या इस तादृश द्रव्यसंयोग मात्रसे ही इस नदको कोई विद्वान् पुरुषाकार मानसकता है? कदापि नहीं। अतः यह चौथा कारणभी अका-

रणाही बनजाताहै । एवं अन्तमें हमारा 'अपुरुषविधास्तुः' यही सिद्धान्त स्थिर होजाताहै ।

५—अन्तिम हेतु बतलाते हुए पुरुषविधवादी 'अथापि पौरुषविधिकैः कर्म्मभिः' इसी मन्त्रको हमारे सामने रखते हैं । उनका कहनाहै कि—

"अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य आश्रुत् कर्णश्रुधी हव"

(हे इन्द्र आप हवि खाइए सोम पान कीजिए- ऋक्० ८।६।२१।२) । इत्यादि मन्त्र देवताओंको कर्म्मयुक्त बतलातेहैं । इन मन्त्रोंका अद्धि, पिब, इत्यादि कथन तभी चरितार्थ होसकताहै जबकि देवताओंको पुरुषविध मानलिया जाय ।

५—परन्तु अपुरुषविधवादी—

"यथो एतत् पौरुषविधिकैः कर्म्मभिरित्येतदपि तादृशमेव"

कहते हुए उस पांचवें तर्कको भी निस्सार बना डालते हैं । एते वदन्ति शतवत् सहस्रवत्–इत्यादि पूर्वोक्त मन्त्रके—'होतुश्चित् पूर्वे हविरद्यमाशत' इस अंशका स्मरण दिलाते हुए यह अपुरुषविधवादी कहते हैं कि अद्धि, पिब, आदि क्रियाओंको देखकरही यदि देवताओं को पुरुषविध मानाजाता है तबतो ग्रावाओंको भी पुरुषविध मानना चाहिए । परन्तु ग्रावाओंको पुरुष कर्म्मयुक्त होनेपर भी कोई पुरुषविध नहीं मानता ऐसी अवस्थामें ऐसे ऐसे हेत्वाभासोंद्वारा अपुरुषविध देवताओंका पुरुषविध माननेका साहस कदापि सफल नहीं होसकता ।

इसप्रकार पुरुषविध माननेवालोंके पांचों हेतुवाद अपुरुषविध माननेवाले प्राचीनोंद्वारा काटदिए जातेहैं । इन हेतुवादोंको काटकर अन्तमें प्रत्यक्षदृष्ट-स्थितिको सामने रखतेहुए अपुरुषविधवादी कहतेहैं—

'अपितु यद् दृश्यतेऽपुरुषविधं तद्यथाग्निर्वायुरादित्यः पृथवी चन्द्रमा इति—या० नि० ।

इस कथनका तात्पर्य यही है कि जबकि आपके (पुरुषविध माननेवालोंके) बतलाएहुए पांचों हेतु कटजातेहैं तो ऐसी अवस्थामें देवताओंको पुरुषविध कथमपि नहीं माना जासकता । क्योंकि पृथिवी, चन्द्रमा, सूर्य्य, अग्नि, वायु आदि देवताहैं । एवं प्रत्यक्षदृष्ट इन देवताओंको हम अपुरुषविध पातेहैं । क्या पृथिवी, चन्द्रमा, सूर्य्य, अग्नि, आदिका हमारे जैसा आकारहै । जबकि इन प्रत्यक्षदृष्ट देवताओंको हम पुरुषविध देखतेहैं, एवं पुरुषविध सम्बन्धी वेदवचनों का अन्यथा समन्वय होजाताहै तो ऐसी अवस्थामें कदापि देवताओं को पुरुषविध नहीं माना जासकता । इसप्रकार यास्कमुनिसे पहिले यही पूर्वोक्त दोमत प्रचलित थे। इन दोनोंके विषयमें अपनामत प्रकट करतेहुए भगवान् यास्कनें–'अपि वा उभयविधाः स्युः' यह सिद्धान्त किया है । यास्कमुनिका अभिप्राय यही मालुम होताहै कि जबकि दोनों मतोंके ही अनुकूल वेदवचन मिलते हैं तो ऐसी अवस्थामें दोनोंमेंसे किसी एक विभागको प्रधान मानलेना, एवं अन्यको गौण मानलेना उचित प्रतीत नहीं होता । दोनोंही वचन प्रामाणिकहैं । ऐसी अवस्थामें देवता पुरुषविधभी हैं, अपुरुषविधभी हैं, यही सिद्धान्त निकलताहै । कितनेंही देवता तो सचमुच पुरुषविधही हैं । एवं कितनेंही देवता अपुरुषविधही हैं–जैसाकि आगेजाकर स्पष्ट होजायगा । यास्कमुनि इन दो विभागोंपरही संतुष्ट नहीं होते । अतएव वे आगे जाकर कहतेहैं—

'अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्म्मात्मान एतेस्युर्यथा यज्ञोयजमानस्य'–। तात्पर्य यही है कि पुरुषविध देवताओंके जो कर्म्मात्माहैं जिन्हें कि हम यज्ञात्मा कहेंगे वेभी एक प्रकारके पुरुसविध देवताही हैं । जैसे यजमान अपना एक नया याज्ञिक आत्मा उत्पन्न करलेताहै एवं वह यज्ञात्मा देवमय

होनेसे साक्षात् देवताहै तथैव जिन मनुष्योंने कर्म्मद्वारा प्राणदेवताओं को अपने आत्माके साथ युक्त करलियाहै वेभी देवताही कहलाते हैं। इसप्रकार यास्कके मतानुसार तीन देवता होजातेहैं। तीनमें दोनों पुरुषविधहैं। एवं एक अपुरुषविधहै। यहहै शास्त्रीयविचार। अब इस विषयपर हम स्वतन्त्र-रूपसे थोडासा प्रकाश डालतेहैं। आशाहै जिज्ञासु महानुभावोंके लिए यह विषय अधिक रुचिकर होगा—

वैदिकविज्ञानभवनका निरीक्षण करनेसे हमें आठ प्रकारके देवताओं की मूर्त्तियों के दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त होताहै। इसी आधारपर हम आठही प्रकारके देवता माननेके लिए तय्यारहैं। उन आठों देवताओं का स्वरूप भिन्न भिन्न प्रकारसे बतलाया जासकताहै। उन अनेक प्रकारोंमेंसे एक निम्नलिखित प्रकारभी होसकताहै—

१—पुरुषविध चेतन अनित्य मनुष्यदेवता— (प्रत्यक्ष)

२—पुरुषविध चेतन नित्य चान्द्रदेवता— (अप्रत्यक्ष)

३—अपुरुषविध अचेतन नित्य सौर प्राणदेवता— (,,)

४—अपुरुषविध अचेतन भूतमय देवता— (प्रत्यक्ष)

५—अभिमानीदेवता— (अप्रत्यक्ष)

६—मन्त्रदेवता— (प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष)

७—आत्मदेवता— (स्वानुभवैकगम्य)

८—कर्म्मदेवता— (०)

इस एक विभागके अतिरिक्त जो अन्य विभागहैं, यदि उन सबका यहां निरूपण कियाजाय तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बनजाय। अतः प्रकृतमें

---

१ जिज्ञासुओंको इन आठों प्रकारके देवताओंका विशद स्वरूप श्रीगुरु-प्रणीत 'देवनिरूपणाध्याय' नामके ग्रन्थमें देखना चाहिए। यह ग्रन्थरत्न अभी तक अमुद्रितहै।

सारे भेदोंका निरूपण न कर केवल उपरि निर्दिष्ट विभागमें से भी कुछ एक देवताओंका ही स्वरूप बतलाया जायगा।

"चित्रं देवानामुदगादनीकम"—इत्यादि श्रुतिएं पुराणाकाशमें प्रतिष्ठित सूर्य्यको देवघन बतलाती हैं। प्राणमय स्वयम्भू ब्रह्ममण्डलहै। आपोमय परमेष्ठी विष्णुमण्डलहै। वाङ्मय सूर्य्य इन्द्रमण्डलहै। अन्न (सोम) मय चन्द्रमा सोममण्डलहै। एवं अन्नादमयी पृथिवी अग्निमण्डलहै। इन पांच मण्डलों में जो सूर्य्यनामका इन्द्रमण्डलहै वही देवताओंका प्रभव स्थानहै। देवताओंसे ऊपरभी दो मण्डल (पर० स्वयम्भू) हैं, एवं देवताओंसे नीचे भी दो मण्डल (चन्द्रमा–पृथिवी) हैं। इस प्रकार देवघन सूर्य्यकी ब्रह्माण्ड के बीचमें सत्ता सिद्ध होजाती है। इसी अभिप्रायसे—

"बृहद्ध तस्थौ भुवनेश्वन्तः" (बृहत्सामके कारण बृहत् नामसे प्रसिद्ध सूर्य्य भूर्भुवःस्वः आदि सातों भुवनोंके बीचमें प्रतिष्ठित होगया–ऐतरेय आरण्यक) यह कहाजाताहै। बस मध्यस्थित सूर्य्यमण्डलमें व्याप्त रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, इन पांचोंसे रहित अतएव सर्वथा अधामच्छद (जगह न रोकनेवाला) जो एक नीरूपतत्व विशेषहै उसीका नाम प्राणहै। यही देवताहै। इस देवतत्वका प्रादुर्भाव इसी सौर मण्डलमें होताहै। यह

---

१ हृदयाकाश, शरीराकाश, पुराणाकाश, परमाकाश भेदसे चार प्रकार के आकाश होतेहैं। इनमेंसे जिस आकाशमें सूर्य्य रहताहै उसेही पुराणाकाश कहतेहैं। स्वयम्भूका आकाश परमाकाश कहलाताहै। पारमेष्ठ्य आकाशको पुराणाकाश कहतेहैं। परमेष्ठीके इसी पुराणाकाशके बीचमें सूर्य्य स्थितहै। पुराणों में इसी सूर्य्य ब्रह्माण्डका निरूपणहै-अतएव पुराणाकाशका निरूपण करनेके कारण यह शास्त्र 'पुराण' नामसे प्रसिद्धहै। इन सारे विषयोंका निरूपण आगे आनेवाले सृष्टिब्राह्मणोंमें कियाजायगा।

स्वज्योतिष्मान् सौरप्राण सर्वथा नित्यहै। चित्याग्निमय (मर्त्याग्निमय) सूर्य्यपिण्ड इसी अमृताग्निरूप प्राणके आधारपर प्रतिष्ठितहै। सूर्य्य इसी प्राणके आदानसे रोदसी त्रिलोकी की सारी प्रजाका अधिपति बनरहाहै अतएव इसकेलिए 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः' यह कहाजाताहै। यह सौरप्राण क्योंकि प्राणहै अतएव हम अवश्यही इसे नित्य कहनेंकेलिए तय्यारहैं। नित्य अतएव अनित्य विश्वके मूलभूत होनेंसे यह प्राण 'असत्' नामसे पुकाराजाताहै। जिस वस्तुमें प्राण रहताहै वह 'सत्' नामसे व्यवहृत होती है। प्राणको ही दम कहतेहैं। जबतक दम नहीं निकलता तबतक वह वस्तु सत्है। अन्यथा असत्है। क्योंकि प्राणके द्वारा वस्तु सत् कहलाती है।

एवं सत् स्वरूप संपादक प्राणमें 'सामान्ये सामान्याभावः' इस नियमके अनुसार प्राण नहीं रहता अतएव हम अवश्यही इस प्राणको 'असत' कहनेंकेलिए तय्यारहैं। यह असत् प्राण सूर्य्यगत चिति धर्म्मके कारण इस सूर्य्यमें आविर्भूत होताहै। अतएव हम इसे अभूतपूर्व नहीं कहसकते। जब कुछ न था तबभी यहप्राण था। इस सौर प्राणदेवताका मूल पारमेष्ठ्य पितर प्राणहै। इसकाभी मूल स्वयम्भूका ऋषिप्राणहै। विजातीय ऋषि प्राणोंके मेलसे पारमेष्ठ्य पितरप्राण उत्पन्न होताहै। एवं विजातीय पितर प्राणोंके मेलसे देवप्राण उत्पन्न होताहै जैसाकि पूर्वके अंकोंमें विस्तारके साथ बतलाया जाचुकाहै। कहना इससे हमें यही है कि यह सौर देवप्राण परम्परा सबम्बन्धसे ऋषिप्राणही है। दूसरे शब्दोंमें ऋषिप्राणकी अवस्थान्तरका ही नाम देवप्राणहै। यह देवरूप ऋषिप्राण 'असद् वा इदमग्र आसीत्, तदाहुः किंतदासीदिति ? ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। तदाहुः के ते ऋषय इति ? प्राणा वा ऋषयः'—इत्यादि श्रुतियों के अनुसार नित्य कहलानें योग्यहै। जबकि स्वयम्भूका ऋषिप्राण नित्यहै, एवं उसकी अवस्थान्तरका ही नाम सौर देवप्राणहै अतएव ऋषिवत् इस देव प्राणको भी हम अव-

श्यही नित्य कहनेके लिए तय्यारहैं। यह स्वयम्भूका ऋषिप्राण 'परोरजा' कहलाताहै। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनत्, तपः सत्यम् यह सात लोकहैं। इन सातोंमें आदिके ६ लोक रजहैं। क्योंकि ६ ओंही विचाली हैं। एवं सातवां स्वयम्भूसत्य अविचाली है, एवं शेष ६ ओंका प्रभव प्रतिष्ठा परायणहै। रजसे अतीत इसी सत्यमें 'सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं' के अनुसार ६ ओं रज बद्धहैं। ६ ओं रजोंका इसी विरजा सत्यनें अपनेमें स्तम्भन कर रक्खाहै। अर्थात् ६ ओं इसी के केन्द्रमें बद्धहै अतएव श्रुति कहती है—

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वियस्ततम्भ षळिमारजांसि अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥

(ऋक्सं० १।१६४।६)

वह तत्व रजसे अतीत यही स्वयम्भू सत्यहै। क्योंकि यह रजसे अतीत है, अतएव हम अवश्यही इस स्वयम्भूप्राणको 'परोरजा' कहनेके लिए तय्यारहैं। एवं पारमेष्ठ्य 'आप्य' सोम नामसे प्रसिद्धहै। एक पानीकी जाति का प्राणहै, एवं एक सोमजातिका प्राणहै। आगे जाकर हम आसुरप्राण निरूपणमें इसी पारमेष्ठ्य आप्यप्राण (वारुणप्राण) को आसुरप्राणका प्रभव प्रतिष्ठा परायण बतलाने वालेहैं। परमेष्ठीके नीचे सूर्य्यहैं। इसके प्राणका नाम 'ऐन्द्रप्राण' है। चान्द्रप्राणका नाम 'गन्धर्वप्राण' है। एवं पार्थिवप्राण आसुर, एवं वैश्वानर भेदसे दो भागोंमें विभक्तहैं। यह सारे प्राण उस एकही परोरजाप्राणकी अवस्थान्तर मात्रहै। अतएव प्राणमात्रको हम नित्य कहनेके लिए तय्यारहैं। सबसे नीचे दर्जेका प्राणतो पार्थिव वैश्वानरप्राण है। उसकी नित्यताका प्रत्यक्षप्रमाण लोकव्यवहारहै। जब शरीर और प्राण की हृद्ग्रन्थि टूटजाती है तो 'प्राण निकलगए' यही व्यवहार होताहै। प्राण नष्ट होगए- यह कोई नहीं कहता। 'उनका शरीर अब नहीं रहा' यही

व्यवहार होताहै। 'उनका प्राण नहीं रहा' यह कोई नहीं कहता। जब कि सभी प्राण नित्यहैं, एवं सौरदेवप्राणभी प्राणहै तो ऐसी अवस्थामें हम अवश्यही इसे 'नित्य' कहदेनेके लिये तय्यारहैं। अतएव देवता 'अजर,अमर' आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, यह पांचही विषयहैं। इन पांचोंका प्रत्यक्ष करनेवाली हमारे पास (वैदिक मतानुसार) वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, यह पांचही इन्द्रिएंहैं। एवं पूर्व कथनानुसार प्राणतत्व अनामच्छद होताहुआ इन पांचोंसे पृथक्है। अतएव हम अवश्यही इस प्राणतत्वको 'इन्द्रियातीत' अतएव प्रत्यक्षका अविषय कहनेके लिए तय्यारहैं। जैसे परोरजाप्राण वशिष्ठ, अगस्त्य, मत्स्य, कश्यपादि भेदसे १२ प्रकारकाहै, एवमेव यहदेवप्राण वसु, रुद्र, इत्यादि भेदसे ३३ प्रकारका होजाताहै। ८ वसुहैं। ११ रुद्रहैं। १२ आदित्यहैं। एवं २ अश्विनीकुमार (नासत्य एवं दस्र) हैं। इस प्रकार कुल ३३ देवता होजाते हैं। इन ३३ देवताओं की समष्टिका नाम सूर्य्यहै। ३३ सों देवता सूर्य्य संस्थामें सूर्य्यकी प्रकाशमयी रश्मियोंमें व्याप्त रहतेहैं। अतएव इसके लिए 'चित्रंदेवानामुदकात्' यह कहागयाहै। यद्यपि देवप्राण एकही था परन्तु पारमेष्ठ्य सोमाहुतिके तारतम्यसे उस एकही के घन, तरल, विरल, तीन अवस्थाएं होजाती हैं। बस घनावस्थापन्न भागको अग्नि कहने लगते हैं। तरलावस्थायुक्त भागको वायु कहने लगतेहैं। एवं विरलावस्थापन्न भागको आदित्य कहने लगते हैं। इस प्रकार एकके तीन होजाते हैं। तीनमें दो सन्धिगतप्राण और रहते हैं इस प्रकार तीनके पांच होजाते हैं। इन पांचोंमें घनाग्निके आठ अवयव होजाते हैं, यही आठ वसुहैं। तरलाग्निरूप वायुके ११ विभाग होजातेहैं, यही ११ रुद्रहैं। एवं विरलाग्निके १२ विभाग होजाते हैं। यही १२ आदित्यहैं। इस प्रकार पांच के ३३ होजाते हैं। इनमेंसे ऋग्वेदका संबंध वासवाग्निसे है। यजुर्वेदका सम्बन्ध रौद्रवायुमे है, एवं सामवेदका सम्बन्ध

आदित्यसे है। तीनों वेद इन्हीं तीनों देवताओं से आविर्भूत होते हैं। वेदत्रयीयुक्त इन तीनों देवताओंके अथवा ३३ सोंके संग्राहक ही नाम सूर्य है। अतएव इसकेलिए-"सैषा त्रयी एव विद्या तपतीति" मध्याकाशमें सूर्यरूप यह त्रयी विद्यातपरही है-श० १०।५।२।२ यह कहाजाताहै। इन ३३ सों देवताओंमें से जो विरलावस्थापन्न १२ आदित्यदेवताहैं वे १ इन्द्र, २ धाता, ३ भग, ४ पूषा, ५ मित्र, ६ वरुण, ७ अर्य्यमा, ८ अंशु, ९ विवस्वान्, १० त्वष्टा, ११ सविता, १२ विष्णु, इन नामोंसे प्रसिद्धहैं। घनावस्थापन्न ८ वसुदेवता-१ ध्रुव, २ धर, ३ सोम, ४ आप, ५ वायु, ६ अग्नि, ७ प्रत्यूष ८ प्रभास इन नामोंसे व्यवहृत होते हैं। एवं तरलावस्थापन्न ११ रुद्रदेवता, १ अजएकपात्, २ अहिर्बुध्न्य, ३ विरूपाक्ष, ४ त्वष्टा, ५ रैवत[1], ६ हर[2], ७ बहुरूप[3], ८ त्र्यम्बक[4], ९ सावित्र[5], १० जयन्त[6], ११ पिनाकी[7], इन नामोंसे पुकारे जाते हैं। यही ११ हों रुद्र वैज्ञानिक दृष्टिकोणके भेदसे १ गार्हपत्याग्नि, २ आहवनीयाग्नि, ३ विभु, ४ वन्हि, ५ प्रचेता, ६ विश्ववेदा, ७ कवि, ८ बम्भारि, ९ दुवस्वान्, १० शुन्ध्यु, नैर्ऋत्याग्नि, इननामोंसे प्रसिद्धहैं। विभु वन्हि आदि आठ रुद्र 'धिष्ण्याग्नि (नाक्षत्रिकाग्नि) कहलातेहैं। यही आठों धिष्ण्य १ प्रवाहण, २ हव्यवाहन, ३ स्वात्र, ४ तुथ, ५ उशिक्, ६ अङ्गारि, ७ अवस्यु, ८ शुन्ध्यु, इननामों से भी प्रसिद्धहैं।

१-भैरव, कपर्दी, वीरभद्र, आदिनामोंसे प्रसिद्ध।

२-नकुलीश, पिङ्गल, स्थाणु आदि नामोंसे प्रसिद्ध।

३-सेनानी, गिरिश आदि नामोंसे प्रसिद्ध।

४-भुवनेश्वर, विश्वेश्वर, सुरेश्वर, आदि नामोंसे प्रसिद्ध।

५-भूतेश, कपाली आदि नामोंसे प्रसिद्ध।

६-वृष कपि, शम्भु, सन्ध्य आदि नामोंसे प्रसिद्ध।

७-मृगव्याध, लुब्धक, शर्व, अपराजित, महातेज, पशुपति, आदि नामों से प्रसिद्ध।

इन्हीं आठोंको याज्ञिक परिभाषामें १ आग्नीध्रीय, २ होत्रीय, ३ मैत्रावरुण, ४ ब्राह्मणाच्छंसी, ५ पौत्रीय, ६ नेष्ट्रीय, ७ अच्छावाकीय, ८ मार्जालीय, इन नामोंसे व्यवहृत कियाजाताहै। इसप्रकार ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, तीनोंके संकलनसे कुल ३१ देवता होजाते हैं। इन ३१ सोंके उपक्रममें पृथिवी है, उपसंहारमें द्यौ है। इसप्रकार पृथिवी देवता, द्युदेवता, इन दोनों के सम्बन्धसे ३३ देवता होजातेहैं। इन दो देवताओं के विषयमें कई एक विकल्पहैं। कितनेंही वैज्ञानिक नासत्य, दस्र, इन दो अश्विनी कुमारोंसे ३३ की पूर्त्ति करतेहैं। यह दोनों देवता सांध्यहैं। वसु और रुद्रके बीचमें, एक देवताहै। रुद्र और आदित्यके मध्यमें एक देवताहै। संधि भाग में रहकर शेष ३१ सों को परस्पर रोहित रखना इन्ही दोनों सांध्य प्राणों का कामहै। यदि यहदोनों प्राण न होते तो वसु, रुद्र, आदित्य इनका स्वरूप स्वप्रतिष्ठामें प्रतिष्ठित कभी न रहता। यही दोनों देवता इन्हें यथास्थिति में प्रतिष्ठित रखते हैं अतएव इन्हें देवताओंका वैद्य कहाजाताहै। साथही में इतनी बात और समझलेनी चाहिए कि वैदिक आख्यान प्रायः अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवत, तीनोंमें युक्त रहतेहैं। प्रकृतिमें प्राणदेवताओं के प्राणरूप अश्वनीकुमार जैसे वैद्य हैं, एवमेव उन्हीं प्राणोंको आत्मसात् करनेवाले मनुष्य देवताओंके, अश्विनीप्राणप्रधान मनुष्यअश्विनीकुमार वैद्य थे। पतिपरायणा सुकन्याके पति च्यवन महर्षिको च्यवनप्राश द्वारा इन्हीं मनुष्य अश्विनीकुमारोंनें युवावस्था प्रदान कीथी। यह कथा ४ थे काण्ड में २१० पृष्ठमें विस्तारके साथ बतलाई गईहै। अस्तु प्रकृतमें हमें केवल यही कहनाहै कि कितनेही आचार्य इन दोनोंसे ३३ की संख्या पूरी करतेहैं। एवं कितनेंही वैज्ञानिक प्रजापति वषट्कार, इनदोनोंको मिलाकर ३३ देवता मानतेहैं।

---

१ वेदों में इतिहास नहीं है, यह कहने वालोंको इस आख्यानसे अपनी मोहनिद्रा छोड़देनी चाहिए।

कितनोंही के मतानुसार इन्द्रवषट्कार ही ३३ के पूरक हैं। इसप्रकार इन दोनोंके विषय में १ द्यावापृथ्वी, २ नासत्यदस्र, ३ प्रजापतिवषट्कार, ४ इन्द्रवषट्कार, आदि अनेक विकल्प होजाते हैं। इन विकल्पोंका क्या आधार है? इस प्रश्नका उत्तर किसी आगेके प्रकरणमें दियाजायगा। प्रसंगागत एकबात और ध्यानमें रखनी चाहिए। आजदिन ३३ करोड देवता सुने जाते हैं। वस्तुतस्तु देवताओंकी संख्या करनाही असंभव है। यदि ३३ करोड़के स्थानमें ३३ अर्बुद भी मानलिए जांय तबभी कोई आपत्ति न होगी। वसु रुद्र, आदित्यों में से केवल रुद्रकेलिएही—'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्' (जो असंख्यात रुद्र पृथिवीमें हैं यजुः संहिता) जब यह कहा जाताहै तो फिर इन देवताओंकी असंख्याततामें कोई संदेह नहीं रहजाता। इस भावको लक्ष्यमें रखकर तो हम—'देवता ३३ करोड हैं'—यह कहनेके अधिकारी अवश्य हैं। इस भावको सामने रखकर तो हम यथेच्छ संख्याको व्यवहारमें लासकते हैं। परन्तु वैज्ञानिक भावको आगे रखकर यदि हम 'देवता ३३ करोड हैं' यह कहते हैं तो हमारी भूल है। देवता ३३ कोटि शब्दके अधिकारी अवश्य हैं परन्तु '३३ करोड हैं' इन शब्दोंके अधिकारी नहीं है। शास्त्रार्थ (वादविवाद) तत्त्वको जानने वाले विद्वान् जानते होंगे कि शास्त्रार्थ करते समय वादी, प्रतिवादी की अनेक कोटिएं होती हैं। कई कोटियों में जाकर शास्त्रार्थ समाप्त होताहै। बस कोटि शब्दका जो अर्थ वहां है वही अर्थ देवताओंकी कोटिकाहै। देवताओंकी पूर्वोक्त क्रमके अनुसार ३३ कोटि है। ३३ विभाग हैं। ३३ श्रेणि हैं। ३३ जातिए हैं। बस इसका मर्म न समझकर अवैज्ञानिक लोग '३३ कोटिदेवता हैं' का अर्थ '३३ करोड देवता हैं' यह समझ बैठते हैं, जोकि वैज्ञानिकी सीमाके बहिर्भूत होनेसे सर्वथा उपेक्षणीय है। देवता अनन्त हैं। ३३ हैं। ३ हैं। १॥ है। एकही है। परमार्थमें तो एकही देवता रहजाताहै। उस एकहीकी तीन अवस्थाका नाम अग्नि, वायु,

आदित्यहै। इन ३ तीनोंकी अवस्था विशेषोंकाही नाम वसु, रुद्र, अ दित्यादि हैं। इसी देवसंख्या विभाग को लक्ष्यमें रखकर वेदमहर्षि कहतेहैं—

"अथैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ-कतिदेवा याज्ञवल्क्येति? त्रयस्त्रिशदित्योमिति होवाच। षडित्योमिति होवाच। त्रय इत्योमिति होवाच। द्वाविसोमिति होवाच। अध्यर्ध इत्योमिति होवाच। एक इत्योमिति होवाच। कतमे ते त्रयश्च त्रीच शता, त्रयश्च त्रीच सहस्रेति? स होवाच महिमान एवैषामेते—त्रयस्त्रिंशत्वेव देवाइति। कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव, एकादशरुद्राः, द्वादशादित्याः, त एकत्रिंशत्। इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति"—(श० १४ का० ६।८।१-२-३ क० इति)।

भारतवर्षमें सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक कौनसाहै? इसका निर्णय करनेके लिए औपनिषद्ज्ञानके आचार्य जनकने एकबार सारे विद्वानोंको इकट्ठा किया। एवं वहां एक विशिष्ट दक्षिणाद्रव्य रखकर विद्वानोंको संबोधित कर उन्होंने उद्घोषित किया कि जो आप सबमें सर्वश्रेष्ठ हो वह इस दक्षिणाको अपने अधिकारमें करले। उसी समय जनकके पुरोहित शतपथके द्रष्टा महर्षि याज्ञवल्क्य उठखड़े हुए, एवं उन्होंने उस दक्षिणाको अपने शिष्य मधुश्रवाद्वारा अपने अधिकारमें करली। इसपर उस सभामें बैठे हुए जरत्कारुके पुत्र आर्त्तभाग, जनकमहाराजके होता आश्वल, भुज्यु, कौषीतकीके पुत्र कहोड, चक्रायणाके पुत्र उप, अरुणाके पुत्र उद्दालक, वाचक्नवी आदि विद्वान् और विदुषियोंने याज्ञवल्क्यकी श्रेष्ठताकी परीक्षाके लिए उनसे कईएक प्रश्न किए. एवं याज्ञवल्क्यने उस सबका यथोचित समाधान किया। वहीं पर विदग्धने याज्ञवल्क्यसे देवता विषयक प्रश्न कियाथा. एवं याज्ञवल्क्यनें पूर्वोक्त समाधान कियाथा। कहना सारे प्रपञ्चसे प्रकृतमें यही है कि देवता ३३ हैं न कि ३३ करोड़। यह ३३ सों देवता पृथिवीमें भी हैं। अन्तरिक्षमें भी हैं। द्युलोक में भी हैं। पृथिवीमें ८ वसुओं की प्रधानताहै। अन्तरिक्षमें ११ रुद्रोंकी प्र-

धानताहै । एवं द्युलोकमें १२ आदित्योंकी प्रधानता है । वस्तुतः हैं सब सर्वत्र । इसी लिए तो रुद्रोंको त्रैलोक्यमें व्यापक बतलाना चरितार्थ होताहै-(देखो यजुः सं० १६अ.६४,६५,६६मं.)। जिसपर आप बैठे हैं- यह पृथिवी है। इसमें भी ३३ देवताहैं । आकाशमें जो सूर्य्य है वहभी ३३ देवताओंकी समष्टिहै । अन्तरिक्षमें भी ३३ देवताहैं । पृथिवी अग्नि प्रधानहै, उसमें ३३ देवताहैं, अतएव अग्निः सर्वदेवताः, यह कहा जाताहै । अन्तरिक्ष वायु प्रधानहै अतएव 'वायुः सर्वादेवताः' यह कहाजाताहै । एवं द्युलोक इन्द्र प्रधानहै अतएव 'इन्द्रः सर्वादेवताः' यह कहाजाताहै । इन सारे देवताओंका सोम अन्नहै । सोमकी आहुतिसे इन ३३ सों का स्वरूप बनाहुआहै, अतएव 'सोमः सर्वादेवताः' यह कहाजाताहै । यह सारा देवमण्डल अग्निसोम सम्बन्धसे यज्ञ कहलाता है । ३३ सों देवता यज्ञमयहैं, एवं यज्ञको ही विष्णु कहतेहैं, अतएव 'विष्णुः सर्वादेवताः' यह कहाजाताहै । अग्नि, वायु, इन्द्र, सोम, विष्णु यह पांच सार्वदैवसहैं । इसका तात्पर्य्य यही है कि आप पांचोंमें से किसी एक प्राण देवताको पकडलीजिए. ३३ सों प्राणदेवता आपकी पकडमे आजांयगे। इन पांचों सर्वदेवताओं में से सबसे पहिले हम आपका ध्यान- द्युस्थानीय इन्द्रदेवताकी ओर दिलाते हैं । द्युलोकस्थानीय जो प्रधान १२ आदित्यहैं उनमें से एक अन्यतम प्रधान प्राणका नाम इन्द्रहै । सूर्य्य चितपिण्डहै । इन्द्र चितेनिधेय (अमृत) प्राणहै । जैसे पृथिवी अग्निगर्भा है, एवमेव द्युलोक इन्द्रसे गर्भितहै । जैसा कि श्रुति कहती है—

'यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी'-(यजुः संहिता) ।

सूर्य्यसे निकलकर यह इन्द्रप्राण सर्वत्र व्याप्त होजाताहै । पृथिवीकी अपेक्षा सूर्य्य कईसौगुना बड़ाहै, यह प्रथमाङ्कमें बतलाया जाचुकाहै । सूर्य्य की अपेक्षा कईसौगुना छोटा इस पृथिवी का सोममण्डल (अमृताग्निमण्डल) सूर्य्यसे भी कुछ ऊपर जाताहै, ऐसी अवस्थामें पृथिवीसे कहीं विस्तृत सूर्य्य

के सामके विस्तारका तो कहना ही क्या है। अतएव सूर्यके सामको बृहत्-साम कहाजाताहै। महिमायुक्त पृथिवी लोक, अन्तरिक्ष लोक, द्युलोक, रोदसीत्रिलोकीके यह तीनों लोक सूर्यके इस बृहत्सामके पेटमें समाए रहते हैं। इस बृहत्साममण्डलमें सर्वत्र वह इन्द्रप्राण भराहुआहै। बृहत्सामका कोई भी भाग ऐसा नहीं है जहां यह इन्द्रप्राण न हो। सुतरां पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, त्रैलोक्यमें इन्द्रकी सत्ता सिद्ध होजाती है। इसी आधारपर 'नेन्द्रादृते पवने धाम किञ्चन' (ऋक्० सं० ६ ६६।६) यह कहाजाताहै। तीनों लोकोंमें व्याप्त होनेके कारणही इस सर्वव्यापक इन्द्रके वासव, मरुत्वान्, मघवा, यह तीन नाम होजाते हैं। जो इन्द्रप्राण पृथिवी में रहकर पार्थिव वसुदेवताओं से संश्लिष्ट रहताहै वह 'वासव' कहलाता है। पृथिवीके बाद दूसरा अन्तरिक्ष लोकहै। इसमें रुद्रदेवताकी प्रधानताहै। 'मरुतो रुद्रपुत्रासः' के अनुसार रुद्रको मरुत् का जनक मानाजाताहै। रश्मिरूप वज्रके सहारे वह इन्द्र ही रुद्र द्वारा इन मरुतोंका जनक होताहै। पहिले उन रुद्रोंसे सात प्रकारका मरुत (वायुविशेष) उत्पन्न होताहै। इन सातोंमें से प्रत्येकके ७-७ अवान्तर भेद होजाते हैं। इसप्रकार कुल ४९ मरुत् होजाते हैं। इन ४९ों में जो पहिला मरुत् है—उसीको विघ्नविनायक गणपति कहते हैं। एवं ४९ वां मरुत् महावीर (हनुमान) जी हैं। रामसेवक हनुमान इस ४९ वें महावीरके ही अवतारथे। इस महावीरसे सम्बन्ध रखने वाले यज्ञको ही 'प्रवर्ग्य याग, शिरशीर्षयज्ञ, महावीरोपासना' आदि नामों से पुकारा जाताहै। ४९ मरुतों का गणहै। इन सबके अधिष्ठाता पहिले मरुतहैं, अतएव इन्हें गणपति कहा जाताहै। मूषक इनका वाहन कैसे है? इन्हें विघ्नविनायक क्यों कहा जाता है? इत्यादि प्रश्नोंका समाधान करना अप्राकृत होगा। अतः इसको यहीं छोड़कर हम आपको पुनः मरुत्की ओर लेचलते हैं। रुद्र अन्तरिक्षके देवता हैं—यह प्रमपदमें ही बतलाया जाचुकाहै। रुद्रसे उत्पन्न होनेवाले ४९

प्रकारके मरुत्भी यहीं रहते हैं । इस मरुत्वायुमें एक चौथाई इन्द्रका भोग रहता है । आप यन्त्र द्वारा १०० डिग्रीके परिमाणसे मरुत्नामके वायुको पकड़लीजिए- एवं उसका विशकलन कीजिए । उसमें से आपको ८० डिग्री तो वायु मिलेगा, एवं २० डिग्री इन्द्र मिलेगा । इसप्रकार प्रत्येक मरुत्में आपको तीन भाग वायुके मिलेंगे, एवं एक भाग इन्द्रका मिलेगा । इसी विज्ञानको समझानेके लिए वेदमहर्षि कहते हैं—

'इन्द्रतुरीया ग्रहा गृह्यन्ते' इति-(इन्द्रहै चौथा जिनमें ऐसे ग्रहोंका ग्रहण कियाजाताहै, श्रुतिका यही अर्थ है) । पूर्वके प्रकरणों में बतलाया जाचुकाहै कि १ राजा, २ वाज, ३ ग्रह, ४ हवि भेदसे सोम चार प्रकारका होताहै । इन्हीं चारोंके भेदसे यज्ञभी चार प्रकारके होजाते हैं । वेही चारों यज्ञ-१ राजसूय, २ वाजपेय, ३ ग्रह, ४ हविनामसे प्रसिद्धहैं । इन चारोंमें ग्रह सोमसे सम्बन्ध रखनेवाला जो वार्षिक ग्रहयज्ञहै उसे ही 'ज्योतिष्टोम' कहा जाताहै । चौथे काण्डमें बड़े विस्तारके साथ इसी ग्रहयज्ञका सोपपत्तिक निरूपणहै । ग्रह एक प्रकारका वायुहै । स्थूल-वायु नहीं अपितु सूक्ष्म वायुहै । यह ग्रहवायु ४० प्रकारकाहैं । पृथिवीपृष्ठसे सूर्य्य तक यह ४० ग्रह अभिव्याप्तहैं । अध्यात्म, अधिदैवत, अधिभूत तीनोंका निर्म्माण इन्हीं ४० ग्रहों से होताहै । वे ४० ग्रह उपांशु, अन्तर्य्याम, उपांशुसवन, ध्रुव, दक्ष, क्रतु, माहेन्द्र, आश्विन, शुक्रामन्थी, आग्रायण आदि नामोंसे प्रसिद्धहैं । जिन्हें आधुनिकविज्ञान 'गेस' कहताहै संभवतः वही हमारा ग्रहहै । संसारमें ऐसा कोई भी कार्य्य नहीं है जो इन ग्रहोंसे न होसकताहो । आज ४० सों में से दो चार गैसोंको अधिकारमें करलेनेमात्रसे पाश्चात्य जगत सारे भूमण्डलको अपने अधिकारमें समझनेका गर्व कररहाहै । फिर ४० सों ग्रहोंको अपने हाथमें रखने वाले भारतीय ऋषि यदि 'विदितवेदितव्या वयम्' यह कहैं तो कोई अत्युक्ति नहीं है । अध्यात्मादि तीनों प्रपञ्चोंका आधारभूत यह ग्रहसोम ही उस पु-

योंकि इन्द्रका अन्न है। त्रैलोक्यव्यापक इन्द्र जहां कहीं सोम पाताहै उसे उसी समय चाटजाताहै। कपूर, स्पीट, ईथर आदिको यदि अधिक समय तक खुले स्थानमें रखदिया जाताहै तो इन्द्र इन्हें चूसजाताहै। उसी समय वायु में युक्त होते हुए यह सोममय पदार्थ वायुमें बैठे हुए इन्द्रके उदरमें चले जाते हैं। गरम दूधको आप हवामें रखदीजिए- थोडीदेरके अनन्तर दूधका सारा सारभाग (सोमभाग) निकल जायगा अतएव दूधको कभी अधिक समय तक खुलेमें नहीं रखना चाहिए। इन्द्रद्वारा निर्धीतरस यह दुग्ध वैसाही फीका होजाताहै जैसेकि पितृप्राण प्रधान गयामें घन्टे दोघन्टे रक्खाहुआ अन्न गतसार एवं फीका होजाताहै। यह सब खेल उसी इन्द्रके द्वारा होते हैं। सोमपान करना इन्द्रकी पहिली और प्रधान जीविकाहै। सचपूछो तो इसी सोमाहुतिके कारण सूर्यगत इन्द्रभाग प्रकाशका अधिष्ठाता बनाहुआहै जैसा कि प्रथमाङ्कमें विस्तारके साथ बतलाया जाचुकाहै। पूर्वोक्त ३३ सों देवता ओंमें इन्द्रदेवताही प्रधानहै, अतएव इन्हें यज्ञपति कहाजाताहै। यह ३३ सों देवता सूर्यमें भी हैं। पृथिवी में भी हैं। चन्द्रमाभी हैं। अन्तरिक्षमें भी हैं। इतनाही नहीं अपितु आप जितनेभी पदार्थ देखरहे हैं उन सबमें (चाहे वह छोटाहो या बड़ाहो) प्रत्येकमें ३३ सों देवताहैं। परन्तु इन सबका प्रभव प्रतिष्ठापरायण स्थान सूर्य ही है अतएव 'चित्रं देवानामुदगात्' इत्यादि मन्त्रश्रुतियें सूर्यकोही देवघन बतलातेहैं। परन्तु 'नेन्द्रादृ ऋते पवते धाम-किञ्चन' आदि मन्त्र श्रुतियें इन्द्रको व्यापक बतलाती हैं। एवं 'इन्द्रः सर्वा देवता' यह ब्राह्मणश्रुति इन्द्रके साथ सारे देवताओंका सम्बन्ध बतलातीहै। ऐसी अवस्थामें हम अवश्यही सर्वत्र सभी देवताओं की अभिव्याप्ति माननें के लिए तय्यारहैं। सूर्यमें प्रकट होनेवाले ३३ सों प्राणदेवता 'आजान देवता' भी कहलाते हैं। यही 'ईडेन्य' भी कहलातेहैं। इन सौर देवताओंकी पृथवीमें एवं चन्द्रमामें भी सत्ताहै यह कहा जाचुकाहै। पृथवीका जो भाग

सूर्य्यकी ओर रहताहै उतने भागमें सौर प्राणकी सत्ता रहती है। यही भाग अहः (दिन) कहलाताहै। यह पार्थिव भाग देवप्राणमय है। इस भागमें आयाहुआ जो सौरप्राण भागहै वह पृथ्वीका प्रातिस्विक (अपना निजका) भाग बनजाताहै। अतएव पृथिवी में आएहुए यह सौर देवता पृथिवीके देवता कहलानें लगतेहैं। तमोमय प्राणको असुर कहतेहैं, एवं प्रकाशमय प्राण को देवता कहतेहैं। पृथिवीका जो भाग सूर्य्यसे विरुद्ध भागमें है वह पार्थिव भाग तमोमय होनेंसे आसुरभावापन्न कहलाताहै। इसप्रकार सूर्य्यसांमुख्य, एवं सूर्य्यवैमुख्य भेदसे एकही पृथिवीमें दो प्राणोंकी सत्ता सिद्ध होजाती है।

पृथिवीका जो भाग सूर्य्यकी ओर रहताहै उस ओर अविच्छिन्न रूपसे सौर प्राणका पृथिवी के साथ सम्बन्ध रहताहै, उतनी दूरमें बीचमें कहींभी प्राणविच्छेद नहीं होता अतएव पृथिवीका यह प्रकाशित भाग 'अदिति' कहलाताहै। 'खण्डनार्थक' दो धातुसे दिति बनताहै। दिति की अभावात्मिका स्थितिका नामही अदितिहै। एवं जिस भागमें सौरप्राण कटजाताहै वही तमोमय रात्रिरूप पार्थिवभाग प्राणविच्छेदके कारण 'दिति' कहलाता है। इसप्रकार उस एकही पृथिवीके प्राणभावाभावके कारण दिति और अदिति दो भाग होजातेहैं। इसीलिए इसकेलिए 'इयं वै पृथिवी अदितिः' 'इयं वै पृथिवी दितिः' यह कहाजाताहै। पृथिवीका जो अदितिरूप प्रकाशित भागहै उसीमें सूर्य्यसे आनेवाले प्राणदेवता प्रतिष्ठित होते हैं, दुसरे शब्दों में इसी अदिति में वे गर्भधारण करण करतेहैं, अतएव अदिति को देवताओं की माता बतलाया जाताहै, जैसाकि अभियुक्त कहतेहैं—

'अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिंदम !
आदित्या वसवो रुद्राअश्विनौच परंतप ॥ इति ॥

('वाल्मीकिरामायण)

लोक, ३३ सौ देवता, सारे भूत, एवं सारे प्राणी समारहे हैं। इसी अदिति विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर वेदमहर्षि कहतेहैं—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥
(ऋग्वेद० १ म० १४ अ० ८९ सू० १० ऋ०).

इस परम वैज्ञानिक मन्त्रका विशदअर्थ आगे आनेवाले त्रैलोक्यस्वरूप प्रतिपादक ब्राह्मणोंमें कियाजायगा । यहां केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगाकि पृथिवीमें दिति और अदिति दो भागहैं । जैसे अदितिसे आदित्य पैदा होते हैं; एवमेव दितिसे दैत्य पैदा होते हैं । अर्थात् अदितिभागमें प्रकाशित देवप्राण प्रतिष्ठितहै, एवं दितिभागमें तमोमयआसुरप्राण प्रतिष्ठितहै। सौरसम्वत्सरका स्वरूप ठीक कछुए जैसाहै। निरावरण प्रान्तमें (खुलीजगहमें) खडे होकर यदि आप खगोलरूप संवत्सरचक्रके दर्शन करेंगे तो चारोंओरका आकाश भाग पृथिवीके क्षितिजसे मिलाहुआ पावेंगे । ऊपर बिलकुल गुम्मज मिलेगा नीचे सपाट भूमि मिलेगी । यह दृश्य ठीक कूर्म्म (कछुआ) जैसा होगा । बस इसीको कश्यप प्रजापति कहते हैं । संवत्सर रूप कश्यप प्रजापति इसी रूपमें परिणत होकर सारे संसारका निर्म्माण कियाकरतेहैं। संवत्सरके १२ महिने हैं । १२ महिनेही इस प्रजापतिकी दिति, अदिति, कद्रू, विनता, काला, दनू, आदि १२ स्त्रिएं हैं । अस्तु इस विषयका अधिक विवेचन करना प्रकृतसे दूर जानाहै । अतएव पाठकोंका शतपथके ७वेंकाण्डके कूर्म्म चिति आ-

---

१ दिशाको हरित कहतेहैं । क्षितिजकी उत्पत्तिका दिशासेही सम्बन्ध है अतएव वेदमें इसे 'हरिज्जन' कहाजाताहै। क्षितिज वराहमिहिरने मयासुर से सीखाहै अतएव हम इसे आसुर भाषाका शब्द कहनेके लिए तय्यारहैं । आज हमारे वेदका वही हरिज्जन निरुक्त क्रमानुसार बिगड़ते बिगड़ते पाश्चात्यभाषामें 'होराइजन' नामसे प्रसिद्ध होगयाहै ।

ह्मणकी ७।५।१ ओर ध्यान दिलाते हुए हम प्रकृतका अनुसरण करते हैं। हम कहरहेथे कि पृथिवीके एक भागमें देवताहैं, दूसरे भागमें असुरहैं। एक ओर उजालाहै, एक ओर अंधेराहै। १२ घन्टे प्रकाशका राज्यहै, १२ घन्टे अन्धकारका राज्यहै। अन्धकार निरन्तर प्रकाशपर आक्रमण करता रहता है, एवं प्रकाश अन्धकारपर निरन्तर आक्रमण करता रहताहै। पृथिवीके यह दोनों भाग संवत्सर प्रजापतिकी सन्तानहैं। सौरसंवत्सर प्रजापतिसे ही पृथिवी पैदा हुई है, एवं उसीसे तमोमय आसुरप्राण, एवं प्रकाशमय दिव्य-प्राणकी सत्ता हुई है। दोनों एकही पिताके सहोदर भाई हैं। इसप्रकार एक ही पितासे उत्पन्न होने वाले यह दोनों भाई परस्परमें सदा शत्रुता किया करते हैं। दोनोंका सहज वैरहै। परन्तु संवत्सरमण्डल देवताओंके ही अधिकारमें रहताहै, अतएव अन्तमें विजय देवताओंकी ही बतलाई जाती है। इसप्रकार इस पूर्वके प्रकरणसे 'पृथिवी में देवता और असुर दोनोंकी सत्ता है यह भलीभांति सिद्ध होजाताहै। इन दोके अलावा इस लोकमें पशुप्राण (पुरुष–अश्व–गौ–अवि–अज) की सत्ता और समझनी चाहिए। अब चलिए चन्द्रमाकी ओर। चन्द्रमामें भी इन दोनों प्राणोंकी सत्ता माननी पडती है। पृथिवीकी तरह चन्द्रमाके साथभी सौरदिव्य प्रकाशमय प्राणका संबन्ध होताहै जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। चन्द्रमाका जो प्रकाशितभाग है वह देवतामयहै, एवं अप्रकाशितभाग आसुरभावापन्नहै। इसीलिए चन्द्रमा को वृत्रासुर कहाजाताहै–(देखो शत० १ काण्ड ६।४।१९)। ज्योतिर्मय प्राणको हमने देवता कहाहै। ज्योति संसारमें तीन ही प्रकारकी है। वे तीनों ज्योतिएं १ स्वज्योति, २ परज्योति एवं ३ रूपज्योति नामोंसे प्रसिद्धहैं। इन तीनोंके अतिरिक्त एक ज्योति औरहै। वह ज्योति इन ज्योतियों की भी ज्योति है। पूर्वोक्त तीनों ज्योतिएं भूतज्योति हैं, एवं इस भूतज्योतिकी प्रतिष्ठारूप चौथी ज्योतियोंकी ज्योति ज्ञानज्योति है। रूपज्योतिको छोड-

कर पर एवं स्वज्योतिके पांच भेद होजाते हैं। दूसरोंको अपने प्रकाशसे प्रकाशित करनेवाली भूतज्योतिएं सूर्य्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत, नक्षत्र भेदसे कुल पांचहैं। इनमें सूर्य्य, विद्युत, एवं स्वाती, चित्रा, लुब्धक, अभिजित आदि कितने ही नक्षत्रोंका तो स्वज्योति में अन्तर्भावहै. एवं चन्द्रमा, अग्नि एवं सूर्य्य प्रकाशसे प्रकाशित होनेंवाले यच्चयावत नक्षत्रोंका, परज्योतिमें अन्तर्भावहै। यह रूपरोज्योतिएं उसी एक ज्ञानज्योति से चमकरही हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारा अध्यात्महै। जबतक ज्ञानघन आत्माकी सत्ता रहतीहै तभीतक सूर्य्यादि प्रकाशितहैं। ज्ञानज्योति के नष्टहुए बाद सर्वत्र घोर अन्धकारहै बस इन्हीं उभयविध (भूतज्योति—ज्ञानज्योति) ज्योतियोंका निरूपण करताहुआ वेदान्त[1] कहताहै—

न तत्रसूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमाविद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेवभान्तमनुभाति सर्व तस्यभासा सर्वमिदं विभाति—'कठोपनिषत्' ॥

प्रकृतमें हमारा सम्बन्ध केवल भूतज्योतिसे है। इस भूतज्योति के स्व, पर, रूप भेदसे तीन विभाग होजाते हैं। बस प्रकृतमें भूज्योतिस्वरूप इन्हीं तीनों ज्योतियों की और आपका ध्यान आकर्षित करते हैं। यद्यपि भूतज्योतियों में कोईभी ज्योति ऐसी नहीं है जोकि अपने आप प्रकाशित होतीहो। सभी ज्ञानज्योतिसे प्रकाशितहै। ऐसी अवस्थामें भूतज्योतिको स्वज्योति नहीं कहाजासकता। तथापि ज्ञानज्योतिकी अपेक्षा न करके हम यहां भूतज्योतिकेलिए रूप एवं परज्योतिकी अपेक्षासे स्वज्योति शब्दका व्यवहार करेंगे। जो ज्योति अपने आप प्रकाशितहै, जिसे दूसरेको प्रकाशित करनेंकेलिए किसी अन्यकी सहायता नहीं लेनीं पड़ती वह ज्योति

---

१ संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत् वेदके इन चार विभागोंमें उपनिषत् अन्तमें पडताहै अतएव वेदान्त दर्शनादि में उपनिषदों को 'वेदान्त' शब्दसे व्यवहृत कियागयाहै।

स्वज्योति कहलाती है। अन्यज्योतिसे ज्योतिष्मयी बनकर दूसरोंको प्रकाशित करनेवाली ज्योति परज्योति कहलाती है। एवं अपने रूपमात्रसे प्रकाशित होनेवाली ज्योति रूपज्योतिहै। बस इस ज्योतित्रय के भेदसे संसारमें पदार्थभी कुल तीनहीं प्रकारकेहैं। एक चौथी अज्योति और है। यदि उसे भी इनमें शामिल करदियाजाताहै तो चार प्रकारके पदार्थ होजाते हैं। इन चारोंमें से दृष्टिविषय होनेसे तीनही ज्योतिएं प्रधानहैं। स्वज्योतिष्मान् जितनेंभी पदार्थहैं उन्हें वैज्ञानिक परिभाषामें सूर्य्य कहाजाताहै। परज्योतिष्मान् पदार्थोंको चन्द्रमा कहाजाताहै, एवं रूपज्योतिष्मान् यच्चयावत्पदार्थों को पृथिवी कहाजाताहै। जिन्हें सर्व साधारण सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी समझते हैं, केवल वेही चन्द्रमा सूर्य्य और पृथिवी नहीं है। अपितु ऐसे ऐसे, इतनाही नहीं अपितु इससे भी अधिक प्रभाव रखनेंवाले अनन्त सूर्य्यहैं। अनन्त चन्द्रमा हैं, एवं अनन्त पृथिविएं हैं। स्वज्योतिर्म्मय स्वाती, लुब्धक, बृहस्पति, अभिजित्, श्रमण, पुष्य, चित्रा, आदि सारे नक्षत्र इसी पूर्व परिभाषाके अनुसार सूर्य्यहैं। इसीलिए स्वाती नक्षत्रको वेदमें 'सविता' नामसे व्यवहृत कियाजाताहै। 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्' (यजुः सं० ११ अ० २८मं०) इत्यादि मन्त्रमें सवितासे स्वाती नक्षत्रही अभिप्रेतहै, जैसाकि आनेवाले ब्राह्मणों में जाकर स्पष्ट होजायगा। जिसे आप सूर्य्य कहते हैं वहभी स्वज्योतिर्म्मयहै, अतएव वहभी एक सूर्य्यहै, किन्तु सूर्य्य एकमात्र वही है-यह कदापि नहीं है। ऐसे ऐसे सूर्य्योंको क्षणमात्रमें बाष्प बनाकर उडादेनें वाले अनेक सूर्य्य मौजूदहैं, एवं उन्हें हम आंखोंसे देखते हैं। सारे नक्षत्रोंके प्राणोंसे युक्त अतएव पशुपति नामसे प्रसिद्ध भग-

---

१ यह बृहस्पति लुब्धकबन्धु नामसे प्रसिद्धहै। यह बृहस्पति से वा लुब्धक बन्धुनामका बृहस्पति भिन्नहै। 'स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु' यही बृहस्पति लुब्धक बन्धु अभिप्रेत है।

मान् लुब्धकको कौन नहीं जानता। यह लुब्धक स्वज्योतिर्म्मय है, एवं सूर्य्यसे बहुत ऊंचा है, एवं आकारमें बहुत बड़ा है। यह नक्षत्र नीलवर्णका है अतएव ११ नाक्षत्रिक रुद्रोंमें से यह लुब्धक नामका रुद्र 'नीलकण्ठमहादेव' नामसे प्रसिद्ध है। जिस वस्तुको सूर्य्य २४ घन्टेमें पिघलाता है, लुब्धक उसे क्षणमात्रमें भस्मसात् करनेकी शक्ति रखता है। जिस सूर्य्यपर हम घमन्ड करते हैं वह यदि लुब्धकके पास चलाजाय, अथवा दुर्दैववश लुब्धक सूर्य्य के पास आधमकेतो सूर्य्य उसी क्षण भाप बनकर गायब होजाय। एक लुब्धकही क्या, ऐसे ऐसे स्वज्योतिर्म्मय कितनेही नक्षत्र हैं, एवं वे सब सूर्य्य हैं। यह सूर्य्य किसी दूसरी ज्योतिसे प्रकाशित नहीं है, अपितु अपनी ज्योतिसे ज्योतिष्मान् बनकर इन सूर्य्योंने स्वप्रकाशसे संसारको प्रकाशित कररक्खा है, अतएव हम अवश्यही सूर्य्यको स्वज्योतिर्म्मय कहनेकेलिए तय्यार हैं। स्वज्योतिर्म्मय होनेसे ही सूर्य्यमें अंधकारको घुसनेका मौका नहीं मिलता। स्वज्योति के कारण सूर्य्य सर्वावयव व्याप्त्या (सबओरसे) प्रकाशित रहता है। इसका कोईभी भाग अप्रकाशित नहीं रहता। इसीलिए इसमें केवल देवताओंका ही निवास बतलाया जाता है। परज्योतिर्म्मय चन्द्रमा, एवं रूपज्योतिर्म्मयी पृथिवी दोनोंमें देवता और असुर दोनोंकी सत्ता है जैसाकि आगे बतलानेवाले हैं, परन्तु सूर्य्यमें सिवाय देवताओंके असुरोंका नामनिशानभी नहीं है। अतितीव्र सर्वतोविसारि सौर तेजके सामने आसुर प्राणको रहने का मौकाही नहीं मिलता। जब आसुर प्राणकी सत्ताही नहीं है तो फिर ऐसी अवस्थामें इन्द्रप्रधान सौर प्राणदेवताओं का असुरोंके साथ युद्ध होना कैसे संभव होसकता है। इन्द्र प्रधान देवताओंमें तमोमय आसुर प्राणका क्योंकि सर्वथा अभाव है अतएव सौर इन्द्रादि देवताओं के साथ न कभी असुरोंका युद्ध हुआथा, न होरहा है, न होगा। बस इसी सौर देव प्राण विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर वेदमहर्षि कहते हैं-

न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्नते॒ऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति ।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहु र्नाद्य शत्रुं नपुरा युयुत्से ॥

(शतपथ ११ काण्ड ६ ब्रा० १० कं०) इति ।

हे इन्द्र आपने आजतक किसीके साथ युद्ध करनेकी इच्छा नहीं की है, क्योंकि आपका शत्रु ही नहीं है। जो लोग आपके साथ 'इन्द्र और वृत्रासुरमें परस्पर घनघोर लड़ाई हुईथी' इत्यादि रूपसे युद्धका सम्बन्ध बतलाते हैं, वह केवल मायामात्रहै, दिखावटी बातें हैं। वस्तुतः न आपका कोई शत्रु पहिले था न आजहै। जब शत्रुही नहीं तो युद्ध कैसा"। बस मन्त्रका यही तात्पर्य है। यह मन्त्र उसी सौरइन्द्रको लक्ष्यमें रखताहै। इसका प्रयत्नप्रमाण मन्त्रगत 'मघवन्' शब्दहै। मघवा नाम सौरइन्द्रका ही है यह पूर्वमें बतलाया जाचुकाहै। सबका सार यही हुआकि सूर्य स्वज्योतिहै, अतएव इस में तमोमय आसुर प्राणका सर्वथा अभावहै। सूर्यमें केवल देवताओंका ही राज्यहै।

दूसरी है परज्योति। सूर्यज्योतिसे प्रकाशित होनेवाले जो पदार्थ हैं वे सब परज्योतिर्म्मयहैं। अतएव वे सब पूर्वोक्त परिभाषानुसार चन्द्रमा नाम से प्रसिद्धहैं। पृथिवीके चारों ओर एक चन्द्रमा घूमताहै। मंगल ग्रहमें दो चन्द्रमाहैं। बृहस्पतिमें चार चन्द्रमाहैं, एवं सबसे अन्तवाले शनिग्रहमें आठ चन्द्रमाहैं। जो जो उपग्रह सूर्यसे जितने जितने अधिक दूरहैं उनके अन्धकारको दूर करनेके लिए उन उनमें उतनेही अधिक चन्द्रमाहैं, क्योंकि उत्तरोत्तर सूर्यका प्रकाश कम होताजाताहै अएतव वहां अधिक प्रकाशकी आवश्यकता होती है। आकाशविहारी चन्द्रमा साक्षात् 'कृष्णचन्द्र' है। इसमें जो आपको प्रकाश दिखलाई देरहाहै वह सूर्यका प्रकाशहै। सौरप्रकाशसे ही चन्द्रमा प्रकाशित होरहाहै—(देखो ऋग्वेद १मं० १३ अ० ८४सू० इति)। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर ज्योतिर्वित् भट्ट कमलाकर कहते हैं—

तरणिकिरणसङ्गादेषपामीथपिण्डो—
दिनकरदिशि चञ्चचन्द्रिकाभिश्चकास्ति ॥
तदितरदिशि नैव सर्वदा शीतभानु—
र्घट इव निजमूर्त्तिच्छाययैवातपस्थः ॥ १ ॥ इति ।

(सिद्धान्ततत्त्वविवेक चन्द्रग्रहणाधिकार ४ श्लो०)

'जितनेभी परज्योतिर्म्मय पदार्थहैं उन सबका एव भाग प्रकाशित रह-ताहै, एवं एक भाग अन्धकारमे आच्छादित रहताहै'। पूर्वके वचनसे यहभी सिद्ध होजाताहै। एवं साथही में परज्योतिष्मान पदार्थोंमें देवता और असुर दोनों प्राणोंकी सत्ताभी सिद्ध होजाती है।

बाकी बचती है 'रूपज्योति'। स्वज्योतिर्म्मय सूर्य्य जैसे अन्य पदार्थों को प्रकाशित करताहै, एवं परज्योतिर्म्मय चन्द्रमा जैसे रात्रिके अन्धकार को आवृत करनेका प्रभाव रखताहै, वैसा प्रभाव जिस ज्योतिमें न हो, अपि तु दूसरोंको प्रकाशित न करती हुई जो ज्योति केवल अपने रूपमात्रको प्रका-शित करती है बस उसीका नाम 'रूपज्योति' है। पृथिवी आदिका रूपमात्र ही हमें दीखता है। सूर्य्य चन्द्रमा जैसे अन्योंको प्रकाशित करते हैं वैसे पृथि-वी अन्य पदार्थोंको प्रकाशित करनेमें असमर्थ है, अपितु यह अपने रूपमात्र से केवल आपही प्रकाशित होरही है। इसका यह रूपप्रकाश भी उसी सूर्य्य द्वारा होताहै। पृथिवीकी बिन्दु बिन्दु पर सौररश्मियोंका सम्बन्ध होताहै। पृथिवीपर आकर इन रश्मियोंका पार्थिवाकाराकारित होकर प्रतिफलन होता है। बस पृथिवी के आकारसे युक्त सौररश्मिएं ही हमारे नेत्रपटलपर आकर पृथिवीरूपके प्रत्यक्षका कारण बनती हैं। अतएव एकतरहसे हम इस रूप-ज्योतिका भी परज्योतिमें ही अन्तर्भाव करसकते हैं, परन्तु चन्द्रमाके समान इसमें से प्रकाश नहीं निकलता अतएव इसे परज्योतिसे पृथक् करदिया

जाताहै। जैसे सौरप्राणसे सम्बद्ध होनेवाला चान्द्रभाग प्रकाशित रहताहै, एवं विरुद्धभाग अप्रकाशित रहताहै, एवमेव पृथिवीके जिस भागमें सौरप्राण का सम्बन्ध होताहै पृथिवीका वही भाग रूपज्योतिर्म्मय होताहै। अर्थात् वही प्रत्यक्षका विषय बनताहै, एवं विरुद्धभाग तमसे आक्रान्त रहताहै। इस प्रकार चन्द्रमाकी तरह रूपज्योतिर्म्मयी पृथिवीमें भी देवता और असुर दोनों प्राजापत्यों की सत्ता सिद्ध होजाती है। एवं स्वज्योतिर्म्मय सूर्य्यमें केवल देवताओंकी सत्ता सिद्ध होजाती है। अतएव जहां कहीं वेदमें देवासुर संग्रामका निरूपणहो वहां सर्वत्र सौरदिव्यप्राणदेवताओं को पृथक् करदेना चाहिए, एवं वहां वहां सर्वत्र पार्थिव, एवं चान्द्र (जैसा प्रकरणहो) देवासुर का ही ग्रहण समझना चाहिए। सारे प्रपञ्चका निष्कर्ष यही हुआकि सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी आदिमें व्याप्त जो नित्यप्राणहै, वह निराकार होने से अप्रत्यक्षहै, एवं प्राणरूप होनेसे नित्यहै। आठ प्रकारके देवताओं में से जो तीसरे अपुरुषविध नित्यप्राण देवताहैं उनका यही सूक्ष्म निरूपण है।

यद्यपि क्रमानुसार हमें पहिले मनुष्यदेवताओंका ही स्वरूप बतलाना चाहिए था परन्तु 'मनुष्यदेवताओं का आधारप्रकृतिहै, प्राकृतिक सौरप्राणदेवताओंके आधारपरही मनुष्यदेवताओंका देवतापना निर्भरहै' अतएव जबतक प्राकृतिक नित्यदेवताओं का स्वरूप न समझलियाजाय तबतक तत् प्रतिकृतिक मनुष्यदेवताओंका स्वरूप समझमें नहीं आसकता, बस इसी लिए क्रमका व्यतिक्रम करके पहिले हमें प्राणदेवताओंका स्वरूप बतलाना पड़ा। अब क्रमप्राप्त मनुष्यदेवताओंकी ओर हम अपने वेदप्रेमी पाठकोंका ध्यान आकर्षित करतेहैं। आज जिस प्रकरणको हम प्रारम्भ करना चाहते हैं, वह बड़ाही जटिलहै। हमारी बातें सुनकर संभवहै सनातनधर्म्मी जगत् हमपर बिगड़पड़े। परन्तु इसकी हमें चिन्ता नहीं है। शास्त्रोंके आधारपर

जैसा हमने समझाहै, वैसा निरूपण करने में हम 'सबकी रक्षा' समझते हैं। आज जिन मनुष्यदेवताओंका हम स्वरूप बतलानेवालेहैं उनका वैदिक इतिहाससे सम्बन्धहै। क्या आर्यसमाजी, एवं क्या सनातनधर्म्मी दोनों ही वेदमें इतिहास नहीं मानते। उनका कहनाहै कि यदि वेदमें इतिहास मान लियाजायगा तो वेदकी अपौरुषेयता, अथवा वेदका ईश्वरकर्तृत्व नष्ट होजायगा। मनुष्योंके चरित्र आगामी हैं। वेदमें उनका उल्लेख तभी सिद्ध होसकताहै जबकि उन्हें मनुष्यकृत मानलिएजांय। अतएव वैदिक शब्दों को (जोकि इतिहासके भ्रममें डालते हैं) पदार्थोंका वाचकही मानना चाहिए।' इसप्रकार 'बबरप्रावाहणिरकामयत' आदि आदि दोचार उदाहरणोंका घन्टा-घोष करते हुए यह महानुभाव, और महाशय वेदोंमें इतिहास नहीं मानते। इसपर हमारा यही कहनाहै कि यदि आनेवाले मनुष्य चरित्रके वर्णन करने सेही वेदका ईश्वरकर्तृत्व माराजाताहै तब तो मनुष्यचरित्रका सम्बन्ध न मानने परभी आप वेदकी अपौरुषेयता सिद्ध नहीं करसकते। क्योंकि अनादि ईश्वरज्ञानके लिए तो सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, ग्रह, नक्षत्र, पर्वत, नद, नदी, समुद्र, औषधि, वनस्पति आदि सभी आगामी हैं। सब ईश्वरज्ञान के बाद पैदा होनेवाले हैं। क्या इन भविष्यदर्थोंका निरूपण वेदमें नहीं है। यदि है तो फिर वेद इन आगामी पदार्थोंके निरूपणसे अपौरुषेय कैसे रहा? यदि इनके निरूपण रहने परभी वेदकी अपौरुषेयता अक्षुण्णहै तो फिर मनुष्य चरित्रोंसे ही अपौरुषेयतामें कौन बाधा उपस्थित होती है। वेद ज्ञान सर्वज्ञहै। भूत भविष्य वर्त्तमान तीनों स्थितियोंका निरूपण उसमें है। अस्तु, इस विवादग्रस्त विषयका निर्णय फिर किसी आगेके ब्राह्मणमें किया जायगा। यहां पर हमें केवल इतनाही कहनाहै कि वेदोंमें अवश्यही इतिहास है। मनुष्यदेवताओंका इतिहाससे सम्बन्धहै। अतएव हम सबसे पहिले आपके सामने थोडासा वैदिक इतिहासका आदर्श (नमूना) सामनें रखते हैं—

हमारे विज्ञानशास्त्रका यह एक ध्रुव सिद्धान्तहै कि जो वस्तु आधिदैविकमण्डलमें होतीहैं, वेकी वेही कुछ स्वरूपान्तरमें परिणत होतीहुई अध्यात्म और अधिभूतमें प्रतिष्ठित रहती हैं। जिस वस्तुका अधिदैवतमें अभावहै—अध्यात्म और अधिभूत दोनों में उसकी सत्ता नहीं मिलसकती। आधिभौतिक जगत्का निर्म्माण अधिदैवतसे होताहै, एवं आधिभूत और अधिभूत दोनोंसे अध्यात्म जगत्का निर्म्माण होताहै। इसी आधारपर—'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' 'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह' इत्यादि कहाजाताहै जैसाकि पूर्वमें विस्तार के साथ बतलाया जाचुकाहै। अध्यात्म, आधिभूत अधिदैवत तीनों विभागों में से प्रकृतमें हमारा सम्बन्ध अधिभूत और अधिदैवत इन विभागों के साथ है। क्योंकि अधिभूत अधिदैवत जन्य है अतएव आधिभौतिक प्रपञ्चको जाननेके लिए इससे पहिले (अधि भूतसे पहिले) अधिदैवतका जानना परम आवश्यक होजाताहै। बस इसीलिए हमने क्रमका उल्लंघन करके पहिले अधिदैवत का स्वरूप बतलायाहै। अधिभूतमें भी सबसे पहिले देवताओंका ही स्वरूप बतलाना अभिष्टथा अतएव अधिदैवतके देवताओंका ही स्वरूप बतलायागयाहै। देवताओंके अतिरिक्त पितर, असुर, गन्धर्व, आदि का स्वरूप जानना बाकी बचजाताहै। इनमेंसे असुरोंका स्वरूपतो देवताओंके निरूपणके अनन्तरही बतलादियाजायगा, एवं शेष प्राणों का समय समय पर प्रकरणानुसार स्वरूप बतलायाजायगा। हमारे प्रकृत प्रकरणके देवता और असुर दोही देवता निरूपणीय होंगे। आज जिन अधिभूत देवताओंका स्वरूप हम आपके सामने रखना चाहतेहैं वे मनुष्य देवताथे। जैसे प्रकृतिमण्डलमें प्राणदेवताहैं, एवमेव अधिभूतमें भी देवताहैं। "हैं" कहना अनुचितहोगा। 'देवताथे' यह समझना उचित होगा। आज अधिभूतदेवताओंका इस भूमण्डलमें सर्वथा अभावहै। कारणविशेषोंसे जिनका कि थोडे अक्षरोंमें आगे निरूपण कियाजायगा सारे भौमदेवता आज इस

पृथिवीसे नष्ट होचुकेहैं। जिसे आप 'पृथिवी' कहतेहैं किसी समयमें केवल इसी पृथिवी में त्रैलोक्य व्यवस्थायी। पृथिवी (भू), अन्तरिक्ष (भुवः), एवं द्यौ (स्वः) तीनोंलोक इसी पृथिवी लोकमेंथे। जैसे प्रकृतिके त्रैलोक्य व्यवस्थायी तदनुसार उसीकी नकलपर यहांभी त्रैलोक्य व्यवस्थाथी। यह व्यवस्था कबसे चली? क्यों चली? कहां चली? कबतक चली? कैसे चली? इस व्यवस्थाकी प्रामाणिकता क्याहै? इत्यादि प्रश्नोंका समाधान करना प्रकृतसे एकान्ततः दूर जाना है। आगे आने वाले आख्यान उपाख्यानोंमें समय समय पर हम इन सारे प्रश्नोंपर प्रकाश डालनेका प्रयास करेंगे। प्रकरण संगतिके लिए अभी इस विषयमें केवल थोडे शब्दों में इनका स्वरूप बतलानेंकी चेष्टा करतेहैं। इस विषयको प्रारम्भकरें इसके पहिले हम अपने वेदप्रेमी पाठकोंकी सेवामें इतना और निवेदन करदेना चाहतेहैं कि आप इसविषयको आद्योपान्त पढ़कर ही इसके सत्यासत्यनिर्णय करनेंकी कृपाकरें। वेदज्ञान प्रचारके विलुप्तप्राय होनेसे आज सभी भारतीय संप्रदाएं हमारे विचारसे असलियतसे दूर हटीहुई हैं। क्या सनातनधर्म्मी, क्या आर्यसमाजी सभीकी दृष्टिमें वेद अपौरुषेयहै। ईश्वरकृतहै। नित्यहै। अतएव अनादिहै। अतएव इनके विचारसे वेदोंमें इतिहास नहीं है। 'बबरप्रावाहणिरकामयत' इत्यादि स्थलों में आनेवाले प्रवाहण के पुत्र बबरको 'वायु' परकलगाकर ये महानुभाव वेदको ऐतिहासिक मर्य्यादासे दूरलेगएहैं। हम स्वयं सनातनधर्मके सेवक होनेका गर्व रखते हैं। एवं साथही में आर्यसमाजके हिन्दुत्वप्रेम, विधर्मियोंके आक्रमणोंसे समाजकी रक्षाकरनेका, संघठन आदि आदि कितनेएक स्तुत्य कार्य्योंका अभिनन्दन करतेहैं। हमभी वेदोंको अपौरुषेयही मानतेहैं। हमभी वेदोंकी नित्यताके अनुयायी हैं। यह सबकुछ होतेहुए भी हम 'वेदमें इतिहास नहीं है' यह अक्षर सुननेंकेलिए कदापि तय्यार नहीं हैं। हमारातो यहांतक विश्वासहै कि वेदों में इतिहास न मानने

के कारणही, आज भारतवर्ष अपने सच्चे गौरवसे सदाके लिए हाथधोबैठाहै। अतएव भारतकी विलुप्तप्राय सभ्यताके पुनरुज्जीवनके लिए वेदोदधिमें अनन्तकालसे निमग्न इतिहास रत्नका उज्जीवन करनाहोगा। उसके आधारपर संसारको भारतवर्षके महिमाशाली अतीतगौरवका स्मरण करनाहोगा, एवं उसके द्वारा एकबार भारतवर्षमें पुनः इस जगद्गुरुका साम्राज्य स्थापित करनाहोगा। ऐसाकरनेमें ही भारतका कल्याणहै। 'हमारे सिद्धान्तके अनुसार वेदोंमें इतिहास नहींहै' इस प्रतिनिवेशमूलक कल्पित सिद्धान्त के दुराग्रहमें पड़कर किसी नए विचारको सुननेकेलिए भी तय्यार न होना सत्योपासक के लिए लज्जाकी बातहै। हम मनुष्यहैं। असत्यसंहित हम मनुष्यों के सिद्धान्त मिथ्याभी होसकतेहैं। बस इसी एक सुसिद्धान्त को सामने रखतेहुए हमें सबके विचार सुनने चाहिए, एवं उन्हें शास्त्रकी कसौटीपर कसना चाहिए। अनन्तर जो सिद्धान्त इस कसौटीपर खरा उतरे उसे अपनाना चाहिए। जैसे विशेष परिस्थितियों के लिए हमारे शास्त्रोंका 'तर्काप्रतिष्ठानात्'। शास्त्रीय विचारों में कुत्सित एवं अप्रासंगिक तर्कोंका कोई मूल्य नहीं है—यह सिद्धान्तहै, वैसेही शास्त्रीय आदेशोंके विषयमें हमारे ही शास्त्रों का—

> आर्षं धर्म्मोपदेशंच वेदशास्त्राऽविरोधिना।
> यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म्मं वेद नेतरः॥ मनुः १२।१०६ इति॥

यहभीतो घन्टाघोषहै। 'जिस धर्म्म वचनको तर्ककी कसौटीपर कसलिया जाताहै, वही धर्म्म धर्म्म है, अन्धविश्वाससे मानागया धर्म्म अधर्म्म है' यह सिद्धान्तभी तो हमाराही है। फिर क्यों न हम उसके अनुसार चलनेकेलिए तय्यारहों। बस इसी सिद्धान्तको सामने रखतेहुए हम आपके सामने यह ऐतिहासिक प्रकरण रखनेकी धृष्टता करते हैं। जिसकामत ता-

स्सुब(हठधर्म्मी)की बुनियादपर खड़ाहै. वे जैसे दलील करनेवाले इन्सानको काफिर(नास्तिक बतलाकर 'कुफ्र'का फतवा(नास्तिककी उपाधि) देते हैं. पूर्वोक्त मनुसिद्धान्तको अपनानेवाले आपलोगोंका मार्ग 'कुफ्रमार्ग'का अनुगमन करनेवाला नहीं होना चाहिए। हम जो कुछ कहेंगे प्रमाणपुरःसर कहेंगे। युक्तसंगत कहेंगे। यदि हमारे बतलाएहुए प्रमाण, एवं युक्तिएं आपको थोथी प्रतीत होंतो आप हमें भविष्यकेलिए सचेत करें। हम इस चेतावनी के लिए आप के आभारी होंगे। अन्यथा 'शेषं कोपेन पूरयेत्' मात्रसे हमनें जन्मसेही डरना नहीं सीखा। ऐसी अवस्थामें तो हम केवल पण्डितराजकी—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्तु ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्म्मा कालोऽह्ययं निरवधि विपुलाच पृथिवी॥

इस सूक्तिको आपके सामने रखतेहुए अपने कर्तव्यपर औरभी अधिक दृढ़ताके साथ आगे बढ़नेकी चेष्टा करेंगे।

अति पुरातनकालमें जबकि यह भूमण्डल धन धान्यसे पूर्णथा, जिस समयमें विश्वहितैषी राजनीतिज्ञों का आधिपत्यथा, उस समय इस धरातलपर प्रधानरूपसे विज्ञान प्रधान 'साध्य' जतिका आधिपत्यथा। जैसे आज इस भारतवर्षमें सामाजिक व्यवस्थाका आधारस्तम्भ ज्ञान, क्रिया, अर्थादि भेदमूलक जन्मकर्म्म दोनोंका सहारालेकर अपनी स्वरूप सत्ता प्रतिष्ठित रखनेवाला ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र भेद भिन्न चातुर्वर्ण्य विभाग व्यवस्थितहै, वैसेही उस पुरातन युगमें भी समाज व्यवस्थापकों नें मनुष्य समुदायका चार जातियें में विभक्त कररक्खाथा। दूसरे शब्दोंमें प्रचलित वर्णव्यवस्थाही कुछ हेरफेर के साथ उस समयभी प्रचलितथी। जिस ज्ञान क्रियादि प्राकृतिक प्रपञ्चको आधार मानकर आजकी व्यवस्थाएं प्रचलितहैं, उससमयकी व्यवस्थाका मूलस्तम्भ भी वहीथा। वे चारों

जातिएं उससमय १ साध्य, २ महाराजिक, ३ आभास्वर, एवं ४ तुषित इन नामोंसे प्रसिद्ध थीं। मस्तिष्क से सम्बन्ध रखनेवाली ज्ञानज्योतिकी प्रधानरूपसे उपासनाकर संसारमें ज्ञानका प्रसार करनेवाली साध्य जातिथी। शस्त्रद्वारा समाजकी रक्षा करनेवाली बाहुबल प्रधाना महाराजिक जाति थी। कृषि, गोपालन एवं वाणिज्यसे देशका अर्थ संकट दूर करनेवाली उदर प्रधाना आभास्वर जातिथी। एवं सेवाधर्मकी अनुयायिनी पादप्रधाना तुषित जातिथी। दूसरे शब्दोंमें विज्ञान प्रधान साध्य ब्राह्मणथे। क्रिया प्रधान महाराजिक क्षत्रियथे। अर्थ प्रधान आभास्वर वैश्यथे। एवं सेवा-धर्म प्रधान तुषित शूद्रथे। इन व्यवस्थाओं के कारण जिनकाकि समाज का सुचारु रूपसे संचालन करनेके लिए होना आवश्यक है उससमय सर्वत्र समृद्धानन्दका[१] पूर्ण साम्राज्यथा। इसप्रकार ऐहलोकिक सुखकेलिए जो अपेक्षित होताहै, उससमय वह सबकुछथा। परन्तु उत्तमोत्तम भोज्यपदार्थोंके रहनेपरभी जैसे बिना रसके (नमकके) सारे भोज्य पदार्थ नीरस रहतेहैं एवमेव बिना ब्रह्मसत्ताके तत्कालीन समाज वास्तविक आनन्दसे (शान्तानन्दसे) दूर होनेके कारण बाहरी विभूतियोंसे सुखमय होताहुआभी परमार्थतः दुःखमयही था। एक ब्रह्मसत्ताके अभावसेही उससमय केवल साध्य जातिही १० विभागों में विभक्तथी जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा।

"असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेदचेत्" (तै० उपनिषत् २ व० ६ अ०)

---

१ समृद्धानन्द, शान्तानन्द भेदसे आनन्द दो प्रकारका होताहै। सांसारिक आनन्द (विषयानन्द) को समृद्धानन्द कहतेहैं, एवं आत्मानन्दको शान्तानन्द कहतेहैं। ब्रह्मसत्ताके अज्ञानके कारण उस समय केवल समृद्धानन्द कीही सत्ताथी। इनदोनों आनन्दोंका विशद स्वरूप श्री गुरुप्रणीत 'संशय तदुच्छेदवाद' नामक ग्रन्थके 'सच्चिदानन्द खण्ड' प्रकरणमें देखना चाहिए। यहग्रन्थ मुद्रित होचुकाहै।

"जो ब्रह्मसत्ताको नहीं मानता, 'अस्ति' (है) तत्त्वकी उपासना नहीं करता, वह स्वयं असतही है। अर्थात ब्रह्मको नमानकर केवल 'नास्ति' मूलक असद्‌वादका अनुगमन करने वाला स्वयं नास्ति है। वह स्वयं कुछ नहीं है" इस श्रौत सिद्धान्तके अनुसार जिसके बिना कुछ नहीं उस ब्रह्म सत्तासे दूररहनेंके कारण वह समुदाय सब कुछ रखतेहुएभी कुछ न था। अर्थ एवं क्रिया सदा ज्ञानशक्ति के आधारपर ही प्रतिष्ठित रहतीहैं। उससमय ज्ञानप्रधाना साध्यजाति क्योंकि क्षणिक जगत्‌को अपनेऊपर प्रतिष्ठित रखनेवाले अखण्ड नित्य व्यापक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मतत्त्वकी सत्ता स्वीकार नहीं करतीथी, यही कारणथाकि इस साध्य जातिके इशारेपर चलनेवाली शेष तीनोंजातिएं भी पूर्णरूपसे उस 'नास्ति' तत्त्वकीही अनुयायिनी बन- रहींथीं। उससाध्यजातिनें अपने बुद्धिबलसे नए नए अद्‌भुत २ आविष्कारकर उस समाजको दिखलादियाथा कि विज्ञान एक ऐसी वस्तुहै जिससे मनुष्य 'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तु' समर्थ होसकताहै। इसजातिका कहनाथाकि जब हम अपने विज्ञानबलसे नया भूमण्डल पैदा करसकतेहैं, नया सूर्य्य बनासकतेहैं, नया आसमान बनासकतेहैं, कहांतककहैं। जो कुछ हम प्रकृतिमण्डलमें देख- रहेहैं विज्ञानद्वारा वह सबकुछ हमभी बनासकते हैं तो फिर ऐसी अवस्थामें असत् से भिन्न एक सत् नित्य तत्त्वको माननेंकी कोई आवश्यकता नहीं रह- जाती। इसप्रकार जैसे बीसवीं सदी का पाश्चात्यजगत् अपने विज्ञानके गर्व में आकर (जिनकाकि विज्ञान उस समयकी विज्ञान राशिका पासंगभी नहीं है) ब्रह्मतत्त्वसे पिछड़ाहुआहै, ठीक वही दशा हमारी इस साध्य जातिकी थी। उस एकतत्त्वको न मानने के कारणही उस जातिमें नाना मत प्रच-

---

१ यद्यपि निरन्तर वेदोंका रिसर्च (अभ्यास) करनेके कारण कितनही पाश्चात्य विद्वान् क्षणिक जगतसे भिन्न एक नित्यतत्त्वको (ईश्वरको) माननें लगेहैं, परन्तु आधुनिकशिक्षित लोग इस तत्त्वसे अभी पीछेही हटेहुए हैं।

ञित होगयेथे। पानीसे, आकाशसे, असद्से, आवरणसे, रजसे, अमृतमृत्युसे, अहोरात्रसे, आदि आदिसे सृष्टी होती है, यह उनका सिद्धान्तथा। इन सबमें परस्पर मतभेदथा। वेही मत ऋग्वेद में अम्भोवाद, व्योमवाद, असद्वाद, सदसद्वाद, आवरणवाद, रजोवाद, अमृतमृत्युवाद, अहोरात्रवाद आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेदके नासदीय सूक्तमें (मं. १० सू. १२९) इनसारे मतोंका उल्लेखहै। १० सोंही मत इतने दृढ़ धरातलपर प्रतिष्ठितथे कि उन्हें कदापि अपनी प्रतिष्ठासे च्युत नहीं किया जासकताथा। सभी में पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं। सभी अनुकूल युक्तियोंके ऊपर प्रतिष्ठित हैं। इसीलिए उससमय १० सोंही पूर्णरूपसे प्रचलितथे। यह है उस समयकी साध्यजाति का संक्षिप्त इतिहास।

'तेन देवा अयजन्त साध्याः'

'यत्रपूर्वे साध्याः सन्तिदेवाः' (यजुः सं० ३१।६।१६)

इत्यादि मन्त्रों में जिस साध्यजाति का उल्लेखहै वही साध्यजाति इन १० सों की प्रवर्त्तिका थी जैसाकि ऊपर बतलाया जाचुका है। इस प्रकार विज्ञानवादी इन साध्योंनें उस युग पर अपनी पूरी छाप जमारक्खी थी। परन्तु जिस ब्रह्मसत्ता की प्रेरणा से यह सारा चर्खा चल रहा है। उसे यह कब स्वीकृतथा कि उससे उत्पन्न होने वाला मानवसमाज उससे अपरिचित रहै। बस इसीलिए उस ब्रह्मतत्वनें सर्वत्र फैलहुए नास्तिवादका आमूलचूड विध्वंस करनेंके लिए—

यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ (गीता)

स्मार्त्ती उपनिषत्के इस सिद्धान्तके अनुसार अपने अंशसे उसी साध्यजाति में अवतार लिया जिसके कि अवतारमें अवतार सिद्धान्तको माननेंवाले कि-

सीभी सच्चे भारतीयको किसी प्रकारकी आशङ्का करनेका अवसर न हीं मिलसकता। अग्रमके अंशभूत साध्यजातिमें उत्पन्न होनेवाले इस महापुरुषनें अपने सामनें विकट परिस्थिति देखी। उसनें देखाकि इस समय भूमण्डल पर एकभी ऐसा मनुष्य नहीं है जोकि ब्रह्मसत्ताको मानताहो। खूब सोचा। सोच साचकर उसनें इस वातावरणका सामना करना प्रारम्भकिया। साधना करनेंकी देरथी। जैसे अंधविश्वासमें निमग्न वर्तमान समाज किसी सत्यसिद्धान्तको सामने आया देखकर आपेसे बाहर होजाताहै एवं प्राणपण से उसके विरोधमें अपनी सारी शक्ति लगादेताहै, एवमेव अपने चिरकालके अंधविश्वास के विरोधमें ब्रह्मसत्ताका आक्रमण होता देखकर उस समाजनें पूर्णरूपसे इस महाशक्तिका विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। इस विरोधमें अग्रणी वही साध्यजातिथी। साध्योंकी प्रबलताके कारण शेष समुदायोंने भी उन्हीका अनुकरणकिया। इसप्रकार सब ओर इनका घोर विरोध होनें लगा। जब अधिक विरोध बढ़नेंलगा तो यह महापुरुष अधिक चिन्तित हुए। अन्तमें उन्होंने इस आन्दोलनको समाप्त करनेंकेलिए एक दूसराही मार्ग निकाला। सेवधर्म्ममें लीन 'तुषित जाति' की ओर इन्होंनें अपनी दृष्टि डाली। वही जाति उससमय विशेषरूपसे सुसंघठितथी। अतएव उसको अपनाकर इन्होंनें अपनाकाम निकालनाचाहा। इनका यह अभिलषित उद्योगपूर्णरूपसे सफलहुआ। कृत, द्वापर, त्रेता, इन तीनों युगोंके उपलक्षणभूत 'संघशक्तिः कलौ युगे' इस न्यायके अनुसार इस संघशक्तिके सामने साध्य जातिको अपना मस्तक झुकानापड़ा। क्षणिकवादी साध्योंके सारे तर्कजाल इस शक्तिके सामने छिन्नभिन्न होगए। "तुम्हारे दसोंमत सर्वथा मिथ्याहैं, यदि एक नित्यतत्वको स्वीकार करलियाजाताहै तो १० सों मत सच्चेहैं। विश्व क्षणिक क्रियामयहै—यह सर्वथा सत्यहै। परन्तु एतावता ही प्रत्यक्षानुभूत नित्यतत्व का उच्छेद नहीं किया जासकता। 'हम अपने विज्ञान-बलसे

नया भूमण्डल बनासकतेहैं, 'ब्रह्मविद्यया सर्व भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते' (शत० १४।४।२।) इस श्रौत सिद्धान्तके अनुसार मनुष्य अपनी विद्या के बलसे सबकुछ करनेमें समर्थहै। यह सबकुछ संभवहै। परन्तु एतावताही ब्रह्म नहींहै यह कथन सर्वथा भ्रान्तिमूलकहै। जो मनुष्य अपने विज्ञानके सामने सबको तुच्छ समझने का साहस करताहै हम उससे पूछते हैं कि तुमनें कभी अपने स्वरूपकी भी परीक्षाकी है। क्या तुम बतला सकतेहो कि 'तुम' क्याहो? कहांसे पैदाहुएहो? पाञ्चभौतिक शरीरके नष्ट होजाने पर तुम कहां जातेहो? खूब सोचो, कुछ उत्तर नहीं मिलसकता। अन्तमें तुम्हें 'नेति नेति कहि वेद पुकारा' इसीकी शरणमें आना पड़ैगा। तुम स्वयंको जब नहीं पहिचानते, तब और क्या करसकते हो। 'मैं यह करताहूं' मैं ऐसा हूं, लम्बा हूं, चौडा हूं, शास्त्रज्ञ हूं, इसप्रकार जिस स्वानुभवैक गम्य मैं मैं की तुम रातदिन बड़ी आनबानके साथ अपने आपको मुस्तैद समझते हुए माला जपा करतेहो, परन्तु इतने सन्निकट अहंतत्वको भी जब तुम—

'नवि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि'

"यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः"

(ऋग्वेद मं० १। सू. १६४। ऋ् ३७)

इस श्रौत सिद्धान्तके अनुसार नहीं जानते तो ऐसी अवस्थामें केवल मलिनिवेशमें आकर संसारनिर्माणकी डींग हांककर ब्रह्मतत्वका विरोधकरना कथा प्रौढिवाद नहीं कहाजासकताहै। अपिच क्रिया क्रियाहै। नास्ति, अस्ति, नास्ति, भेदसे त्रिलक्षणाहै। मध्यका अस्तिलक्षण 'नास्ति' ही है। (देखो १ अंक)। सारा विश्व क्षणिक क्रियामयहै। क्रियामय विश्वका आधार क्रिया नहीं होसकती। सक्रिय वस्तुकी उपपत्ति तभी बनसकती है जबकि उसकेलिए कोई निष्क्रिय सत्तारूप नित्यधरातल मानलियाजाय। पानीबहना

कियाहै, परन्तु-यह तबतक अनुपपन्नहै जबतककि उसकेलिए आधारभूत स्थिर धरातल न मानलियाजाय। वृक्षका पत्ता हिला। किसने हिलाया उत्तर दोगे-वायुनें। वायु स्वयं भौतिक जडपदार्थ है। उसे किसने हिलाया बुध और शनिने। यह दोनों ग्रहभी तो जडहैं। इनमें वायुको हिलानेका धर्म कहांसे आया ? परम्परा का अवलम्बन करते जाइए अन्ततो गत्वा आपको अवश्यमेव एक ज्ञानघन, सत्तायन, आनन्दघन नित्यतत्वकी सत्ता स्वीकार करनी पड़ैगी। मनुष्य, पशु, पक्षि, कृमि, कीट, वनस्पति, देवता, पितर, असुर, गन्धर्व, जलचर आदि आदि जितनेंभी प्राणी हैं सबका ज्ञान-भिन्नहैं। सबके ज्ञानमें परस्पर अन्तरहै। सबको अनुभूत होनेंवाले आनन्दका स्वरूप सर्वथा पृथक् पृथक्है। अतएव जो वस्तु एकके लिए आनन्दप्रदहै वही दूसरोंके लिए दुःखप्रदहै। एवमेव अस्तितत्वभी सबका पृथक् पृथक्है। इस ज्ञान, आनन्द, सत्ता वैचित्र्यसे हमें यह अवश्यही मानना पड़ताहै कि अवश्यही इन नानाज्ञान, नानाआनन्द, नानासत्ताओं का मूल स्रोत कोईन कोई सर्वज्ञानघन, सर्वानन्दघन, सर्वसत्ताघनतत्वहै। उसी सच्चिदानन्दघन (सत्चित् (ज्ञान) आनन्दघन) ब्रह्मस्रोतकी अल्प, मात्राओं को लेकर सारेप्राणी अपने अपने स्वरूपों में प्रतिष्ठितहै। ऐसी अवस्थाम ब्रह्म-सत्ताको माननें में किसीको कुछ भी आपत्ति नहीं रहजाती। अतः हमारा (ब्रह्माका) आपसे (साध्यजाति से) यही कहना है कि जब कि युक्ति, प्रमाणादि से ब्रह्मसत्ता अधिक दृढ होती है तो ऐसी अवस्थामें आप को अवश्यमेव इसकी सत्ता स्वीकार करनी चाहिये"।

इस प्रकार इस महापुरुषनें युक्तियों एवं प्रमाणों द्वारा संघशक्तिको आगे करके तत्कालीन समाजमें पूर्णरूपसे ब्रह्मसत्ता स्थापित करदी। ५० सों मतोंके विषयमें अन्तमें इस दिव्यविभूतिनें जो कुछ निर्णय किया, वह

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अन्ह आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं "तस्माद्धान्यन्नपरः किंचनास" २
तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासी "त्तपसस्तन्महिना जायतैकम्" ३
(ऋग्वेद मं० १० अ० ११ सू० १२९ मं० १।२।३) इत्यादि

इन मन्त्रोंका अर्थ प्रकृतमें नहीं किया जासकता । इसकेलिए सारा सृष्टिविज्ञान बतलाना आवश्यक होगा । अतएव इसे आगेके सृष्टि प्राकरणों के लिए छोड़कर आगेचलतेहैं । प्राचीन समयमें यह नियम थाकि जो मनुष्य जिसतत्वकी परीक्षा करताथा, एवं उसका भूमण्डलपर प्रचार करताथा, तत्कालीन विद्वान् उस आविष्कर्त्ताकी कीर्तिको अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए उस तात्विक नामसेही उसे विभूषित करदेतेथे । बस इसी मर्य्यादाके अनुसार क्योंकि इस महापुरुषनें संसारको नएरूपसे ब्रह्मतत्वका पाठ पढ़ायाथा अतएव तत्कालीन विद्वानोंनें इसे 'ब्रह्म' नामसे विभूषित करदिया । अपि च संसारको अपने दिव्योपदेशोंसे उपदिष्ट कर सबपर गुरुत्व प्राप्त करनेके कारण यह ब्रह्म किंवा ब्रह्मा 'जगद्गुरु' नामसे भी व्यवहृत होनेलगे । बस आधिभौतिकमण्डलमें सबसे पहिले यही जगद्गुरु ब्रह्मा प्रादुर्भूत हुए । यही प्रथम ब्रह्मा आगे जाकर पुराणोंमें आदिब्रह्मा नामसे प्रसिद्ध हुए । इनकी जन्मभूमि कौनसी थी ? इन्होंने अपने जीवनकालमें क्या क्या काम किया ? इनकी कितनी आयुथी ? इन ऐतिहासिक घटनाओंमें क्या प्रमाणहै ? इत्यादि विषयोंका विशद निरूपण श्रीगुरुप्रणीत 'जगद्गुरु वैभव' नामके सुविस्तृत ग्रन्थमें देखना चाहिए ।

यह ग्रन्थ अभीतक अमुद्रितहै। दोचार शब्दोंमें हमभी इनकी आवासभूमि आदिके विषयमें कुछ कहेंगे। इन भगवान् आदि ब्रह्माकी जन्मभूमि पुष्कर है। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगाकि जिसे आज सर्व साधारणने 'पुष्करतीर्थ' समझरक्खाहै, वह वास्तवमें पुष्करतीर्थकी प्रतिकृति (नकल) है। असली पुष्करतीर्थ तो भिन्नही स्थानमें है। जो देश आज विधर्म्मियोंसे पूर्णरूपसे युक्त होरहाहै। जहांसे भारतीय व्यवस्था एकान्ततः उच्छिन्न होचुकी है, उसी सुप्रसिद्ध 'ईरान' देशमें हमारे ब्रह्माजीकी जन्मभूमि है। ईरानदेशान्तर्गत वह ब्रह्मजन्मभूमि आजदिन 'बुखारा' नामसे प्रसिद्ध है। इसका प्राचीन नाम पुष्करही था परन्तु निरुक्त क्रमके अनुसार वही पुष्कर क्रमशः पुःकर, पुकर, पुखर, बुखर, इन नामोंमें परिणत होताहुआ आज 'बुखारा' नामसे प्रसिद्ध होगयाहै। यह ब्रह्मा अपनी जन्मभूमि पुष्कर (बुखारा) से भारतवर्षमें तीनवार आएथे। इस भारतवर्षमें जिसस्थान पर ब्रह्मा आकर ठहरे थे वही स्थान आज भारतवर्षमें 'पुष्करतीर्थ' नामसे प्रसिद्ध सुपुण्यतीर्थ है। ब्रह्माजीकी भारतीय आवासभूमि यहीथी अतएव भारतवर्षमें सिवाय इस स्थानके और कहींभी ब्रह्माजीका मन्दिर नहीं है। यदि कहीं हैं भी तो वेसब गौणहैं। जिस पुष्करमें भगवान् ब्रह्माका प्रादुर्भाव हुआथा, वह तो आज सर्वथा यवन प्राय ही होरहाहै। अखिल भूमण्डलपर अपना साम्राज्य रखनेवाले हम कूपमण्डूक भारतीयोंनें अपना छोटासा दायरा बनालियाहै। अस्तु विषय आवश्यकतासे अधिकलम्बा होता जारहाहै अतः इसे यहीं समाप्त कर हम पुनः प्रकृतका अनुसरण करतेहैं। ब्रह्माने तुषितोंको अपनाकर इस संघशक्ति के आधारपर ब्रह्मसत्ताको तो प्रतिष्ठित

---

१ यह तीर्थ राजपूतानेमें सुप्रसिद्ध 'अजमेर' नामके शहर में है। कार्त्तिककी पूर्णिमा को यहां बडीभारी भीड़ लगतीहै। इन्हीं दिनोंमें यहां अश्व, बैल, आदिका व्यापार भी होताहै।

करदिया, परन्तु उन्हें चिन्ता इसबातकी हुई कि कोई ऐसा उपाय करना चाहिएकि जिससे भविष्यमें इस समाजमें नास्तिकताका प्रवेश न होसके । युग धर्म्मानुसार चिरकालतक यह व्यवस्था अक्षुण्ण रूपसे बनीरहै । इस चिन्ताको दूरकरनेके लिए उन्हें प्रकृतिदेवीके दर्शनहुए । उन्होंने सोचा कि मनुष्य असत्य संहितहै, मिथ्याभावाक्रान्तहै । अतएव मनुष्य कल्पित नीति प्रधान व्यवस्थाएं चिरकालतक कभी स्थिर नहीं रहसकती । विशेषसत्ता रखनेंवाला साम्राज्यलोलुप नीतिमात्रका अनुयायी समाज अपनेसे पहिले समाजकी व्यवस्थाओंका, आचार व्यवहारोंका घोर शत्रु बनजाताहै, एवं उसे प्राणपणसे तहस नहस करनेंकेलिए उद्यत होजाताहै । चूंकि पहिलेकी व्यवस्थाएं मनुष्य कल्पित होती हैं अतएव अधिक शक्तिशाली इस नए समाजको उस निर्बल समाजकी व्यवस्थाओं को छिन्न भिन्न करनेंमें अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता । इस आपत्तिको दूरकरनेंका एकमात्र उपाय होसकताहै तो प्रकृतिकी उपासना करनाही होसकताहै । प्रकृतिका आश्रय लेकर जो व्यवस्था व्यवस्थित कीजाती है वही दृढ़ होसकती है । जैसी व्यवस्था प्रकृतिमण्डल (आधिदैविकमण्डल) में है, यदि आधिभौतिक जगत्में भी वैसीही व्यवस्था करदीजाती है, तो कितनेंहीं अंशोमें वह समाज अपनी व्यवस्थाको इतर सभ्यताओं के आक्रमणों से बचानेंमें समर्थ होसकताहै । बस प्रकृतिविज्ञ इस महापुरुषनें इस प्राकृतसिद्धान्तको सामनें रखकर निखिलभूमण्डलको तदनुरूप व्यवस्थामें ही व्यवस्थित करनेंका विचारकिया । विचार करनें भरकी देरथी । उसीसमयमें इस सत्यसंकल्प, सत्यकाम, ब्रह्मानें अपने विचारोंको कार्य रूपमें परिणत करदिया । जो कुछ प्रकृतिमें होरहाहै, उन्होंने यहां भी वैसाही किया । इस मनुष्य ब्रह्माकी इस नित्य व्यवस्थाका कैसा स्वरूपथा इसके पहिले हम पुनः अपने पाठकोंको थोड़ी देरकेलिए प्राकृतिकव्यवस्थाओंकी ओर लेजाना आवश्यक समझतेहैं—

जिसपर पशु, पक्षि, मनुष्य, कृमि, कीट, औषधि, वनस्पति, धातु, उपधातु, रस, उपरस, आदि आदि यच्च यावत् हम सब जडचेतन प्रतिष्ठित हैं उसे 'पृथ्वीलोक' कहतेहैं । एवं आकाश के जिस प्रदेशमे भगवान् सहस्रदीधिति (सूर्य्य) प्रतिष्ठितहैं वही स्वर्गलोकहै । इसी को 'द्यौ' कहतेहैं । एवं सूर्य्य और पृथ्वी दोनोके मध्यका जितना खुलास्थानहै उसे अन्तरिक्ष लोक कहतेहैं । सौर संवत्सर प्रजापतिकी भूः, भुवः, स्वः, यही व्याहृतिएंहैं । इन्ही तीन शब्द ब्रह्मों से वह प्रजापति क्रमशः भूलोक, भुवर्लोक, एवं स्वर्लोक इन तीनों लोकों को उत्पन्न करताहै । एवं इन तीनो को उत्पन्न कर यह सौरप्रजापति 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार इनतीनों के केन्द्र में प्रतिष्ठित होजाताहै । (देखो ऐतरेय आरण्यक आ० २ अ० १ खं० १)। वही प्रजापति इन तीनों लोकोंका अधिष्ठाता बनताहुआ रथन्तर पृथ्वीके पुष्करद्वीपमें आजभी प्रतिष्ठितहै । ब्रह्मा जब रहतेहैं पुष्करमें ही रहते हैं। इसकाभी विशद विवेचन हम प्रथमाङ्कमें ही करआए हैं । हमारे इस मनुष्य ब्रह्माका जन्मभूमि और किसी नाम से व्यवहृत न होकर पुष्कर नामसे ही क्यों प्रसिद्धहुई ? इसका उत्तर यही प्रकृतिहै । क्योकि प्राकृतिक नित्य ब्रह्मा 'पुष्कर' मेंही प्रादुर्भूतहुए हैं. एवं मनुष्यब्रह्मा उसीके अवतार थे अतएव उनकी जन्मभूमि भी उसी नामसे प्रसिद्धहुई । अस्तु बतलाना यहहै कि व्याहृतित्रयसे उत्पन्न भूः, भुवः, स्वः, इनतीनों लोकों म वह प्रजापति क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य, अपने आपको इन तीन स्वरुपों में विभक्त कर प्रतिष्ठित हुए-(शतपथ ६ काण्ड ७ ब्रा०)। उसी आदिव्यवस्था के अनुसार आजका सारा भूमण्डल अग्निदेवता के अधिकार में है । सारा अन्तरिसलोक वायुदेवता की सत्तामे आक्रान्तहै, एवं सारे चलाकका आदित्य देवताने अपने अधिकारमें कर रक्खाहै । यही तीनों देवता इनलोकों

के 'अतिग्रावा' देवता कहलातेहैं। यही तीनों 'शवसोनपात्' भी कहलातेहैं। पूर्वमें हम कह आएहैं कि अन्तरिक्षमें रुद्र के पुत्र ४९ मरुतों का निवासहै।' एवं मरुतवायुमें एक चतुर्थांश इन्द्रका (मरुत्वान इन्द्रका) भाग रहताहै। इस प्रकार अन्तरिक्षमें वायु और मरुत्वान इन्द्र इन दो देवताओंका आधिपत्य सिद्ध होजाताहै। इसी विज्ञान को लक्ष्यमें रखकर भगवान यास्क कहतेहैं—

'अग्नि पृथिवीस्थानः, वायुर्वा-इन्द्रोवाऽन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थान इति' (या० नि० दै० का० ७।५)। पृथिवीका गोला अग्निमयहै। सारा भूमण्डल अग्निज्वालाओं से अभिव्याप्तहै। पृथिवी के केन्द्रमें से बड़े वेगसे अग्निज्वालाएं निकल रहीहैं। ईश्वर की लीला बड़ी विचित्र है। यदि वह लीलाधर इन अग्निज्वालाओं का पाषाणशिलाओं से आच्छादन न करता तो वे ज्वालाएं भूमण्डल पर रहने वाले सारे प्राणियोंको क्षणमात्रमें जलाकर खाक कर डालतीं। हमारी तो कथा दूरहै, स्वयं पृथिवीका गोला खण्ड खण्ड होकर उस आपोमय अंभासमुद्रमें विलीन होजाता। केन्द्रसे निकलने वाली इन अग्निज्वालाओं को रोकनेवाला दूसरा यही पर्वतस्तरहै। सारा अग्नि इन पर्वतश्रेणियों से ढकाहुआहै। इन्हीं पर्वतश्रेणियोंके कारण अग्निका वेग दब

---

१ ब्राह्मीभाषा (संस्कृतभाषा) के 'अधिष्ठाता' शब्दके स्थानमें 'छन्दोभाषा' में (देवताओं के व्यवहारमें आनेवाली वेदभाषामें) अतिग्रावा शब्द प्रयुक्त होता है।

२ रोदसी, क्रन्दसी, संयती यह तीन त्रैलोक्यहैं। रोदसी त्रैलोक्यका आपोमय समुद्र 'अर्णव' समुद्र कहलाताहै। 'ततः समुद्रो अर्णवः' (ऋक्) से यही समुद्र अभिप्रेतहै। क्रन्दसी त्रिलोकीका वायुमय समुद्र सरस्वान् कहलाताहै। सरस्वती वाक्का इसी सरस्वान् समुद्र से सम्बन्धहै। देखो ६ अङ्क। एवं संयती त्रिलोकीका प्राणमय समुद्र 'नभस्वान्' कहलाताहै। इन तीनों समुद्रोंका विशद स्वरूप आगे आने वाले सृष्टिब्राह्मणोंमें किया

रहाहै। अतएव पृथिवी कालके गालसे बची हुईहै। बस अग्नि को दबाकर थिवीको स्वस्वरूपसे धारण करनेके कारणही इस दूसरे पर्वतस्तरको 'भूधर' एवं महीधर नामों से व्यवहृत कियाजाता है। पथिवीके सबसे अन्त के मिट्टीके स्तरपर जो आप बड़े बड़े कोसों लम्बे पर्वत देखरहे हैं वह भूग-र्भित उन महा महा पर्वतोंकी चोटिएं मात्रहैं। पथिवी के यत्र तत्र भागमें उन पर्वतों की चोटिएं निकल रहीहैं। इसीसे आप उन भूगर्भित पर्वतों की वि-शालता का अनुमान लगासकतेहैं। यद्यपि पथिवी के भीतर का कोई भी स्थान इन पाषाणचट्टानोंसे खाली नहींहै परन्तु कहीं कहीं इनकी घ-नतामें (मोटाईमें) कमी है। बस जहां जहां पाषाणस्तर कमजोर होताहै वहीं वहीं अग्निको अपने बल प्रयोग करने का अवसर मिलजाताहै। आये दिन उसकी उन्नतियों को एक सपाटेमें खाकमें मिलादेने वाले यमकोटि (जापान) के भूकम्पों से कौन ऐतिहासिक अपरिचित है। जब अग्नि बडे वेगके साथ पाषाण चट्टानोंको फोड़कर बाहर निकलताहै, उस समय वहांके कंकर कंकर बनकर उडनेवाले पाषाण समीपस्थ नगरों के नगरों को सदाके लिये भूगर्भ में विलीन करदेतेहैं। यदि ईश्वर का यह प्रकोप नहोता तो व्यवसायशील जापान अपने व्यवसाय चातुर्यसे कभीका—व्यवसायका घमण्ड रखने वालों का घमण्ड तोड़देता। अब पाषाणस्तर के आगे चलिए। पाषाणस्तर के ऊपर सलिलधारायें बहरहीं हैं। जैसे मिट्टीके धरातलपर बड़े बड़े नद चक्कर काट रहेहैं, एवमेव भूगर्भमें इससे भी अधिक गम्भीरता एवं अधिक वेगसे बड़ी बड़ी नदियें बह रहीहैं। यदि यह जलस्तर न होता तो संभवतः उन पाषाणस्तरोंको भी अपनी मोटाईका गर्व तोड़देना पड़ता। यह अग्नि पाषाणों को सजातीय बनाकर उनको स्वस्वरूपसे च्युत करना चाहता है, परन्तु ऊपर बहनेवाला पानी पत्थरोंको आर्द्र रखताहुआ अग्निका गर्व खर्व कर डालताहै। अन्तरिक्ष की वायुधाराओं, एवं धरातलकी नदनदी धाराओंके रा-

मान प्रबल वेगसे बहनेवाले भूगर्भके अनन्तस्रोतही पार्थिव ओषधि वनस्पति-यांके परिपाकमें अधिक उपयोगी होते हैं। कूप, तालाब, आदि खोदते समय यदि उनके नीचे बहनेवाली किसी अविच्छिन्न (सदा बहनेवाली) धारासे सम्बन्ध होजाताहै तो उन कूप तालाओं का पानी कभी नष्ट नहीं होता। यही पानी पातालफोड़पानी कहलाताहै। कौनसी धार किस स्थान पर बहती है, किस धाराका पानी कैसाहै? कितना गहराहै? इन सब बातोंका पता 'दगार्गलविद्या'[1] से लगाया जासकताहै। इस विद्यामें प्रधानरूपसे वृक्षों की सहायता लीजाती है। पत्तोंकी आर्द्रता, चिकनाई, लम्बाई, चौड़ाई, परिसर, झुकाव आदिसे इनका पता लगायाजाताहै। यद्यपि आज यह विद्या विलुप्तप्राय होगई है, तथापि कहीं कहीं इस विद्याके उत्कृष्ट भोगी पाए जाते हैं। विशेषकर मरुभूमि (मारवाड़) में इसके विशेषज्ञ अबभी प्राप्त होतेहैं। यह लोग मिट्टी को सूंघकर उसका स्वाद लेकर बतलादेतेहैं कि अमुक स्थानमें इतना गहरा पानी है, इसका ऐसा स्वादहै। इन लोगोंको देशभाषामें—'सूंघा' (सूंघकर पता लगानेवाले) कहा जाताहै। सारे प्रपञ्चसे निष्कर्ष यही निकलाकि पृथिवीके केन्द्रमें अग्निहै। इसके ऊपर पाषाणस्तरहै। इसके ऊपर पानीका स्तरहै। सबके ऊपर मिट्टी है। मिट्टीके ऊपर ओषधि वन-स्पतिएंहैं। यही पृथिवीशरीरके केशलोमहैं। इन सबमें जिस अग्निको हमने पृथिवीका घातक बतलायाथा आज उसेही हम रक्षक बतलातेहैं। एक दृष्टिकोणसे अग्नि घातकथा, आज दूसरे दृष्टिकोणसे वही अग्नि इसका रक्षक बन-

---

१ यह दगार्गलविद्या देशभेदसे अनूपकाण्ड, मरुकाण्ड, एवं जांगल-काण्ड इन तीन काण्डोंमें विभक्तहै। तीनों देशोंके लिए तीन व्यवस्थाएं हैं। इस विद्याका वेदोंमें, विशेषकर वेदके ब्राह्मणभागमें सूत्ररूपसे उल्लेखहै, एवं आर्यसर्वस्वमें (पुराणमें) विस्तारके साथ निरूपणहै। परन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आज उन पुराणरत्नों की ओर किसीभी विद्वान् का ध्यान नहीं है।

जाताहै। केन्द्रशक्ति (सेन्टरशक्ति) के आधारपर ही उस वस्तुकी सत्ता रहती है। वही केन्द्र वस्तुका ग्रहण कर- दूसरे शब्दोंमें पकड़कर उसे स्वस्व रूपमें प्रतिष्ठित रखताहै अतएव उसे 'गर्भ' कहाजाताहै। 'गृह्णाति पदार्थं' व्युत्पत्तिसे 'गर्हः' बनताहै। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० वा०) से छन्दमें हको भ होजाताहै। अतः वेदमें गर्हके स्थानमें गर्भ बोलाजाताहै। यह केन्द्रशक्ति उसी अग्निकी शक्तिहै। उसीके आधारपर क्योंकि पृथिवीपिण्ड प्रतिष्ठितहै, अतएव हम अवश्यही इस केन्द्रशक्तिरूप अग्निको पृथिवी का रक्षक माननेके लिए तय्यारहैं। बस केन्द्रस्थित यही अग्नि (पार्थिव) प्रजापति कहलाताहै। यह शक्ति केन्द्रमें रहती है। केन्द्रमें रहकर यही उन पदार्थोंकी रक्षा करती है। स्वयं प्राणरूप होनेसे नित्य अतएव अजन्मा होकरभी इतर सारे पदार्थोंको उत्पन्न करती है। अतएव वेदपुरुष कहतेहैं—

"**प्रजापतिश्चरति गर्भे**" *अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।*
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥
(यजुः सं० ३१।१९)

जो जिस वस्तुका केन्द्र पहिचानजाताहै उसके लिए वह वस्तु (उठाने की क्रियामें) हलकीसे हलकी होजाती है। यह केन्द्रस्थ अग्नि बड़े वेगसे

---

१ केन्द्र, पणफर, किस्तुघ्न, आदि शब्द मयासुरद्वारा आविष्कृत आसुरभाषाके शब्दहैं। वराहमिहिरमें ईरानमें जाकर इसी खान्दानसे ज्यौतिष सीखा है, अतएव प्रचलित ज्यौतिषमें (जोकि आसुरहै) गर्भके लिए केन्द्रशब्द प्रयुक्त होरहाहै। किन्तु वेदाङ्ग (वैदिक) ज्यौतिषमें केन्द्रके लिए विशेषकर 'गर्भ' शब्द एवं कहीं कहीं 'सान्तर' शब्द आया करताहै। वही सान्तर आज पाश्चात्यभाषामें बिगड़ते बिगड़ते 'सेन्टर' होगयाहै। अपने आपको परम वैज्ञानिक माननेवाले पाश्चात्य विद्वान् 'त' का स्वस्वरूपसे उच्चारण करनेमें असमर्थ होते हुए 'ट' बोलाकरते हैं- यह बात किसीसे छुपी है ही नहीं।

निकलताहुआ पृथिवीपिंड के बड़ी दूरतक व्याप्त रहताहै । जहांतक अग्नि-मण्डल व्याप्त रहताहै वहीं तक इस पृथिवीका प्रत्यक्ष होसकता है । इस मण्डलके बाहर निकलेबाद वहपथिवी अदृष्य होजाती है । पृथिवीको पदार्थमात्रका उपलक्षण समझना चाहिए । जितने भी पदार्थ हैं वे सब 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इस सिद्धान्तके अनुसार अग्नि एवं सोममय हैं । इनमें २१वें अहर्गणतक[1] अग्नि रहता है, एवं ३३ वें तक सोम रहता है । चाहे वस्तु छोटीहो या बड़ी हो, सबमें यह ३३ विभागहैं । यह ३३सों विभाग एक वाकतत्वके (जिसकाकि स्वरूप प्रकृत में बतलाना अप्राकृत होगा) हैं । इन ३३ वाक् विभागों के ९, १५, १७, २१, २७, ३३, यह ६ स्थूल विभाग होतेहैं । यह ६ओ विभाग स्तोम कहलाते हैं उस एक ही वाक् के यह ६ विभागहैं, अत एव यह ३३ सों अहर्गणोंका वाङ्मण्डल, वौकप-[2]

---

१ अहर्गण क्या वस्तु है ? इसकी संख्या कितनीं हैं ? रथन्तर साम का क्या स्वरूप है ? इस प्राजापत्याग्नि के क्या धर्म हैं ? इत्यादि प्रश्नोंका समाधान 'वषट्कार' विज्ञानपर निर्भरहै । जब इन्द्रको आहुती दी जाती है उस समय बडे जोरसे 'इन्द्राय वौषट्' यह बोला जाता है । बस पूर्वोक्त सारे प्रश्नोंके उत्तर इसी वौषट् में रक्खेहैं । सारे देवता इसी वषट्कारके आधर पर रहतेहैं अतएव इसे 'देवपात्र' भी कहा जाता है । (देखो - कौ. उ. ब्राह्मण) इस के स्वरूप के लिए भी हमें २ - ३ अङ्क समर्पण करने पड़ेंगे । अभी केवल नाममत्रों का ही उल्लेख करदिया गया है ॥

२ वाकृतत्व स्थूलहै । इसके भीतर प्राण रहता है । प्राणके भी भीतर मन रहता है । तीनों आवन भूतहैं । सांकेतिक भाषामें मनको 'अ' कहाजताहै, प्राणको 'उ' कहाजत है, एवं वाक्को 'म्' कहा जात है । क्यों कहाजात है ? इसका उत्तर किसी आगेके प्रकरणमें दियाजायगा । अ-उ के संयोगसे 'ओ' होजताहै । इस ओको वाक्के गर्भमें डलदिया जाताहै । इससे वहाँ वाक् वृद्धिद्वारा 'वौक्' बनजातीहै । केवल वाक्के ६ विभाग नहींहैं । अपितु मनःप्राणगर्भित वाक्के ६ विभागहैं । इसी रहस्यको बतलानेके लिए इसे वाक्पट्कार न कह कर 'वौषट्' कार कहा जात है । वौक्का 'मनःप्राणगर्भितावाक्' यही अर्थहै ।

ट्कार' कहलाता है । यही वौक्षट्कार 'वषट्कार' 'वौषट्' आदि नामों से प्रसिद्ध है । इस मे बतलाना हमें यही है कि प्रत्येक वस्तुके २१वें तक अग्नि रहताहै, अतएव प्रत्यन्न उस वस्तुका वहींतक होसकताहै । प्रत्यन्न का एकमात्र कारण अग्नि ही है न कि सोम । इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर भगवान् यास्क कहतेहैं–

'यच्च किंचिद्दार्ष्टिविषयकमग्निकर्मैव तत्'–(या. नि. दै. का. ७ अ. ८ ख. ३ इति) और पदार्थोंके विषयमें हमें यहां कुछनहीं कहना । यहां केवल पार्थिवाग्निकी ओर आपका ध्यान आकर्षितकरनाहै । यह पार्थिवाग्नि २४ अंशके व्यासार्धसे वृत्त बनाकर केन्द्रसे निकलताहै । इसका व्यास ४८ अंशात्मक समझना चाहिये। इतनाबड़ा व्यास रखताहुआ यह अग्नि ओरसे छोरतक अभिव्याप्तहै । इसअग्निकी जो उत्तरसीमाहै उसेही 'सुमेरु' कहते हैं, एवं दक्षिणसीमा 'कुमेरु' कहलातीहै । सुमेरुका उत्तरध्रुवसेसम्बन्ध है एवं कुमेरुका दक्षिण ध्रुवसे सम्बन्धहै । सारा पार्थिव अग्नि इन्हीं दोनों ध्रुवोंमे बद्धहै। बस उत्तर दक्षिण ध्रुवसे बद्ध जो पूर्वोक्त प्राजापत्याग्निहै उसे ही 'अक्ष' (धुरा) कहाजाताहै । ध्रुवद्वयसे बद्ध पृथिवीपिण्ड इसी प्राजापत्याग्निके चारों ओर घूमताहै, अतएव इस अग्निको 'अक्ष' नामसे व्यवहार कियाजाताहै । पृथिवीकी स्व और परभेदसे दो गतिएं होती हैं । जैसे कुम्हारके चक्रमें अवयवगतिही है, माथेपर रखकर लेजाते हुए उसी चक्रकी समुदायगतिही है, एवमेव अपने धुरीपर घूमती हुई क्रान्तिवृत्तकी परिक्रमा लगानेके कारण यह पृथिवी 'उभयगति' के अन्तर्भूत होजाती है । क्रान्तिवृत्त सूर्यकी वस्तु है, इधर यह प्राजापत्याग्नि रूप अक्ष पृथिवीका अपना भागहै, अतएव इस अक्षगतिको 'स्वाक्षपरिभ्रमण' कहाजाताहै। यह पृथिवीका गोला २४ घण्टेमें अपने इस अक्षकी एक परिक्रमा लगालेताहै । अहोरात्र का स्वरूप इसी गतिसे बनताहै अतएव इस गतिको 'दैनंदिनगति' भी

कहाजाताहै। इसप्रकार इस अपने अक्षपर घूमती हुई अहोरात्रका स्वरूप बनाती हुई यह पृथिवी खगोलके बृहतीछन्द (विषुद्वद्वृत्त) के मध्यमें प्रतिष्ठित सूर्य्य को केन्द्रबनातीहुई २४ अंशके व्यासार्धपर बनेहुये (कल्पित) क्रान्तिवृत्तके चारों ओर परिक्रमा लगाती रहतीहै। इसकी इस परिक्रमासे संवत्सरका स्वरुप बनताहै जैसाकि आगे आनेवाले इसी काण्डके ब्राह्मणमें बतलाया जायगा। हमने बतलायाथा कि जिन ध्रुवोंसे प्राजापत्याग्नि बद्धहै, वह स्थिरहै। पार्थिव सुमेरु और कुमेरुका इन्हीं ध्रुवोंसे सम्बन्धहै। अतएव इन्हे 'अचल' कहाजाताहै। वास्तविक तत्वको न जाननेके कारण आज कितनेही वैदिक एवं पौराणिक विषयों में बहुतही भ्रान्ति फैली हुई है। अज्ञताके कारण, परिभाषाज्ञानके अभावके कारण समझलिया जाताहै कुछ का कुछ। एवं उस अपने दोषको मढ़ाजाताहै शास्त्रोंके मत्थे। यही बात हमारे इस सुमेरु आदिके विषयमेंहैं। सुमेरुको भी एक पहाड़ समझाजाताहै, एवं उसे कोरा पत्थरका पहाड़ही नहीं अपितु सोनेका पहाड़ समझा जाता है। परन्तु वस्तुस्थितिहै कुछ औरही जैसाकि पाठकों को निम्नलिखित अक्षरोंसे मालुम होगा—

ध्रुवको हमने स्थिर बतलायाहै। एक बात औरहै! ध्रुव किसी नक्षत्र का नाम नहीं है अपितु प्राणविन्दु (जोकि निराकारहै) को ध्रुव कहते हैं। वही विधर्त्ता स्थिर प्राण इस पृथिवीको पकडेहुए हैं। इसी प्राणको 'ध्रौव' विद्युत कहते हैं। ऐन्द्र, सौम्य, ध्रौव तीन प्रकारकी विद्युत होतीहैं। सूर्य्यसे निकलनेवाली विद्युत ऐन्द्रविद्युत कहलाती है। आज आप पाश्चात्य जगत में जिस विद्युत का प्रत्यक्ष कररहे हैं वह यही सौरविद्युत है। विद्युत साक्षात इन्द्रहै—(देखो केनोपनिषत् ४ खं० ४ मं०)। काशिराज प्रतर्दनमहाराजने उपासना कर इन्द्रको प्रसन्न कियाथा। एवं प्रतर्दन ने वरदानमें—इन्द्रसे 'मैं आपको(इन्द्र)पहिचानना चाहताहूं' यही वर मांगाथा। इसके उत्तर में अपनी शक्तिका निदर्शन करते हुए इन्द्रने कहाथा कि—

"एतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये यन्मां विजानीयात्' 'तं मामायुरमृतमित्युपास्व'। प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा (कौ० उपनिषत् ३ अ० १ मं०)। "मैं मनुष्यकेलिए यही हिततम समझताहूं कि वह मुझे पहिचान जाय। सो हे प्रतर्दन तुम मेरीआयु, एवं अमृतरूपसे उपासना करो। मैंही प्रज्ञात्मक प्राणहूं।" श्रुतिका यही तात्पर्य्यार्थ है। इस श्रुतिमें जिस इन्द्रका वर्णनहै वह 'सौम्य' विद्युत् है। आत्माका इसीसे सम्बन्धहै। आँख, कान, मुख, हाथ, इत्यादि शरीरके अङ्गोंमें जो एकप्रकारकी स्फुर्त्ति दिखलाई देती है वह इसी सौम्यविद्युतकी महिमाहै। जबतक यहहै तबतक आयुहै। यह विद्युत् सूर्य्य से ऊपरकी वस्तुहै। अहर्गणविभागके अनुसार यह सौम्यविद्युत २५ वें अहर्गण पर पड़ती है। इस अहर्गणको 'अविवाक्यमह' कहाजाताहैं। इसीको 'महाव्रत' कहते हैं। एवं जो आकाशमें चमकनेवाली विद्युत् है वह सौरविद्युत है। भौतिकपदार्थों में जो विद्युत् उपलब्ध होती है वह यही सौरविद्युत् है। तीसरी ध्रौवविद्युत् है। लोहचुम्बक जिस विद्युतके आकर्षणसे अन्य साधारण लौहखण्डोंको खेंचकर आत्मसात करलेताहै वही ध्रौवविद्युत् है। सौर विद्युतकी अपेक्षा इसमें अधिक शक्तिहै। इसी विद्युतने इतने बड़े भूमण्डल को अपने आकर्षणसूत्रमें बद्ध कर रक्खाहै। इन्द्र १४ प्रकारका होताहै। इन में एक इन्द्र 'विद्युत' कहलाताहै। पूर्वोक्त तीनों विद्युत् विद्युतहैं, अतएव हम तीनोंको इन्द्र कहनेके लिए तय्यारहैं। शक्तित्रयोपेत इस इन्द्रको जो पहिचान जाताहै, सचमुच उसके लिए फिर किसकी कमी नहीं रहसकती। आजतो तीनोंमेंसे एक विद्युत्को पहचानलेने परही पाश्चात्य जगत्नें सारे संसारपर अपना प्रभुत्व जमारक्खाहै। कोई समयथा जबकि हमारे वैज्ञानिक महर्षि तीनों विद्युतों को पहिचानतेथे, एवं उनसे काम लेतेंथे। परन्तु उन्हीकी संतान आज विद्युतको 'हौआ' समझकर उससे कोसों दूर भागती है। आज उसे इस बातका पताभी नहीं है कि यह सारी विद्या उसके ग्रन्थोंमें बडे विस्ता-

रकेसाथ विद्यमानहै। क्या हमभी कभी अपने अतीतका अनुसरण करेंगे?। अस्तु अपनी गिरी दशापर दो आंसू बहाकर पुनः प्रकृतका अनुसरण करते हैं। 'ध्रुवने इस पृथिवीको पकड़ रक्खाहै' पूर्व प्रपञ्चसे हमें केवल यही बतलानाहै। इस ध्रुवबिन्दुके पास जो स्थूल तेजस्वी नक्षत्र होताहै (ध्रुवबिंदु की पहिचानके लिए) उस समीपस्थ नक्षत्रको 'ध्रुव' कहदिया जाताहै। बस इस ध्रुवबिन्दुकी स्थिरताके कारणही पार्थिव प्राजापत्याग्निको 'अचल' कहाजाताहै। जैसे हमारे मेरुदण्ड (रीडकी हड्डी) पर सारा शरीर खड़ाहै, एवमेव इसी प्राजापत्याग्निके आधारपर सारा शरीर खड़ाहै, अतएव इसे भी मेरुदण्ड स्थानीय होनेके कारण 'मेरु' कहा जाताहै। उत्तर की ओर स्वर्ग है अतः उत्तर सीमस्थ मेरु को 'सुमेरु' कहा जाताहै एवं दक्षिण की ओर यमपथहै, अतः उसे कुमेरु कहाजाताहै। हमारे मनुष्य ब्रह्मा का सुमेरुसे ही सम्बन्धहै अतएव प्रकरणमें हम उसीका स्वरूप बतलायेंगे। यह सुमेरु अग्निमयहै। अग्निको हिरण्यरेता कहतेहैं। परमाणुको 'रेत' कहतेहैं। आग्नेय परमाणु हिरण्य (सुवर्ण) जैसे होते हैं अतएव इसे हिरण्यरेता कहा जाताहै। ऐसी अवस्थामें हम इस सुमेरु नामके अचलको अवश्य ही सुनहरी कह सकतेहैं। यही भूताग्निरूप सुवर्णाचल (अग्निस्कम्भ) प्राणाग्निरूप ब्रह्माकी आवास भूमिहैं। हमने ध्रुवको स्थिर बतलायाहै। परन्तु ध्रुवकी यह स्थिरता आपेक्षिक समझनी चाहिऐ। वस्तुतस्तु ध्रुव भी घूमता ही है। उत्तर ध्रुवसे ठीक २४ अंश के व्यासार्धसे एक वृत्त बनाइए। बस इसी वृत्तपर ध्रुव घूमताहै। इस ध्रुव परिभ्रमण वृत्तके ठीक बीचमें कदम्बबिन्दुहै। इसीको 'नाक' कहतेहैं। यही स्थान विष्णुपद कहलाताहै। ध्रुव इसीको केन्द्र बनाकर इसीके चारों ओर परिक्रमा लगाया करतेहैं। सूर्यके ऊपर हमने परमेष्ठी बतलायाहै। यह परमेष्ठी साक्षात् विष्णुहै। यह कहांहै। इनको

हम आकाशके किस भागमें समझें इसकेलिए पूर्वोक्त कदम्ब बिन्दु मानी गईहै। जिसे कदम्ब कहतेहैं ठीक उसीके सिधमें भगवान् परमेष्ठी है। उस स्थान पर दृष्टि जमाकर विष्णुप्राणकी आराधना की जासकती है। कदम्ब कोई नक्षत्र नही है। अपितु एक कल्पित बिन्दुहै। इसकी पहिचान ध्रुवहै। ध्रुव जिस स्थान परहै-उससे पूर्वोक्त वृत्त बनताहै। इसके केन्द्रमें जहां वासुकि सर्पका फणाहै उसके बीचमें इसकी सत्ता माननी चाहिए। हमारे वैज्ञानिक महर्षि विष्णुप्राणको आत्मसात करने के लिए घन्टों आकाश में इस कदम्बकी ओर आँख फाड़ २ कर देखा करते थे। जैसा कि ऋग्वेद के निम्न लिखित मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है—

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।

दिवीव चक्षुराततम्

(ऋ० मं० १ सू० २२ ऋक २० इति)

हमारा ध्रुव इस विष्णुपदकी २५ हजार वर्षमें एक परिक्रमा लगालेताहै। यह ध्रुव परिभ्रमणकाल हम शतायु मनुष्योंकी अपेक्षा बहुत लम्बाहै, अतएव हमारेलिए यह ध्रुवपरिक्रमा स्थितिभावसे कम माहात्म्य नहीं रखती। हम इसे अपनी १०० वर्षकी आयुमें स्थिरही देखतेहैं। परन्तु प्राकृतिक विज्ञानके आधारपर आपको यह विश्वास करना चाहिएकि ध्रुव वस्तुतः विचाल्नीही है। इस विषयमें युक्तिएं और प्रमाण बहुतसेहैं। परन्तु उनसबका यहां उल्लेख नहीं कियाजासकता। केवल एक ही प्रधान युक्ति-बतलाकर हम इसका घूमना सिद्ध करतेहैं। वह अकाट्य युक्तिहै 'अयनपरिवर्त्तन'। यदि ध्रुव सर्वथा स्थिर होतातो अयनपरिवर्तन कदापि संभव नहींथा। पृथिवीका विषुवद्वृत्त घूमताहै। यह कदापि स्थिर नहीं रहता। विषुवपरिवर्त्तनको ही अयनपरिवर्त्तन कहतेहैं। इस अयनकी परिक्रमा २५ हजार वर्षमें होती है। यह पार्थिव विषुव (अयन) ध्रुवसेबद्धहै यहपूर्वमें कहा-

जाचुकाहै। ऐसी अवस्थामें जबतक ध्रुवका परिभ्रमण नहीं होता, तबतक इस अयनकापरिभ्रमण कदापि संभवनहीं है। अयन परिवर्त्तनशीलहै इसमें प्रमाण बतलानें की आवश्यकताही नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लिखित भिन्न २ संपातही इसके परिभ्रमणमें दृढ प्रमाणहै। कौषीतकि श्रुतिमें रोहिणी नक्षत्रपर वसन्त संपात बतलायागयाहै। स्वयं शतपथनें कृत्तिकापर वसन्त संपातमानाहै(देखो शत० २ का० अग्न्याधानब्रा०के द्वितीयचरणपर)। हम उत्तरभाद्रपदपर संपातदेखतेहैं। इसहिसावसे यह विषुवत् आज कृत्तिकासे ५ नक्षत्र हटाहुआहै। प्रत्येकनक्षत्रके १३ अं० २० क० (तेरह अंश बीस कला) होती हैं। एवं प्रत्येक अंशको समाप्तकरनेमें विषुवत् को ७५ वर्ष लगते हैं। इस हिसावसे शतपथको बने करीब ५ हजार वर्ष होजाते हैं। इन संपात भेदोंसे ही ब्राह्मणादि वेदग्रन्थोंके कालका निर्णयहोताहै। किसीसमय मृगशिरापर वसन्त संपातथा। उससमय वहींसे वर्षारम्भ मानाजाताथा। उसी स्थितिको लक्ष्यमें रखकर 'मासानां मार्गशीर्षोऽस्मि' यह कहाजाताहै। बस इन भिन्न भिन्न वसन्त संपातोंसे हमें बाध्यहोकर अयन का परिभ्रमण मानलेनापड़ताहै। यह तभी संभवहै जबकि ध्रुवको विचाली मानलिया जाय। अपिच—किसीसमय अभिजित् नक्षत्रही ध्रुव मानाजाताथा हम बतलाआएहैं कि निराकार प्राणविन्दु का नाम ध्रुवहै। वह जहां रहतीहै परिचयार्थ उसके समीपके स्थूल तेजस्वी नक्षत्रका वह नाम रखदिया जाताहै। जिससमय अभिजितपर ध्रुवथा उससमय हमारे देशमें वेदविद्याका पूर्णउन्नतिथी। उन्नति का सम्बन्ध ध्रुवसेहै। जहां ध्रुव रहताहै वही दे सुसमृद्ध रहताहै। क्योंकि पार्थिव संपत्ति ध्रुवकेही आधीनहै। जैसाकि ऋग्वेदके निम्नलिखित मन्त्रसे स्पष्ट होजाताहै—

जज्ञानं सप्तमातरो वेधामशासतश्रिये।
अयं ध्रुवो रयीणां चिकेतयत्॥

(ऋक्सं० ९ मं० १०२ सूत्र ४ ऋक्) इति।

सुप्रसिद्ध सप्तर्षिकोही सप्तमाता कहतेहैं। यही ध्रुवको पहिचाननेका सरलउपायहै। सप्तर्षि आकाशके जिस (उत्तर) प्रदेशमें है उससे ठीक २४ वें अंशपर जो तेजस्वी नक्षत्रहै वही ध्रुवहै। सप्तर्षि घूमतेहैं। इनके परिभ्रमणामण्डलके केन्द्रमें (आजका) ध्रुवहै। लक्ष्मी, और मेधा दोनों इस ध्रुव (दर्शन) से बढ़तीहैं। क्योंकि यही ध्रुव सारी संपत्तियोंका प्रेरकहै। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण इतिहासहै। जब ध्रुव अभिजित्परथा तब भारतवर्ष समुन्नतथा। जब रूमदेशपरथा तब वह समुन्नतथा। मिश्रका सुप्रसिद्ध 'पेरामिड' इसी ध्रुवकालमें बनाथा। यहांसे हटकर ध्रुव पाश्चात्य (यूरोपादि) देशोंपरगया। जानेकी देरथी। वे देश चमकपड़े, एवं पीछलेदेश वैभवशून्य होगए। आज यह ध्रुव १२॥ हजारवर्ष समाप्तकर आधी परिक्रमा समाप्त करचुकाहै। एवं ईश्वरानुग्रहसे पाश्चात्यदेशोंसे उसके हटनेका समय आगयाहै जैसाकि वर्त्तमान परिस्थितियों से मालुम होताहै। जिसदिन १२॥ हजारवर्ष समाप्तकर ध्रुव पुनः अभिजित्पर आजायगा उसीसमय पुनः भारतवर्षमें वेदविद्या चमकपड़ेगी। इसी को युगपरिवर्त्तन कहतेहैं। इसी युगपरिवर्त्तनको लक्ष्यमें रखकर—

'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसापूर्वमनुज्ञातास्स्वयंभुवा ॥

इत्यादि कहाजाताहै।

बस इन्ही सारे पूर्वोक्त कारणोंसे हम ध्रुवको विचाली माननेंके लिए तय्यारहैं। इस ध्रुवपरिवर्त्तनके कारणही ध्रुवसे बद्ध प्राजापत्याग्निरूप पार्थिव सुमेरुभी बदलाकरताहै। यही कारणहै कि जो सुमेरु पुराणनिर्म्माण कालमें हिरण्यश्रृंग पर्वत समीपस्थ पामीर (प्राग्मेरु) परथा वह आज वहांसे हटकर पानीमें (समुद्रमें) आगयाहै। जिससमय मनुष्यब्रह्मा प्रकृतिके अनुसार इस भूमण्डलपर नई व्यवस्थाएं व्यवस्थित कररहेथे उससमय इन्होंनें अपने

रहनेंकेलिए इसी पामीरको पसन्दकियाथा। पामीर के हिरण्यश्रृंगपर्वतपरही ब्रह्माकी राजधानीथी। कारण इसका यहीथाकि सुमेरूरूप ब्रह्मा उससमय उसीस्थानपरथे। दूसरे शब्दों में उसी हिरण्यश्रृङ्गपर्वतपर उससमय सुमेरु बिन्दुथी। अतएव प्राकृतिक नियम व्यवस्थाओंके मर्मी ब्रह्माने उसी हिरण्यश्रृङ्गपर्वतपर अपना निवासस्थान बनाना उचित समझा। जिस हिरण्यश्रृंगपर्वतका हम जिकर कररहेहैं वह निरक्षवृत्तसे ९० अंशपरहै। निरक्षवृत्त लंकापरहै। विषुवद्वृत्तसे अक्षांशोका विभागहोताहै। अतएव इसे निरक्ष मानाजाताहै। इस निरक्षसे ध्रुवप्रदेश ९० अंशपरहै। इधर दक्षिण ध्रुवभी ९० अंशपरही है। बस निरक्षसे उत्तर ९० अंशतक हमारी भौमत्रिलोकी है। निरक्षसे पामीरतक (जोकि ९० अंशपरहै) पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, तीनलोकहैं। हैं क्या उससमयथे। आगेजाकर जिस दिव्यत्रिलोकीका हम स्वरूप बतलानेंवालेहैं इस भौमत्रिलोकीका स्वरूप उसीकेअनुसार बनायागयाथा जैसाकि वहीं स्पष्ट होजायगा। विषुवद्वृत्तसे शर्य्यणावत पर्वततक पृथिवी लोकथा। सुप्रसिद्ध 'रावी' नदी इसी शर्य्यणावत पर्वतसे निकलती है। यही नदी हमारे शास्त्रमें 'इरावती' नामसे प्रसिद्धहै। एवं यहांसे निषध पर्वततक अन्तरिक्षलोकथा। एवं इस निषधपर्वतसे पामीरतक स्वर्गप्रदेशथा। इस त्रिलोकी के पृथिवीके अधिपति अग्निदेवताथे, अन्तरिक्षके वायुथे, एवं धुलोकके आदित्य थे। अग्निही पृथिवी का भरणपोषण करतेहैं। प्रकृति

---

१ आज इस लंकाके विषय में भी बडा विवादहै। आजकल कितनेही विद्वान् सीलोनको ही लंकामानते हैं। परन्तु हम इसमें सहमत नहीं हैं। हमारे हिसाबसे सीलोन 'सिंहलद्वीप' है। एवं लंका हमारे शास्त्रमें निरक्षस्थानपर मानीजातीहै। उधर सिंहल ७=४० अक्षांशपर उपलब्ध होताहै। एवं हमारे शास्त्रोंमें द्वीपगणनामें लङ्का और सिंहल दोनों की पृथक् पृथक् गणना कीहै। ऐसे ऐसे अनेक प्रमाणहैं जिनके आधारपर हम सिंहलको लंकामाननेका प्रतिवाद करसकतेहैं। हमारे हिसाबसे आज लंका समुद्र गर्भमें विलीनहै।

में पृथिवी अग्निदेवता के अधीन है । अतएव यहां भी आग्नेय, वायव्य, ऐन्द्र इनमें से अग्नि जातिके अग्निदेवताकोही यहांका अध्यक्ष बनाया । यह पृथिवीलोक एवं अन्तरिक्षलोक दोनों स्वर्गाधिपति इन्द्रके आधीनथे । इन्द्रनें अपनी तरफसे पृथिवीलोकमें अग्निको प्रतिनिधि (वायसराय) बनाया था । भूलोकमे करलेकर स्वर्गमें पहुंचाना, पार्थिव प्रजाके अन्नादिका प्रबन्धकरना खासखास मनुष्योंको स्वर्गकेलिए प्रवेशपत्रदेना यह सबकाम इसी अग्निके अधीनथा । जिसपर इन्द्रकी विशेषकृपा होतीथी उसे वे स्वर्गमें बुलातेथे एवं जिसपर अत्यन्तही कृपाहोतीथी उसे अपनी सन्धि(सहभोज)में शामिल करतेथे । एवं उसे अपने बराबर आसन देतेथे। ऋभु, विभ्वा, वाज यहतीनों अपने शिल्पद्वारा प्रशिद्धहोकर इस सन्धिमें शामिल किएगएथे । यह तीनों मनुष्यथे । परन्तु इन्द्रकी कृपासे वे देवता बनादिएगएथे । इन्द्र दिनमें तीनबार भोजन करतेथ । तीनों समयमें सोमरस पीयाजाताथा । एवं तीनोंमें प्रमुखदेवगण शामिलरहतेथे । सोमपानके कारणही वेतीनों भोजन वेलाएं प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, एवं सायंसवन इन नामोंसे प्रसिद्धथीं । मान्धाता, नहुष, दिलीप, वैवस्वत, दुष्यन्त आदि भारतीय चक्रवर्तीराजाभी स्वर्गमें जाकर यह प्रतिष्ठा प्राप्त करचुकेथे। पार्थिवप्रजाका वर्णाव्यवस्थानुसार जैसा कर्त्तव्यथा वह इन देवेन्द्रद्वारा नियतथा । एवं उसके एवजमें उन सबके अन्न वस्त्रादिका प्रबन्ध स्वर्गकी औरसे होताथा । ब्रह्माके जेठे पुत्र ओंकारकी देखरेखमें वामदेव वसोर्धारा देशमें अन्नसम्बन्धी साराप्रबन्धकरतेथे । एवं चिकित्साकेलिए अश्विनी प्रमुख वैद्य नियतथे । इन्हें स्वर्ग से वेतन मिलताथा । एवं सत्र इन्हें निःशुल्क चिकित्सा करनी पडतीथी। यह देवता थे । देवता होकर यह मनुष्यलोकमें आकर मनुष्योंका संसर्ग करतेथे अतएव इन्हें पतितमानकर तत्कालीनदेवताओंनें कितनेही समयतक अपनी पङ्क्तिमें बैठकर भोजन करना बंदकरादिया । बादमें च्यवनकी कृपासे

पूर्वीयभारत हिन्दुस्तान नामसे प्रसिद्ध होगया। एवं इधरवाले (सिन्धुके पार वाले) पश्चिमी भारतको–'पारस्थान' नामसे व्यवहृत करने लगगए। आप जितने भी पारसी देखतेहैं सब वारुणाब्राह्मणहैं एवं जरथुस्त्र के अनुयायी हैं। जरथुस्त्रनें तबसे ही अपना स्वतन्त्र धर्म बनालियाथा परन्तु उससब का आधार यही वैदिक धर्मथा। यही कारण हैकि आजभी यहलोक ऐन्द्र ब्राह्मणों की तरह अग्निकी उपासना करतेहैं। यज्ञोपवीतके स्थानमें कटिमें सूत्र बांधतेहैं एवं रजस्वलादि के स्पर्शास्पर्श का जो विचार हमारेमेंहै उससे भी अधिक कट्टरताके साथ इनमें है। हमारी वेदभाषा 'छन्दोभाषा' कहलातीहै। उसकी नकलपर बनाहुआ इनका धर्म्मग्रन्थ 'जन्दावस्ता' कहलाती है। पूर्वीयभारत जैसे आर्यावर्त्त कहलाताहै, एवमेव यह पश्चिमी भारत आर्य्यायण कहलाताहै। यही आर्य्यायण निरुक्त क्रमानुसार आज 'ईरान' नामसे प्रसिद्ध होगयाहै इस भारतवर्षकी पूर्वीयसीमा पूर्वसमुद्र (चीनका–'यलोसी') है, एवं पश्चिमसीमा पश्चिमसमुद्रहै। इसीको 'भूमध्यसागर' कहतेहैं। एवं यही पुराणों में–'महीसागर' नामसे प्रसिद्धहै। पाश्चात्यभाषामें यही–'मेडिट्रेनियन्सी' नामसे पुकाराजाताहै। सोना, चांदी, एवं लोहा इनतीनों की विभिन्नस्थानों में तीन पुरिएं बनानेके कारण 'त्रिपुर' नामसे प्रसिद्ध महाबलवान् असुरको रुद्रजटा पर्वतपर रहनेंवाले भगवान् शङ्करने इसीस्थानपर त्रिपुरासुरको मारकर उसके त्रिपुरको विध्वंसकर इसी महीसागरमें डालाथा। अतएव आजभी पुराणों में यह स्थान परमपवित्र तीर्थ मानाजाताहै। यहींपर 'त्रिपुरी' स्थान अबभी मौजूदहै। यही त्रिपुरी आज 'ट्रिपुली' नामसे प्रसिद्धहै। इस त्रिपुरको नष्ट करनेके कारणही भगवान् शङ्कर 'त्रिपुरारी' नामसे प्रसिद्धहैं। यहहै हमारे भारतवर्षकी पश्चिमी सीमा जिसकाकि बाहरकी तड़क फड़कमें पडनेंके कारण हमें स्मरणभी नहीं हैं। इस भारतवर्षके सम्राट् वैवस्वत मनुथे। मनुके कारणही भारतीय प्रजा

मनुष्य कहलातीहै। एवं दूसरे स्वायम्भू नामके आदि मनु-'एशियामाईनर' में रहतेथे। यह कभी भारतवर्षमें नहीं आए। यहीस्थान 'स्वायम्भुवीदह-रैशिया' नामसे भी प्रसिद्धहै। इस भागमें रहनेवाली प्रजा जैसे मनुष्य कहलातीथी, एवमेव अन्तरिक्षमें रहनेवाली प्रजा मरुत्, एवं स्वर्गमें रहने-वाली प्रजा देवतानामसे प्रसिद्धथी। हिमालयतक मनुष्योंकी सत्ताथी। यहांसे अलतापी पर्वततक मरुतोंकी सत्ताथी। एवं यहांसे पामीरतक देवता-ओंका राज्यथा। दक्षिणसमुद्रसे (निरक्षवृत्तसे) सीधेउत्तर पामीरतक एक रेखा लेजाइए। एवं ४७ वें अक्षांशपर जाके उसरेखाको काटतेहुए दक्षिणो-त्तर एकरेखा और बनादीजिए। ऐसा करनेसे-अलतायीपर्वतसे (जोकि ३६ अक्षांशापरहै) पामीरतकके स्वर्गप्रदेशके चार टुकडे होजांयगे। इनचारोंमें पूर्व उत्तरके कोनेमें इन्द्रविष्टपथा। सुवीरोंके कारण यहभाग सौवी-र्य्य कहलाताथा। यही इन्द्रका राष्ट्रथा। एवं इनकी राजधानी 'अमरावती' नाम से प्रसिद्ध थी। यही देश 'एशियाईरूस' कहलाता है। आज जो प्रदेश न्यू साइवीरिया नाम से प्रसिद्ध है उसके और साइवीरिया के बीच में यह अमरावती थी। जिस अमरावती में किसी समय संसार की सर्वश्रेष्ठ सभ्यताका राज्यथा आज वही प्रदेश ध्रुवकी कृपा से हिमाच्छन्न होगयाहै। एवं आज यहां घोर असभ्यों की सत्ता हो रही है। इन्द्र की जो सभा थी उसका नाम 'सुधर्म्मा था'। इन्द्र को प्रतिदिन इसमें आना पड़ता था। प्रधान प्रधान देवता इनके सदस्य थे। अब चलिए वायव्यकोण की ओर। इसमें विष्णु रहते थे। यहां पर भद्रगिरि और चन्द्रगिरि नाम के दो पर्वत हैं। इन दोनों की सन्धि में ही विष्णु-भगवान् रहते थे। यही दूसरा विष्णुविष्टपथा। एवं नैऋतकोण में ब्रह्मविष्टपथा। यही तीनों देवस्वर्ग त्रिविष्टप नाम से प्रसिद्ध थे। एवं बाकी बचा हुआ जो चौथा अग्निकोण है, वहां पितर रहते थे। यही पितृस्वर्ग कहलाताथा।

जिसे आज 'मंगोलिया' कहा जाता है वही हमारा पितृस्वर्ग था। यह भूमि जंगल, पानी, बस्ती भेद से तीन भागों में विभक्त थी। जो वीरान जंगल प्रदेश था वह 'पीलुमती' कहलाती थी। आपोमयप्रदेश-'उदन्वती' कहलाती थी। एवं जहां पितर रहते थे वह प्रदेश 'प्रद्यौ' कहलाता था। प्रकृति में भी ऐसा ही है अतएव यहां भी वैसी ही रचना थी। इन तीनों प्रदेशों का स्वरूप बतलाते हुए वेद महर्षि कहते हैं—

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमती तु मध्यमा।
तृतीयाह प्रद्यौरिति यस्यां पितर भासते(अथर्व १८।२।४८)इति।।

पूर्वोक्त तीनों देवस्वर्गों का थोड़ा २ प्रदेश लेकर तीनोंकी सीमा में एक चौथा साधारण विष्टप बनाया गया था। यही 'ब्रध्नस्यविष्टप' कहलाता था। इसमें संपूर्ण देवताओं का समान अधिकार था। यहीं पर एक 'स्वर्गधरुण था, जिसका विशदस्वरूप ६ कां० २ प्र० २ ब्रा० में विस्तार के साथ बतलाया जायगा। यहां पर केवल पामीर की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना है। जिस हिरण्यशृंग पर्वत का पूर्व में उल्लेख किया गया है, उसका धरातल ४०-५० कोस चौड़ा है। एवं यह स्थान सब से ऊंचा है। अतएव पामीर का यह पश्चिम देश' 'तारतर' (अत्युच्च) कहलाता है। इसे ही वर्तमान में 'टारटरी' कहते हैं। इसी पर भगवान् ब्रह्मा का '[१]प्रागज्योतिष' शहर था। एवं ब्रह्मा की विचार सभा 'कान्तिमती' नाम से प्रसिद्ध थी। इस कान्तिमती की बैठक मास में एक बार होती थी। देवेन्द्र

१—पूर्व में पूर्णिया नाम का शहर है। महाभारत में इसको प्राग्ज्योतिष कहा है। परन्तु इसे पामीरस्थ प्रागज्योतिष से भिन्न समझना चाहिए। इस प्रागज्योतिष में (पूर्णिया में) सुप्रासद्ध नरकासुरका आधिपत्य था।

की सुधर्म्मा सभा में केवल देवता ही आते थे। परन्तु इस कान्तिमती में असुर और देवता दोनों आतेथे क्योंकि देवता और असुर दोनोंही प्रजापति को अपना पिता मानतेथे। दोनोंही इनकी आज्ञाके आधीन रहतेथे। जिस पहाड़ पर यह भगवान् ब्रह्मा रहतेथे उस हिरण्यशृङ्गमें चारों दिशाओं से चार नदिएं निकलती हैं। इन चारों में—उत्तर भाग में जाने वाली नदी भद्रसोमा कहलाती है। इसे पुराणों में—कहीं भद्रा, कहीं सोमा एवं कहीं भद्रसोमा, इस तीनों नामों से व्यवहृत किया गया है। यही भद्रसोमा आजकल 'ओवी' नाम से प्रसिद्ध है। दक्षिण में आने वाली नदी 'अलकनन्दा' कहलाती है। पूर्व में जाने वाली को 'सीता' कहते हैं। यही 'ह्वांगहू' कह, लाती है। एवं पश्चिम में जाने वाली यक्षु कहलाती है इन चारों गंगाओं की समष्टि ही—'चतुर्गंगम्' कहलाती है। इनमें दक्षिण भाग में आने वाली जो अलकनन्दाहै उसमें भागीरथी मिलतीहै। बस गंगाका जो माहात्म्य है वह इसी भागीरथी का माहात्म्य है। निरक्षवृत्त से ३७–१.४ अक्षांशापर एवं ७४–१.८ द्राघिमांशापर (देशान्तरपर) समुद्रपृष्ठ से १३००० अंश ऊंचा जो विष्णुसरोवर है, जिसके कि दक्षिण भाग में ही 'जन्हू' महर्षि का आश्रम है—यह भागीरथी निकली है। यही विष्णुसरोवर 'विन्दुसरोवर' नाम से भी प्रसिद्ध है। यही अलकनन्दा में आमिलती है। इस अलकनन्दा की आगे जाकर ७ शाखा हो जाती हैं। इन्हीं सातों शाखाओं को 'सप्तगंगम्' कहा जाता है। पूर्वोक्त 'चतुर्गंगम्' में हमने एक 'यक्षु' नाम की गंगा बतलाई है। इस यक्षु को चक्षु कहते हैं। एवं जम्बु भी इसे ही कहते हैं। 'यक्षु' इसका वैदिक नाम है, एवं चक्षु और जम्बु पौराणिक नाम है। पाश्चात्य भाषा में यही यक्षु निरुक्त क्रम के अनुसार 'एक्सस्' नाम में परिणत होगई है। यही नदी म्लेच्छभाषा में 'अमू' कहलातीहै। अमू शब्द जम्बू का ही अपभ्रंश है। इस नदी की बालुका में सोने की

कणिकाएं रहती हैं। पानी के बहाव के साथ साथ यह सुवर्णकणिकाएं बह बहकर आगे तक जाया करती हैं। क्योंकि यह सुवर्ण जम्बु नदी से निकलता है अतएव इसे 'जाम्बुनद' कहा जाता है। इसी सुवर्ण के सम्बन्ध से यह पर्वत 'हिरण्यशृंग' नाम से प्रसिद्ध है। इस हिरण्यशृंग पर्वत पर ही उस समय प्राकृतिक प्राजापत्याग्निरूपसुमेरु बिन्दु थी एवं यहीं पर मनुष्य ब्रह्मा रहते थे जैसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है। इस विषय के असली तत्व को न समझने के कारण भ्रमवश वैदिक विज्ञानज्ञान के अभाव के कारण पौराणिक रहस्य से अपरिचित कितने ही कहा करते हैं कि 'ब्रह्माजी सुमेरु पर्वत पर रहते हैं, एवं वह पर्वत सोने का है। ब्रह्मा अवश्य ही सुमेरु पर हैं। परन्तु वह कोई सोने का पर्वत नहीं है। वह तो हिरण्यरेता अग्नि का स्तूप है। एवं स्थिर रहनेके कारण उसे 'अचल' कह दिया जाता है। पर्वत भी स्थिर होने से अचल कहलाते हैं अतः पर्वत शब्द अर्थ समता के कारण इस अचलबिन्दु पर आरूढ़ हुआ होगा ऐसी संभावना है। उदयाचल का भी यही रहस्य है। ऐसे कोई दो पर्वत नहीं हैं जिनके पीछे से सूर्योदय होता हो, एवं जिसके पीछे सूर्यास्त होता हो। अपितु देश भेद के अनुसार पूर्वक्षितिज की उदयस्थानीया जो अचलबिन्दु है उसी का नाम 'उदयाचल' है। एवं पश्चिमक्षितिज के समीप की स्थिर अस्तबिन्दु अस्ताचल है। देश भेद के अनुसार सभी स्थानों में उदयाचल, अस्ताचल की सत्ता सिद्ध होजाती है। सारे प्रपञ्च से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि मणिजा जाति में ब्रह्मसत्ता स्थापन

---

१ जिन ज्ञानकल्प साध्य, बलप्रधान महाराजिक, अर्थप्रधान आभास्वर, एवं शिल्पप्रधान तुषित इन चारों जातियोंका पूर्वमें संक्षिप्त निरूपण आचुका है, वेही चारों जातियें 'मणिजा' नामसे प्रसिद्ध थीं। यह, इन चारोंका साधारण (व्यापक) नामथा। प्रसंगागत यहभी समझलेना उचित होगा—मणिजाओंमें जो साध्य जातियां उसके १२ विभागथे। महाराजिकोंके २२० भेदथे। आभास्वरोंके ६४ भेदथे। एवं तुषितोंके ३६ विभागथे। इतनी श्रेणियोंमें विभक्त यह चारों समुदाय 'मणिजा' कहलातेथे जैसाकि आगे आनेवाले आख्यानो पाख्यानोंमें प्रसंगानुसार समय समयपर स्पष्ट होतारहैगा।

करने वाले मनुष्य ब्रह्मा पुष्कर (बुग्वारा) में उत्पन्न हुए, एवं इन्होंने अपना निवासस्थान पामीर प्रदेश में हिरण्यशृङ्ग पर्वत पर बनाया। यहां रहकर इन्होंने इस भूमण्डल पर प्रकृतिवत् सारी व्यवस्थाएंकीं।

एक प्रकारसे त्रैलोक्य व्यवस्था बतलादी गई। अब दूसरे प्रकारसे त्रैलोक्यका स्वरूप बतलातेहैं। आजकल जिसे भूगोल कहा जाताहै. वही हमारे शास्त्रमें 'भुवनकोष' नामसे प्रसिद्धहै। विकासवादके अनुसार हमारे शास्त्रोमें तीन प्रकार के भुवनकोशों का निरूपण मिलताहै। वेतीनो भुवनकोश १ यज्ञभुवनकोश, २ पाद्मभुवनकोश एवं ३ वर्षभुवनकोश इन नामों से प्रसिद्धहैं। विज्ञानभूमिका यज्ञ (वेश्याप्रे निष्णात साध्यजातिने जिसक्रम से त्रैलोक्य व्यवस्थाकीथी वह 'यज्ञभुवनकोश' नामसे प्रसिद्धहुई जिसका कि अन्यत्र निरूपण कियाजायगा। एवं ब्रह्माने जो व्यवस्थाकी वह 'पाद्मभुवनकोश' कहलाई। अन्तमें तीसरी वर्षभुवनकाश नामकी व्यवस्थाहुई। बस प्रकृतमें इन्ही दोनोंकी ओर आपका ध्यान दिलातेहैं। हमने बतलाया है कि उत्तरध्रुवभी विषुवत् से ९० अंश परहै, एवं दक्षिणध्रुवभी ९० अंश परहै। दोनोंके मिलाने से १८० अंश होजातेहैं। पूर्वकी व्यवस्थामें हमने विषुवतको मध्यमें मानकर उत्तर ध्रुवपर्य्यन्त त्रैलोक्य बतलायाथा। परन्तु अब इस दूसरी व्यवस्थामें विषुवतको क्षितिजमानकर त्रैलोक्यका स्वरूप बतलाया जाताहै। दूसरे पाद्मभुवनकोशका इसी दूसरी व्यवस्थाकेसाथ सम्बन्धहै। प्राकृतिक मण्डलका स्वरूप कुछ औरहै, एवं दृश्यमण्डलका स्वरूप कुछ औरहै। पहिली व्यवस्था दृश्यमण्डलसे सम्बन्ध रखतीहै. एवं यह दूसरी व्यवस्था प्राकृतिकमण्डलसे सम्बन्ध रखती है। पृथिवी बृहतीछन्द (विषुवत) के मध्यमें प्रतिष्ठित सूर्य्यको मध्यमें रखकर उसके चारों ओर ४८ अंश के परिसरवाले क्रान्तिवृत्तपर घूमती है—यह बतलाया जाचुकाहै। इस घुमावमें दृश्यमण्डलके अनुसार पृथिवी हमें तिरछी घूमतीहुई

प्रतीत होतेहैं । अतएव हमें उत्तर एवं दक्षिण ध्रुव खस्वस्तिक एवं अधः स्वस्तिक (ठीक ऊर्ध्वभाग, एवं ठीक अधोभाग) में प्रतीत नहोकर तिरछे प्रतीत होताहै । ऐसी अवस्थामें विषुवत् हमारे त्रैलोक्यका क्षितिज नहीं होता । बस ऐसे विषुवतसे सम्बन्धरखनेवाली, दूसरे शब्दों में दृश्यमण्डलके विषुवत्से सम्बन्ध रखनेवाली जो त्रैलोक्यव्यवस्थाहै पूर्वमें उसीका निरूपण कियागयाहै । अब चलिए प्राकृतिक मण्डलकी ओर । प्रकृतिके अनुसार पृथवी तिरछी नहीं घूमती । अपितु वह एकदम सीधी घूमती है । ऐसी अवस्थामें उत्तरध्रुव उसके ठीक खस्वस्तिकपर आजाताहै, एवं दक्षिणध्रुव अधः स्वस्तिकमें आजाताहै । 'ऊंचा और नीचा, यह दोनों भाव इन दोनों ध्रुवोंसे सम्बन्ध रखतेहैं । यदि हमसे कोई पूछताहै कि बतलाओ ऊंचास्थान कौनसाहै ? एवं नीचास्थान कौनसाहै ? तो हम अपनी आंखों को शून्यआकाश की ओर करके उसी की ओर अंगुली करके कहतेहैं कि यह भाग ऊंचाहै, एवं नीचेकी ओर इशारा करके कहतेहैं कि यह नीचाहै । सचमुच दृश्यमण्डलके अनुसार (जिसकादि व्यावहारिक दृष्टिसे सम्बन्धहै) अंगुलि निर्दिष्ट प्रदेशही ऊंचा और नीचाहै । परन्तु यथार्थ में ऐसा नहींहै । प्राकृतिक मण्डलके अनुसार (जिसकाकि पारमार्थिक दृष्टिसे सम्बन्धहै) उत्तरध्रुव प्रदेश ठीक हमसे ऊंचाहै, एवं दक्षिणध्रुवबिन्दु ठीक हमसे नीचे है । ऐसी अवस्थामें पृथिवीका विषुवत् हमारे इस दूसरे त्रैलोक्यका विषुवत् बनजाताहै। एक गोलवृत्त बनालीजिए।उसे पृथिवी पिण्ड समझिए।इसपृथवीकी जो ऊपरकी बिन्दुहै,उसे सुमेरु समझिए,एवं सुमेरुके खस्वस्तिक भागमें उत्तरध्रुव समझिए । एवमेव नीचेकी अन्तिम बिन्दुको कुमेरु समझिए, कुमेरुके अधः स्वस्तिकभागमें दक्षिणध्रुव समझिए । इस व्यवस्थाके अनुसार सुमेरू ठीक केन्द्रमें होगा । एवं दक्षिणध्रुव इससे १८० अंश होगाः क्योंकि सुमेरुकी सिधमें उत्तरध्रुवहै, एवं दक्षिणध्रुव सदा उत्तरध्रुवसे १८० परही रहताहै ।

साथही में इस प्राकृतिक व्यवस्थामें भूमण्डलके दृश्य और अदृश्य दो विभाग होजातेहैं। सुमेरुको केन्द्र मानकर उस भूगोलके चित्रके चारों ओर एक वृत्त बनाली जए। बस इस वृत्तके ऊपरकाभाग दृश्यमण्डल होगा, नीचेकाभाग अदृश्यमण्डल होगा। पौराणिक परिभाषाके अनुसार इस दृश्य भूमण्डलका नाम त्रैलोक्यहै एवं अदृश्यभूमण्डलका नाम पाताल[२]है। कोई समयथा कि पातालमें विवास करनेवाले सुप्रसिद्ध शुम्भनिशुम्भ नामके महाअसुरोंनें त्रैलोक्यके 'माहिष्मती' नामके शहरमें अपनी राजधानी बनाकर देवताओंकी इस त्रिलोकी परभी अपना अधिकार करलियाथा। अन्तमें महाकालीनें—

त्रैलोक्यमिन्द्रो लभतां देवा सन्तु हविर्भुजः।
यूयं प्रयात पातालं यदि जीवितुमिच्छथ ॥ (सप्तशती)

कहतेहुए उनका विध्वंस कियाथा, एवं उनदोनों महा असुरोंके मारे जानेपर शेष असुर—

दैत्याश्च देव्या निहते शुंभे देवरिपौ युधि।
जगद्विध्वंसके तस्मिन् महोग्रेऽतुलविक्रमे॥
निशुंभेच महावीर्ये शेषाः पातालमाययौ (सप्तशती १२ अ०)

के अनुसार उसी अपने पाताललोकमें चलेगये थे। यह पाताल भूमिका वही नीचेका भागहै। कहना यहीही है कि मनुष्य ब्रह्मानें पृथ्वीका पद्ममाना जोकि प्रकृतिके अनुसार वास्तवमें पद्मही है जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट होजयगा। एवं मध्यकी सुमेरु विन्दुको कमलगट्टा मानकर वहांसे उस दृश्यमण्डलके चार विभाग किए। यही देवताओं

---

२ सप्तलोक, सप्तद्वीप, सप्तसमुद्र, सप्तपातालादि की व्यवस्था में जो पातालहै उसका स्वरूप इस पातालसे भिन्न समझना चाहिए।

का त्रैलोक्य कहलाया । एवं नीचेके कुमेरुको केन्द्र मानकर आसुरी त्रिलोकीका विभाग कर उसमें असुरों को प्रतिष्ठित किया । क्योंकि यह व्यवस्था पृथिवी को पद्म मानकरके की, अतएव यह भूगोलव्यवस्था 'पाद्मभुवनकोश' नामसे पुराणों में प्रसिद्ध हुई । सुमेरुको केन्द्र माननेसे विषुवत् पृथिवी का क्षितिज बनजाताहै यह पूर्वमें बतलाया जाचुका है। प्रत्येकवृत्त ३६० अंशका होताहै यह नियमित सिद्धान्त है, बस इस सिद्धान्तके अनुसार ३६० अंश वाले उस विषुवत् प्रदेशके सुमेरुको मध्यमें रखकर चार विभाग करादिए गए। यह चारों विभाग ९० ९० अंशके हुए । इन चारोंमें दक्षिणभाग भारतलोक कहलाया, पूर्वभाग भद्राश्वलोक कहलाया। उत्तरभाग कुरुलोक कहलाया, एवं पश्चिमभाग केतुमाललोक कहलाया । तीसरे वर्षभुवनकोशके अनुसार यही चारों लोक क्रमशः भारतवर्ष, भद्राश्ववर्ष, कुरुवर्ष, केतुमालवर्ष नाम से प्रसिद्ध हुए, जैसा कि अनुपदमें ही बतलाने वाले हैं । जैसे युरोपकी मध्यरेखा 'ग्रीनवीच' है, एवमेव हमारे भारतवर्षकी मध्यरेखा 'उज्जैन' है । जैसा कि अभियुक्त कहते हैं-

यल्लंकोज्जयिनी पुरोपरि कुरुक्षेत्रादि देशान् स्पृशत् ।
सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदितं सा मध्यरेखा भुवः ॥ १ ॥

बस इस मध्यरेखासे ४५ अंश पूर्व एवं ४५ अंश पश्चिमका जो ९० अंशका प्रदेशहै वही हमारा भारतवर्ष है । एवं पूर्वभाग के ९० अंशके आगेसे प्रारम्भकर ९० अंश आगेका भाग भद्राश्ववर्ष है। उससे आगे के ९० अंश कुरुवर्षहै । उससे आगेके पश्चिमभागके ९० अंश केतुमाल वर्ष है। उस पृथिवीपद्मके यही चार खण्ड चार पत्र हैं। सुमेरु

---

१ जिसे लोक भाषा में अहाता—किंवा हाता कहते हैं वही पौराणिक परिभाषामें विष्टप् कहलाता है। (इस टि०का सम्बन्ध पहिलेसे है)

बिन्दुके समीपका पामीरप्रदेशस्थ अत्युच्च आदर्शवत् समतल बड़ा लम्बाचौड़ा हिरण्यशृंग पर्वत इस पद्मके मध्य का भाग 'कर्णिका' (कमलगट्टा) है। इस स्वर्ग प्रदेशके भी चार खण्ड हैं । इन चारों खण्डों में तीन खण्ड देवस्वर्ग नामसे प्रसिद्ध था, एवं एक खण्ड पितृस्वर्ग नामसे प्रसिद्ध था । बस दूसरा यही पाद्मभुवनकोशहै ।

तीसरा है वर्षभुवनकोश । वर्षविभाग में पृथिवीके ९ खण्ड किए गएहैं । पामीरसे दक्षिणमें तीन खण्ड हैं । उत्तरमें तीन खण्ड हैं। पूर्व पश्चिममें एक एक खण्ड हैं । स्वयं पामीर नवां खण्ड है। इन खण्डों को विभक्त करने वाली स्तूप, प्रत्यन्त, कुल, शाखा आदि नामों से प्रसिद्ध पर्वतश्रेणिएं हीं हैं । पहिले भारतवर्षको ही लीजिये । भारतवर्ष के आगे उत्तर भागमें किंपुरुषवर्षहै । इन दोनोंके बीचमें हिमालय है । उत्तर दक्षिण भेदसे हिमालय दो श्रेणियोंमें विभक्तहै । इन दोनों के मध्य के स्थान 'द्रोणि' कहलाते हैं । यही द्रोणि पाश्चात्य भाषा में 'दर्रा' नाम से प्रसिद्ध है । यही सुप्रसिद्ध अन्तरित्त लोकहै । उत्तर हिमालयका जो एक स्तूप पर्वतहै वही कैलाश है। एवं दक्षिण हिमालय के स्तूपोंमें गौरीशंकर नामका पर्वतहै । इसे ही 'धवलगिरि' किं वा धौलागिरि कहते हैं। यही धवलगिरि 'एवरेस्ट' नाम से प्रसिद्ध है । इस उभयविध हिमालयने ही भारतवर्ष को किंपुरुषवर्षसे अलग छांट रक्खाहै । किंपुरुषवर्षके आगे हरिवर्षहै। इन दोनों की विभाजिका मध्यकी हेमकूट नामकी पर्वत श्रेणी है। हरिवर्षके आगे इलावृतवर्षहै। इन दोनोंके मध्यमें पामीरहै। यह हुआ दक्षिण प्रदेश का विभाग। अब चालिए उत्तर की ओर। इलावृतवर्षके समाप्त होते ही उत्तरभागमें पहिले हिरण्मयवर्ष है। अनन्तर रम्यकवर्ष है। दोनोंके मध्यमें पर्वत श्रेणीहै । रम्यकके आगे कुरुवर्ष है। दोनोंके मध्यमें पर्वत श्रेणीहै । इसप्रकार उत्तर,

दक्षिण, मध्यको मिला कर ७ वर्ष होजातेहैं । पूर्व पश्चिमके दो वर्षों केयोग से ९ वर्ष हो जाते हैं जैसा कि चित्रपट से स्पष्ट हो जाता है—

वर्षभुवनकोशका चित्रपटल ।
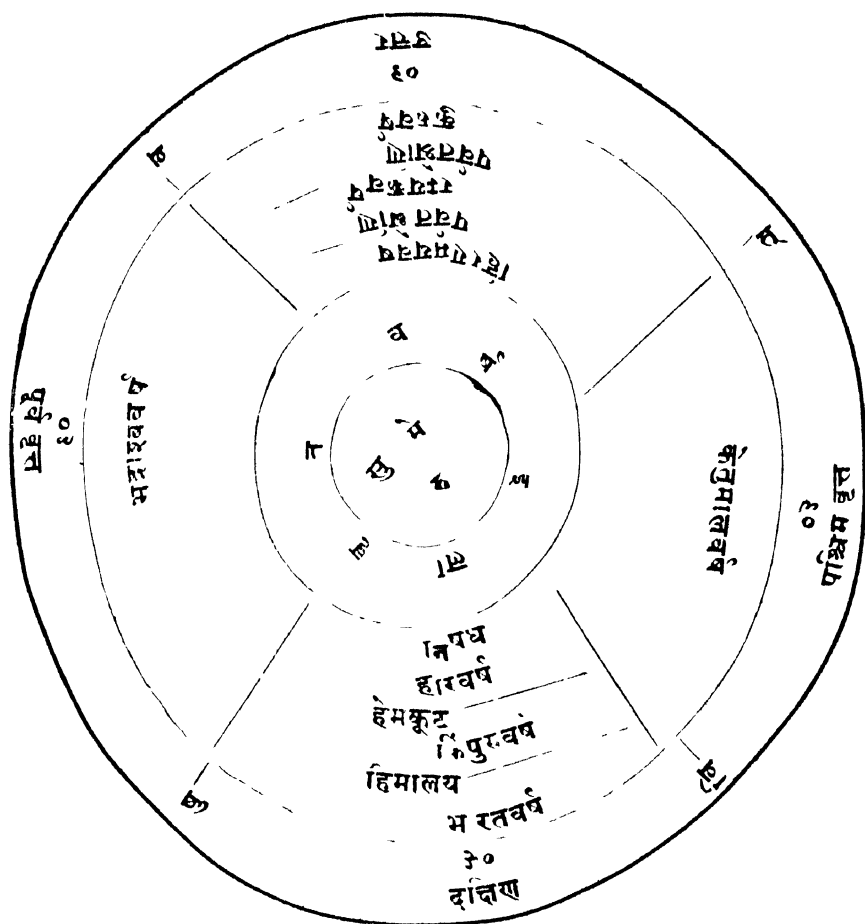
ऊपरके चित्रके मध्यका जो सुमेरुस्थानहै, वही ब्रह्माकी आवास भूमिथी । यही अमरों स्वर्गदेशथा । इस स्वर्गकी कीर्त्तिको प्रकाशित करनेकेलिए उस हिरण्यगृहगर्भनृतक पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण भाग के चारों कोनों पर बड़े बड़े लम्बे क्रमशः पीपल, जामुन, आम आदि के

चार वृक्ष लगा रक्खे थे। एवं इन चारों पर बड़ी बड़ी ध्वजाएं थीं। बस दूसरी यही त्रैलोक्य व्यवस्था थी। इस व्यवस्था में क्या प्रमाण है? इसके उत्तरमें महाभारत शान्तिपर्वके मोक्षधर्म नामके प्रकरणकी ओरही पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे। वहां विस्तारके साथ इस भौमस्वर्ग का निरूपण किया गया है। विषय आवश्यकता से अधिक लम्बा होगया है, अतः प्रमाणवाद के झमले में न पड़कर केवल तत् सम्बन्धी २-४ श्लोकों को उद्धृत करके इस प्रकरणको समाप्त करते हैं।

स्वर्ग किस स्थानपर है? उसका कैसा स्वरूपहै। पृथिवीको पद्म कहते हैं इसमें क्या प्रमाण है? सुमेरु पर ब्रह्मा रहते हैं यह किस आधार पर कहा गया है? इन सारे प्रश्नों का समाधान महाभारत के निम्नलिखित श्लोकों से होजाता है।

भृगुरुवाच—ततः पुष्करतः सृष्टः सर्वज्ञो मूर्त्तिमान् प्रभुः।
ब्रह्मा धर्म्ममयः पूर्वः प्रजापतिरनुत्तमः ॥ १ ॥
भरद्वाज उवाच—पुष्कराद्यदि सम्भूतो ज्येष्ठं भवति पुष्करम्।
ब्रह्माणं पूर्वजं चाह भवान् सन्देह एव मे ॥ २ ॥
भृगुरुवाच—मानसस्येह यामूर्त्तिर्ब्रह्मत्वं समुपागता।
तस्यासनविधानार्थं पृथिवी पद्ममुच्यते ॥ ३ ॥
कर्णिकान्तस्य पद्मस्य मेरुर्गगनमुच्छ्रितः।
तस्य मध्ये स्थितो लोकान् सृजते जगतः प्रभुः ॥ ४ ॥
भारद्वाज उवाच—प्रजाविसर्गं विविधं कथं स सृजते प्रभुः।
मेरुमध्ये स्थितो ब्रह्मा तद्भूद्द्विजसत्तम ॥ ५ ॥
भृगुरुवाच—प्रजापसर्गं विविधम्··············इत्यादि।
भरद्वाज उवाच—अस्माल्लोकात् परोलोकः श्रूयते नोपलभ्यते।
तमहं ज्ञातुमिच्छामि तद्भवान् वक्तुमर्हति ॥ ६ ॥

भृगुरुवाच—उत्तरे हिमवत् पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते ।

पुण्यः क्षेम्यश्च काम्यश्च स परोलोक उच्यते ॥ ७ ॥

तत्रह्यपापकर्म्माणः शुचयोऽत्यन्त निर्मलाः ।

लोभ मोह पीरत्यक्ता मानवा निरुपद्रवाः ॥ ८ ॥

स स्वर्गसहशोदेशस्तत्रह्युक्ताः शुभागुणाः ।

काले मृत्युः प्रभवति स्पृशन्ति व्याधयो न च ॥ ९ ॥

न लोभः परदारेषु स्वदारनिरतोजनः ।

नान्योऽन्यं बध्यते तत्र द्रव्येषु च न विस्मयः ॥ १० ॥

इह प्रजापतिः पूर्वं देवाः सर्षिगणास्तथा ।

इष्ट्वेष्टतपसः पूता ब्रह्मलोकमुपाश्रिताः ॥ ११ ॥

उत्तरः पृथिवी भागः सर्वपुण्यतमः शुभः ।

इहस्थास्तत्र जायन्ते ये वै पुण्यकृता जनाः ॥ १२ ॥

यदि सत्कारमृच्छंति तिर्यग्योनिषु चापरे ।

क्षीणायुषस्तथा चान्ये नश्यन्ति पृथिवीतले ॥ १३ ॥

अन्योऽन्य भक्षणासक्ता लोभ मोह समन्विता ।

इहैव परिवर्त्तन्ते नते यान्त्युत्तरां दिशम् ॥ १४ ॥ इत्यादि ॥

(महाभारत शान्तिपर्व-मोक्षधर्म्म १९२ अध्याय)

इस प्रकार अब तक के प्रकरण से 'प्राकृत ब्रह्म कहां रहते हैं ? एवं ब्रह्मा का निवास स्थान कौनसा था ! इन दो प्रश्नों का समाधान हो गया । अब क्रम प्राप्त इनका एवं इनकी व्यवस्थित की हुई व्यवस्थाओं का स्वरूप बतलाया जाता है । आशा है प्रेमी पाठक जरा अवधान के साथ आगे के विषय का अवलोकन करेंगे ।

"ब्रह्मा के चार मुख हैं । यह चतुर्मुख ब्रह्मा क्षीर समुद्र में शेष शय्या पर गहरी निद्रा में निमग्न विष्णु की नाभि से निकले हुए कमल

पर बैठ कर वेदों के द्वारा सारा संसार बनाया करते हैं।" इस सुप्रसिद्ध पौराणिक आख्यान से भारत का बच्चा बच्चा परिचित है। इस सारी कथा का गुह्य निहित रहस्य इस छोटे से ग्रन्थ सम्बन्धी प्रकरण में नहीं बतलाया जा सकता। समुद्र, शेष, विष्णु, कमल, इन सब के ऊपर से हम आपका ध्यान हटाते हैं, एवं केवल चतुर्मुख ब्रह्मा, एवं उनसे होने वाली सृष्टि इन दो बातों की ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं—

पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल क्षर एवं परात्पर इन चारों की समष्टि का ही नाम षोड्शी पुरुष' है। यह षोडशी आत्मा अणु से अणु एवं महान् से महान् सर्वथा विभक्त पदार्थों में अविभक्त रूप से (समान रूप से) विद्यमान है (गी० अ० १३ श्लो १६)। सोलहकलात्मक इस त्रिपुरुष पुरुषसे कोई भी स्थान खाली नहीं है—इसी विज्ञान के आधार पर 'षोडशकलं वा इदं सर्वम्' (कौ० ब्रा० १ अ० ८) यह कहा जाताहै। इस षोडशी पुरुषका पञ्चकलात्मक परापकृति एवं अव्यक्त नामसे प्रसिद्ध सेतुरूप जो अक्षर पुरुषहै, वही हमारे प्रपंचके आधार भूत भगवान् ब्रह्मा हैं। यही अव्यक्त तत्व सृष्टिमें सबसे पहिले व्यक्त होने के कारण प्रथमज कहलाता है। एवं विश्वाधार होनेसे इसको प्रतिष्ठा कहा जाताहै। (देखो श० ६ कां० १ ब्रा० ८ क०)। इसी अक्षर ब्रह्मा से अहःकाल में क्षर द्वारा सारा संसार उत्पन्न होता रहता है। यह स्थिति रूप ब्रह्मतत्वही अवस्था विशेषोंमें परिणित होता हुआ क्रमशः इन्द्र विष्णु अग्नि एवं सोम इन चार स्वरूपों में परिणित हो जाता है। पांचों अक्षर एक ब्रह्म है। पांचों एक वस्तु है। उस एकही तत्वका पहिला भाग (जोकि शेष चारों का मूलाधार होने से ब्रह्मा नामसे पुकारा जाता है) सारे विश्वका आधारहै। उसका दूसरा विष्णुब्रह्मभाग संसार का पालन करता है। तीसरा इन्द्रब्रह्मभाग विश्व का संहार

करताहै, एवं उसीके अग्निब्रह्म और सोमब्रह्म यह दोनों भाग संसार स्वरूप में परिणित होते हैं। वही संसार है। वही पालक है। वही संहारक है। वही आधार है। प्रभव प्रतिष्ठा परायण तीनों वही है। इन सारे विषयों का प्रथमांक और ३ अंक में विस्तार के साथ निरूपण किया जा चुका है। अतः प्रकृत में इस विषय में अधिक कुछ न कह कर केवल यही बतला देना चाहते हैं कि अक्षर पुरुष ही ब्रह्म नामसे प्रसिद्ध है। हमने अनुपद में ही बतला दिया है कि वह अक्षर पुरुष क्षर पुरुषसे सारा विश्व बनाया करता है। अक्षर एवं क्षर भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं। इस अभिन्नता का परिचय प्रकृति के रूप से भली भांति कराया जा सकता है।

'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' के अनुसार ईश्वरतत्व पुरुष और प्रकृति इन दो भागों में बंटा हुआ है' इस गीता सिद्धान्तके अनुसार दोनों ही तत्व नित्य हैं। इनमें प्रकृति भाग ही मत्र्य और अमृत भेद से दो भागों में परिणित हो जाता है। बस प्रकृति का अमृत भाग अक्षर नाम से पुकारा जाने लगताहै, एवं मर्त्य भाग क्षर नाम से व्यवहृत होने लगता है। अमृतमय अक्षर सृष्टिका निमित्त कारण बनजाताहै, एवं मर्त्यक्षर उपादान कारण बनजाता है, बाकी बचा हुआ अव्यय पुरुष इस व्यक्ताव्यक्त प्रपंचका पर (अन्तिम) एवं श्रेष्ठ (विकारशून्य) आलम्बन बन जाता है। प्रकृति का अमृत भाग एवं मर्त्य भाग दोनों समान विभागसे विभक्त होते हैं। अतएव जैसे अमृतमय अक्षर की ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम, यह पांच कलाएं होती है वेही पांचों कलाएं क्षर प्रकृति की हो जाती हैं। वे ही क्षर कलाएं प्राण, आप आप वाक्, अन्नाद, अन्न, इनामों से प्रसिद्ध हैं। इन पांचों मे चौथी और पांचवीं कलाएं यज्ञ के कारण—

द्वयं वा इदमत्ताचैवाद्यं चतग्रदा-उभयं समागच्छति,
अत्तैवाख्यायते माध्यम (श० १० का० ६। ३।)

इस सिद्धान्त के अनुसार एक स्वरूपमें परिणित हो जातीहैं। ऐसी अवस्थामें पांचकी अपेक्षा चारही कलाएं रहजातींहैं । इन चारों कलाओं के रूप में परिणित होकर ही वह अव्यक्ततत्व सृष्टिकी ओर अपना रुख करताहै, अतएव यह चारों कलाएं इस अक्षर ब्रह्माके चारमुख कहलातेहैं, जैसा कि पूर्व के अंकोंमें प्रकरण विशेषों में स्पष्ट किया जा चुका है। चतुर्मुख ब्रह्मा कौनसे हैं ? इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

यह चतुर्मुख ब्रह्मा क्षीरसमुद्रमें शेषशय्या पर सोनेवाले विष्णुके नाभिकमलपर बैठकर वेदोंकेद्वारा सारा संसार बनाया करतेहैं । सृष्टि निर्माण तबतक सर्वथा असंभव है जबतक कि वेदोंका सहारा न लिया जाय। वेद सृष्टिका पहिला एवं प्रधान आलम्बनहै । संसार में जितने भी पदार्थ उत्पन्न होते हैं उन सब में सब से पहिले वेद का जन्म होता है। इसी अभिप्राय से तो—

'वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे' (मनुः) यह कहा जाता है। वेद शब्द के कई अर्थ हैं। विद्यते, वेत्ति विन्दते—तीन प्रकार से वेद शब्द का निर्वचन किया जाता है। विद्यते का अर्थ है—वर्त्तमान। अस्तित्व के लिए ('है, के लिए) विद्यते का प्रयोग होता है। ज्ञान तत्व के लिए ('जानता है' इसके लिए) वेत्ति शब्द का प्रयोग होता है। 'एवं प्राप्त करता है' इस अर्थ में विन्दते प्रयोग होता है। है, जानता है, प्राप्त करता है, तीनों अर्थों के लिए वेद शब्द प्रयुक्त होता है। अस्ति भी

वेद है। ज्ञान भी वेद है। उपलब्धि भी वेद है। संसार में ऐसा कोई भी भौतिक पदार्थ नहीं है जिसमें सत्ता न हो। मनुष्य है, पशु है, पक्षि है, इस प्रकार मनुष्य पशु पक्षि आदि सभी भौतिक प्रपंचों के साथ अस्ति बैठा हुआ है। अस्ति के पेट में भूत (विषय) प्रतिष्ठित है। मन, प्राण, वाक् तीन तत्वों की समष्टि ही अस्ति है। मन ज्ञान प्रधान है। प्राण क्रिया प्रधान है। एवं वाक् अर्थ प्रधान है। मन प्रज्ञामात्रा है, प्राण प्राणमात्रा है। वाक् भूतमात्रा है। तीनों का समुच्चय ही अस्ति है। इस मनः प्राणवाङ्मय अस्तितत्व के अमृत और मर्त्य दो विभाग हैं। अमृत भाग को ही मन, प्राण, वाक् कहते हैं। एवं मर्त्य भाग नाम, रूप, कर्म्म नाम से प्रसिद्ध है। मन का मर्त्य भाग रूप है। मन ही घटपटादि के रूप में परिणित होता है। सारे रूपों का उक्थ (प्रभव) मन ही है। प्राण ही घटपटादि के कर्म्म में परिणित होता है। एवं नामों का वाक् से सम्बन्ध है। नाम रूप कर्म्म की समष्टि ही वस्तु है। घड़े का–'घड़ा' यह नाम है। रक्तादि रूप है। एवं उसमें एक व्यापार भी निरन्तर होता रहता है। बस नाम रूप कर्मात्मक घटविषय सत्ता के अस्ति रूप अमृत भाग में प्रतिष्ठित रहता है। दूसरे शब्दों में वेद के पेट में भूत बैठा है। वाक् मूर्ति निर्माण करती है। यही ऋग्वेद है। प्राण वस्तुगति (वस्तु व्यापार) का अधिष्ठाता है। यही यजुर्वेद है। एवं मन रूप का कारण बनता हुआ उस पिंड वस्तु का बड़ी दूर तक वितान कर देता है। एक तेजोमंडल बना डालता है। यही सामवेद है। सुतरां वेद का सर्वोपादानत्व सिद्ध हो जाता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर वेदभगवान् कहते हैं—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः, सर्वागतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्, सर्वंहीदं ब्रह्मणा (वेदेन) हैव सृष्टम् २

तै० ब्रा० ३।१२।८।) इति।

अस्ति भागका विचार होचुका । अब चलिए वेत्ति रूप ज्ञानकी ओर । अस्तिका ही ज्ञान होता है । अस्ति ही तो ज्ञान रूप में परिणत होती है । वेत्ति विश्वतेका ही दूसरा रूप है । अस्ति ही उपलब्धि (ज्ञान) है । इसी अभिप्रायसे—

अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कुतस्तदुपलभ्यते-(कठ उप-२ अ.३ व. १२ मं.) इत्यादि कहा जाता है। सुतरां वेत्तिकाभी वेदत्व सिद्ध होजाता है । तीसरा है विन्दते। ज्ञान द्वारा जो वस्तु प्राप्त होती है वह भी पूर्वकथनुसार वेद ही है । अस्तु इस विषय को हमें अधिक नहीं बढ़ाना चाहिए । वेदमें यदि कोई कठिन पदार्थ है तो वेद ही है । छन्दोवेद, रसवेद, वितानवेद भेदसे वेद तीन प्रकारका है । ऋक् छन्दोवेद है । यजु रसवद है एवं साम वितानवेद है । फिर प्रत्येक में तीन २ हैं । इन सारे विषयों का निरूपण आगे आने वाले—वेदसम्बन्धी प्रकरणों में किया जायगा । यहां पर केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि संसार का मूल उपादन वेद है । पहिले वेद उत्पन्न होता है अनन्तर वस्तु स्वरूप प्रकट होता है । भूत त्रयीवेद के भीतर रहता है । इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर वेदमहर्षि कहते हैं—

" सत्रय्यामेव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत् । एतद् वा अस्ति । एतद्धि अमृतम् । यद्ध्यमृतं तदस्ति । एतदु तद् यन्मर्त्यम् । त्रय्यांवाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि "-शत० १० । ३ । १ । २१ । इति ।

प्रजापतिने त्रयीविद्यामें ही सारे भूतोंके दर्शन किये । (वह त्रयी विद्या) वही यह अस्ति है । यही अमृत है । जो अमृत है वही है । एवं यही वह है जोकि मर्त्य (भूत) है—

तातपर्य्य यही है कि अस्ति अमृत भाग है, नामरूपकर्मात्मक विषय मर्त्य है । यह मर्त्यभागभी उसी मन प्राण वाङ्मय अस्तितत्व पर प्रतिष्ठित

है। इस सर्व मूलभूत वेदतत्त्वका प्रादुर्भाव पूर्वप्रतिपादित चतुर्मुख ब्रह्माके पहिले प्राण मुख से होता है। प्राण स्वयम्भू की वस्तु है। यहीं यह ब्रह्म-निश्वसित त्रयीवेद प्रकट होताहै। चार प्रकार की सृष्टियों में से पहिली यही सृष्टि है। यह वेद ब्रह्माग्निरूपहै। इसमें हमने ऋक, साम, यजु, तीन भाग बतलाए हैं। तीनों में ऋक् साम वयोनाध (छंद-आयतन) है, एवं यजु वय (छन्द से छन्दित वस्तु) है। इस यजु में यत् जू दो भाग हैं। यत् भाग गतिरूप प्राण है, जू भाग स्थिति रूप वाक् है। प्राण वायु है। जू आकाश है। केवल अग्निवेद सृष्टि करने में असमर्थ है। अतएव प्रजापति की इच्छासे यजु ब्रह्म के यत्रूप प्राण भाग के तप से (क्रिया रूप व्यापार से) उस जू रूप वाक भाग से सामवेद (अथर्ववेद) उत्पन्न होता है। वाक् ही आप बनता है। भृगु और अंगिरा की समष्टि का नाम ही आप है (देखो ४ अंक)। यही अथर्ववेद है। इन्हीं दोनों वेदों की उत्पत्ति बतलाते हुए वेदमहर्षि कहते हैं—

" सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत—भूयान्त्स्यां, प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत्। स तपोऽतप्यत। सश्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रयीमेवविद्याम। सैवास्मै प्रतिष्ठाऽभवत्। तस्मादाहु ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठेति। प्रतिष्ठाह्येषा यद् ब्रह्म। तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत। सोऽपोसृजत वाच एव लोकात्। वागेवास्यसासृज्यत। सेदं सर्वमाप्नोत यदिदं किंच। यदाप्नोत् तस्यादापः। यदवृणोत् तस्माद्वाः "—जब संसार न था तब केवल असत प्राण था। ऋषि प्राण ही असत कहलाता है। यह प्राण कुल सात जाति के थे। एवं सातों का सृष्टि के लिए समुच्चय रहता है। इन सातों की समष्टि ही सप्तपुरुषपुरुषात्मक एक प्रजापति है। यही ब्रह्मा है। इन्होंने 'मैं बहुत बनूं प्रजा पैदा करूं' इस इच्छा से तप श्रम किया। इस तप श्रम के द्वारा उन्होंने त्रयी विद्या उत्पन्न की। उत्पन्न करके

वे इसी त्रयी प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होगए। तभीसे 'ब्रह्मा ही (वेदमय ब्रह्मा ही) सबकी प्रतिष्ठा है। उस प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठा होकर प्रजापति ने पुनः तप किया। इस तपके द्वारा उन्होंने अपने वाक् लोक से (यजुर्वेद के जू भाग से) आप तत्त्व पैदा किया। (वाक् से विजातीय कोई आप पैदा नहीं किया अपितु) वह वाक् ही आप रूपमें परिणत होगई। इस आपके द्वारा यह ब्रह्माप्रजापति सर्वत्र आप्त होगए। सबको प्राप्त करलिया अतएव वाक् से उत्पन्न होने वाले इस तत्व का नाम 'आप' होगया। एवं इसीके द्वारा प्रजापति ने सबका संवरण करलिया अतएव इसका नाम ' वारि ' होगया-(शत० ६ कां। १ ब्रा०। १ प्रपा०। १ अध्या०। ८-९ कं०)। हम कह आए हैं कि त्रयीवेद में ऋक साम केवल आयतन मात्र है। सृष्टिका उपादान केवल यजुर्ब्रह्म ही है। इस यजुब्रह्म में चूंकि यत् और जू दो भाग हैं अतएव हम इसे 'द्विब्रह्म' कहने के लिए तय्यार हैं। अब चलिए आपरूप अथर्ववेद की ओर। भृगु और अंगिरा का नाम आप है। भृगुके घन, तरल, विरल अवस्था भेदसे आप, वायु सोम यह तीन भेद होजाते हैं। एवं इन्हीं तीन अवस्थाओंके कारण अंगिराके अग्नि, यम, आदित्य तीनविभाग हैं। क्योंकि आपरूप अथर्व ब्रह्मके ६ विभाग होजातेहैं अतएव इसे हम 'षड्-ब्रह्म' कहनेके लिए तय्यारहैं। द्विब्रह्म अग्निहै। षड्ब्रह्म सोमहै। प्रसंगागत एकबात और समझलेनी चाहिए। बिना इच्छाके प्राणव्यापार नहींहोता, बिना प्राणव्यापारके वाक् व्यापार नहींहोता। मन, प्राण, वाक् तीनोंके व्यापारके अनन्तरही नवीनवस्तुकी उत्पत्ति होतीहै। हमजब पुस्तक लिखने बैठतेहैं तो लिखनेसे पहिले तदनुकूला इच्छाहोतीहै। इच्छाके अनन्तर प्राणव्यापार (कोशिश-चेष्टारूप अन्तरंग व्यपार) होताहै। अनन्तरश्रम (हस्त व्यापर) होताहै। श्रमके अनन्तर पुस्तक तय्यार होतीहै। बस इसी साधारण सृष्टिविज्ञानको बतलानेके लिए ' सोऽकामयत ' ' स तपोऽतप्यत '

'सोऽश्राम्यत्' यह कहाजाताहै। कामना मनका व्यापारहै। तप प्राणका व्यापारहै। एवं वाग्-व्यापारकोही श्रम कहतेहैं। इच्छा कामनाहै। यत्न-चेष्टा तपहै। भूतव्यापार (शरीर व्यापार) श्रमहै। यह तीनों (काम-तप-श्रम) सृष्टिके सामान्य (साधारण) अनुबन्धहैं। भाव, गुण, विकार, मिथुन आदि चाहे कोई सृष्टि हो बिना इनतीनों अनुबन्धोंके वह कथमपि सम्भव नहीं है। बस इन्हींतीनों अनुबन्धोंसे प्रजापतिने षड्ब्रह्म, एवं द्विब्रह्म पैदा किया। बस द्विब्रह्मगर्भित ब्रह्माग्निरूप अग्निवेद, एवं आपरूप षड्ब्रह्म नामसे प्रसिद्ध सोमवेदसे ही आगेकी सारी सृष्टिएं होतीहैं।

द्विब्रह्मरूपको-आग्नेय होनेसे वेद कहा जाताहै। एवं प्रजापतिके स्वेद (पसीना) रूप षड्ब्रह्मको सोममय अतएव शान्त होनेसे सुवेद कहाजाता है। त्रयीब्रह्म सुब्रह्महै। अथर्ववेद इसब्रह्मका पसीनाहै। अतएव इसे सुवेद कहतेहैं। सुवेदही परोक्ष प्रियदेवताओंकी परोक्षताके कारण स्वेदवेद कहा जाताहै। जैसाकि निम्नलिखित गोपथ श्रुतिसे स्पष्ट होजाता है।

'ब्रह्मवा इदमग्र एक आसीत्। हन्ताहं मदेव मन्मात्रं द्वितीय देवं निर्ममे इति। तदभ्यश्राम्यत्। अभ्यतपत्। समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्य ललाटे स्नेहो यदार्द्र्यमाजायत तेनानन्दत्। तमब्रवीत् महद्वै यक्षं सुवेदमविदामहै-इति। तद्यदब्रवीत् सुवेदमविदामहै-इति तस्मात् सुवेदोऽभवत् तं वाए तं सुवेदं सन्तं 'स्वेद' इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इवहि देवा भवन्ति, प्रत्यक्षद्विषः—(गोपथ ब्रा० १।१)

बस अग्निरूप द्विब्रह्ममें प्रजापति-सुब्रह्मरूप सोमवेदकी उसीके मातरिश्वावायुद्वारा आहुति डालते हैं। दूसरे शब्दोंमें मातरिश्वावायु द्वारा षड्ब्रह्म सोमकी द्विब्रह्माग्निमें आहुति होतीहै। इससे एक नया स्वरूप बन जाताहै। बस इसी नवीन तत्वको उपनिषदोंने 'शुक्र' नामसे व्यवहृत कियाहै।

दार्शनिक परिभाषामें यहीशुक्र 'महान्' नामसे प्रसिद्ध है। यही महान् संसारका मूलकारण है। इसीशुक्रका निरूपण करती हुई ईश श्रुति कहतीहै।

'स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू र्याथातथ्यतोर्थान् विदधाच्छाश्वतीभ्यः–
समाभ्यः' (ईशोपतिषत्) इति।

इस मन्त्रका वैज्ञानिक अर्थ हमारे लिखे हुए ईशोपनिषत्के भाषाभाष्यमें देखना चाहिए। प्रकृतमें केवल यही समझलेना पर्य्याप्त होगाकि वेद संघातरूप यही शुक्रतत्त्व किंवा महद्ब्रह्म आगेकी सारी सृष्टियोंका उपादान है अतएव इसे 'शुक्र' कहा जाताहै। प्रजाके उपादान कारणको ही शुक्र कहा जाताहै। 'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदु नात्येतिकिञ्चन' के अनुसार यही ब्रह्म संसारका स्वरूपहै। इससे बाहर कुछ नहीं है। विश्वकी अन्तिम सीमा यहीहै। 'शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः' (मुण्डकोपनिषत् ४।१) के अनुसार शुक्रसे बहिर्भूत पुरुषात्माका साक्षात् करनेवाले धीर विद्वान्ही इस शुक्रका अतिक्रमण करनेमें समर्थ होसकतेहैं। शुक्ररूप आपही ब्रह्मका दूसरा मुखहै। प्राण पहिला मुखथा। उससे वेद (त्रयीवेद) प्रादुर्भूत हुआथा, आप दूसरा मुखहै। इससे सुवेद उत्पन्न होताहै। यहहै ब्रह्माकी पहिली वेदसृष्टि।

वेदके बादहै लोक। इसीपूर्वोक्त शुक्ररूप आपोमुखसे लोकसृष्टि होती है। भूः, भुवः, स्वः आदि सातों लोकोंका उपादान पानीहै। लोक इसी आपो मुखपर प्रतिष्ठितहैं। जैसाकि श्रुति कहतीहै–'आपो वै सर्वाणि भूतानि' (श० १० कां। ५। ४। १४)। इसीश्रौत विज्ञानका लक्ष्यमें रखकर आपकी व्यापकता बतलातेहुए भगवान् व्यास कहतेहैं—

अप्सु तं मुञ्च 'भद्रं ते' लोकाह्यप्सु प्रतिष्ठिताः।
आपोमयाः सर्वरसाः "सर्वमापोमयंजगत" ॥
(महाभारत आदि १८० इ.

आपके बाद तीसराहै वाङ्मुख। इससे प्रजासृष्टि होतीहै। देवता, गन्धर्व, मनुष्य, पशु, पत्ति आदि सारा प्रजाओंका प्रभव, प्रतिष्ठा परायण यही वाक् तत्वहै। प्राणमुख स्वयम्भूहै। आपोमुख परमेष्ठीहै। एवं वाङ्मुख सूर्य्य है।

'नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूता अयन्नर्थः कृएवन्नपांसि।

प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः' इत्यादि श्रुति वचन—

वाङ्मय सूर्य्यको ही प्रजाका उपादान बतलातेहैं। प्रजासृष्टि वाक्से ही होतीहै इसका निम्नलिखित तैत्तिरीय श्रुतिसे और भी स्पष्टीकरण होजाताहै। तैतिरि भगवान् कहतेहैं—

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः, पशवो, मनुष्याः।

वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता सानो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥

(तै० ब्रा० २।८।८।४।५) इति।

एवं अन्नगर्भित अग्निरूप चौथे अन्नादमुखसे धर्म्मसृष्टि होतीहै। बस ब्रह्माके चारोंही मुखहैं, एवं उनसे ४ प्रकारकी सृष्टिएं होतीहैं। महाभारतादि में इन चारों सृष्टियोंका बड़े विस्तारसे निरूपण कियागया है। अधिक जिज्ञासा रखनेवालों को महाभारतका यत्रतत्रस्थ सृष्टि प्रकरण देखनाचाहिए। जिन सृष्टियोंका विकास प्रारम्भमें हुआथा उनमें वही क्रम चला आरहाहै। इसप्रकार प्राण, आप, वाक्, अन्नान्नाद भेदभिन्न इनचारों मुखसे चर्तुमुख नामसे प्रसिद्ध आदिब्रह्मा पहिले वेद उत्पन्नकर उसकेद्वारा विश्व, एवं विश्वमें, रहनेवाली, प्रजा, एवं उनके धर्म्मोका (स्वरूप धर्म्मोका) निर्म्माण किया करतेहैं। ब्रह्मात्तर स्वयंपञ्चकल है। पांचों पिण्डोंके केन्द्रमें वह ब्रह्मात्तर प्रतिष्ठितहै। वेद और सुवेद से ब्रह्मा इन पांच पुरोंको उत्पन्नकर 'तत सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस श्रौतसिद्धान्तके अनुसार इन पांचोंके केन्द्रमें प्रतिष्ठित होजातेहैं। इनपांचोंपुरोंकी समष्टि ही-एक अण्डहै। यह अण्ड ब्रह्माके वेद

ब्रह्मवेदसे उत्पन्न होताहै, अतएव इसे 'ब्रह्माण्ड' कहा जाताहै । जैसाकि निम्नलिखित वाजसनेय श्रुतिसे स्पष्ट होजाता है—

"सोऽकामयत—आभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेयेति । सोऽनयात्रया विद्यया सहापः प्राविशत् । तत आण्डं समवर्त्तत—इत्यादि ।श०६।१।१।१०

इस पंचात्रय ब्रह्माण्डके भीतर ब्रह्माण्ड के नायक पंचकलोपेत भगवान् ब्रह्मा कमलासन पर विराजमान होकर इसका संचालन कररहेहैं। अक्षर ब्रह्मा बिना क्षरके रह नहीं सकते, सुतरां—स्वयम्भू आदि पांचों में प्रत्येकमें पांचों अक्षरों, एवं पांचों क्षरोंकी सत्ता सिद्ध होजाती है। इस प्रकार यद्यपि स्वयम्भू आदि पांचोंमेंही पांचों हैं। इसीलिए यह पांचों पंचजन कहलातेहैं । तथापि प्रधानता क्रमशः पाचोंमें ब्रह्मअक्षर प्राणक्षर, विष्णुअक्षर आपक्षर, इन्द्रअक्षर-वाकक्षर, सोमअक्षर अन्नक्षर, एवं अग्नि-अक्षर अन्नादक्षरकी ही है । अक्षर-ब्रह्मा क्षरप्राणमय है। इसकी प्रधानता स्वयंभूमण्डल में है। अतः वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः" जो जिसमें प्रधान रहता है वहां वही गृहीत होताहै) इस शारीरिक सिद्धान्त के अनुसार स्वयम्भू ब्रह्ममण्डल कहलाता है। अक्षर विष्णु क्षरआपोमय है । इसकी प्रधानता परमेष्ठीमें है। अतएव परमेष्ठी विष्णुलोक कहलाता है । अक्षर इन्द्र क्षरवाङ्मय है । इसकी प्रधानता सूर्यमें है । अतएव सूर्य इन्द्रलोक कहलाताहै। अक्षरसोम क्षरअन्नमय है। इसकी प्रधानता चन्द्रमा मेंहै। अतएव चन्द्रमा सोमलोक कहलाता है। अक्षरअग्नि क्षरअन्नादमय है। इसकी प्रधानता पृथिवी में है। अतः 'अग्निर्भूस्थानः' इस निरुक्त सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी अग्निलोक कहलाता है। वस्तुतः पांचों २ लोक है। क्योंकि पांचों में पांचों अक्षर एवं पांचों क्षर हैं। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्निसोम, पांचों ही ब्रह्मा हैं। ब्रह्मा की अवस्था विशेषों को ही विष्णु आदि कहते हैं । (देखो ३ अंक)। इस प्रकार पांचों ब्रह्माण्डों में, अथवा ब्रह्माण्ड के पांचों

अवयवों में ब्रह्मा की सत्ता सिद्ध होजाती है। अन्तर केवल इतना ही है कि स्वयंभू का ब्रह्मा प्राणप्रधान है। इसे ही स्वयम्भू में प्रतिष्ठित रहने के कारण स्वयंम्भू कहते हैं। परमेष्ठी का ब्रह्मा आपप्रधान है। इसे परमेष्ठी कहते हैं। सौर ब्रह्मा वाक्प्रधान है। एवं हिरण्यरेता अग्निमय सौर मण्डल के केन्द्रमें रहनेके कारण इसी सौरब्रह्माको 'हिरण्यगर्भ' कहा जाताहै। हमारी रोदसी त्रिलोकीमें सबसे पहिले उत्पन्न होने वाला, रोदसीकी द्यावापृथिवी को प्रतिष्ठित रखने वाला—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

इत्यादि रूपेस उपवर्णित यही सौर हिरण्यगर्भ ब्रह्मा है। चान्द्र ब्रह्मा सोमप्रधान है। एवं यही 'निधन' नामसे प्रसिद्ध है। चन्द्रमा पर सृष्टिक्रम समाप्त हो जाताहै, अतएव इसके ब्रह्मा को निधन कहा जाता है। एवं पृथिवी के ब्रह्मा—अग्निप्रधान हैं। यहांके ब्रह्मा 'पद्मभूः' 'कमलोद्भव' इत्यादि नामों से व्यवहृत होते हैं। यद्यपि कोषकार ने स्वयम्भू, परमेष्ठी, हिरण्यगर्भ, निधन, पद्मभू आदि को परस्परमें एक दूसरे का पर्याय बतलाया है। परन्तु जैसे वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार देव एवं देवता शब्द परस्पर एक दूसरे के पर्य्याय नहीं होसकते। एवमेव कोषकार का बतलाया हुआ स्वयम्भू परमेष्ठी आदि का परस्पर का पर्याय सम्बन्ध भी वैज्ञानिक दृष्टि से उचित नहीं बतलाया जासकता। स्रष्टा, प्रजापति, चतुरानन, लोकेश, विश्वसृट्, विधि, धाता, इत्यादि नाम सबके साधारण हैं। परन्तु स्वयम्भू-परमेष्ठी, कमलासन आदि नाम सर्वथा नियत हैं जैसा कि पूर्व के निरूपण से पाठकों को भली प्रकार से विदित हो गया होगा। अस्तु इन पांचों ब्रह्माओंमें से केवल पार्थिव कमलोद्भव ब्रह्मा

की ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं। क्योंकि ऐतिहासिक पार्थिव मनुष्य ब्रह्मा के एवं ब्रह्माकृत चतुःसृष्टि के प्रभव प्रतिष्ठा परायण यही प्राकृतिक नित्य सुमेरु पर्वत बिन्दुस्थ नित्य ब्रह्मा हैं।

'अद्भ्यः पृथिवी' (पानी से पृथिवी उत्पन्न होती है) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी का उपादान पानी है। रुद्रवायु के प्रवेश से बुद् बुद पैदा हो जाता है। उस पर यदि बारबार पानी का आक्रमण होता है तो बुदबुदावच्छिन्न पानी और वायु दोनों प्रतिमूर्च्छित होजाते हैं। इसीको 'फेन' कहते हैं। बस इसी क्रम से वही पानी रुद्रवायु के प्रवेश से, दिन की गर्मी से, रात्रि की सर्दी से क्रमशः आप, फेन, ऊषा (खार), सिकता (चिकनी मिट्टी), शर्करा (बालू मिट्टी) आदि आठ अवस्थाओं में परिणित होता हुआ पृथिवी स्वरूप में परिणित हो जाता है। (देखो श० ७ कां) पानी को ही पुष्कर कहते हैं। वास्तव में पानी का नाम पुष्कर नहीं है। अपितु पानी के ऊपर जो एक हरी-हरी काई जम जाती है, जिसमें कि सूक्ष्म दो पत्ते और एक वृन्त होता है इसीका नाम पुष्करपर्ण है। यह तमाम पानी को रोक लेती है। यही बड़ा रूप धारण करके शैवालादि रूप में परिणित हो जाती है। आगे जाकर उसके बड़े २ गुच्छे हो जाते हैं। इस प्रकार इस पुष्करपर्ण की—अनन्त जातिएं हो जाती हैं। यही अन्त में रुद्रवायु से रूक्ष होकर मिट्टी के स्वरूप में परिणित हो जाते हैं। अतएव हम अवश्य ही आप रूप पुष्कर को, किंवा पुष्करपर्ण को पृथिवी का उपादान मानने के लिए तय्यार हैं। पृथिवी इन्हीं पुष्करों की समष्टि है। अतएव ब्राह्मणग्रन्थों, एवं पद्मपुराणादि में पृथिवी को पद्म नाम से व्यवहृत किया है। बस इस पद्मरूप पृथिवी में वह आग्नेय ब्रह्मा विराजमान है। ब्रह्मा अग्निमय है। पृथिवी आपोमयी है। पद्मरूपा है। एवं जैसे कमल का पत्ता पानी पर तैरा करताहै एवमेव यह पृथिवी अपने चारों ओर व्याप्त रोदसी के अर्णव समुद्र में पत्ते की भांति तैर रही

है। इसकी योनि वही ब्रह्माग्नि है। इसी पार्थिव आग्नेय ब्रह्मसम्बन्धी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर वेद भगवान कहते हैं—

"आपो वै पुष्करपर्णम्। यथा ह वा इदं पुष्करपर्णमप्स्वध्याहितम्— एवमियमप्स्वध्याहिता। सेयं योनिरग्नेः। इयं ह्यग्निः—समुद्रो हीमामभितः पिन्वेत। शत० ७।४।१।८।इति० ॥

बस इसी पद्मासन पर पद्मासन लगा कर भगवान् ब्रह्मा विराजमान हैं। पांचों लोकोंके ब्रह्माओंको वेद, लोक, प्रजा, धर्म्म यह चारों सृष्टिएं करनी पड़ती हैं। परन्तु इतना अवश्य है कि—स्थान, काल, ब्रह्मा, एवं उपादान मात्रा, भेद से पांचों मंडलों की चारों सृष्टियों का स्वरूप भिन्न भिन्न होजाता है। पहिले स्वयम्भू को ही लीजिए। यहां का वेद ब्रह्मनिश्वसित है। लोक-सत्य है। प्रजा ऋषि है। धर्म्म—ज्ञानमात्रा का प्रसार करना है। परमेष्ठी का वेद 'ब्रह्मस्वेद' है। लोक जनत् है। प्रजा-पितर असुर है। इसका धर्म सन्तान सूत्र का तनन करना है। सूर्यवेद गायत्रीमात्रिक है। इसीको पौरुषेय वेद कहते हैं। स्वयम्भू का ब्रह्मनिःश्वसितवेद अपौरुषेयथा, यह सौरवेद पौरुषेय है। लोक स्वः है। प्रजा देव है। धर्म्म आत्मज्योतिका—प्रसार करनाहै। चन्द्रमा का वेद अथर्वा है। लोक भुवः है। प्रजा गन्धर्व है। धर्म सोम का प्रसार, एवं गंधर्व प्राण द्वारा उसकी रक्षा करना है। पृथिवी का वेद यज्ञ-मात्रिकहै। लोक भूः है। प्रजा—पशु, औषधि, वनस्पति, पक्षि, मनुष्यादि है। धर्म्म—वैश्वानराग्निकाप्रसार एवं अन्नादिका परिपाक करनाहै। स्व०प०केबीच में एक सूत्रवायु है। उसी स्थानका नाम तपोलोक है। सूर्य पर० के बीचमें शिव वायुहै। इसीको महर्लोक कहतेहैं। एवं सू०पृ० के बीचमें रुद्रवायुहै, अतएव इसे भुवर्लोक कहते हैं। चन्द्रमा भी यहीं रहता है। अतएव भुवर्लोक चन्द्रमा का लोक भी कहलाता है। इस प्रकार इन सन्धि भागों से ४ के सात लोक हो जाते हैं। आगे लिखी तालिका से ऊपर का सारा विषय स्पष्ट समझ में आजाता है।

	ब्रह्मा		वेद	लोक
मौनसी कल्पनी मैथुनी	स्वयंम्भू	=	ब्रह्मनिश्वसित	सत्यलोक
	× सूत्रात्मा	=	×	तपलोक
	परमेष्ठी	=	ब्रह्मस्वेद	जनलोक
	× शिवात्मा		×	महर्लोक
	हिरण्यगर्भ	=	गायत्रीमात्रिक	स्वर्लोक
	× निधन = रुद्रात्मा	=	अथर्व ×	भुवर्लोक
	कमलोद्भव	=	यज्ञमात्रिक	भूलोक

प्रजा	धर्म्म	आवासभूमि
ऋषि १२	ज्ञानप्रसार	स्वयम्भू
प्राणात्मकवायु	×	× अन्तरिक्ष
पितर ८ असुर ९९	सन्तानसूत्रका तनन	परमेष्ठी
शिववायु	×	× अन्तरिक्ष
देवता ३३	आत्मज्योतिका प्रसार	सूर्य्य
गन्धर्व २७ रुद्रवायु	सोमका प्रसार-सोमरक्षा	× चन्द्रमा
मनुष्यादि	वैश्वानर प्रसार अन्नादिका परिपाक	पृथवी

यह है प्राकृतिक नित्य ब्रह्मा का संक्षिप्त स्वरूप, एवं उनके कार्यों का सूक्ष्म निदर्शन। बस इस नित्य ब्रह्मा की अवतारभूत मनुष्य ब्रह्मा ने भी प्रकृति के ब्रह्मा की तरह केवल इस भूमण्डलमें ही चार प्रकार की सृष्टिएं की। आज जो वेद ग्रन्थ आपको उपलब्ध होतेहैं। वह इन्हीं मनुष्य ब्रह्माकी कृपा थी। प्रकृतिवत् सबसे पहिले इन्होंने वेद सृष्टिकी। क्योंकि वेदज्ञानपर ही आगे का सारा प्राकृतज्ञान अवलम्बित है। वेद के अनन्तर उन्होंने प्रकृतिवत् लोक संस्थाएं बनाईं। एवं लोकानुसार ही यज्ञविद्या द्वारा, एवं प्रकृति से सिद्ध—तत्तत्प्राणदेवताओं को तत्तत् मनुष्य समाजोंमें विभक्त कर तत्तल्लोकों में उन२ समाजों को अधिकारानुसार प्रतिष्ठित किया। यह प्रजा

विभाग ही उनकी तीसरी प्रजासृष्टि थी। प्रजासृष्टि के अतिरिक्त—वर्ण सृष्टि, एवं गोत्रसृष्टि भेद से दो प्रकार की सृष्टिएं और की। प्रकृतिमण्डल में देवताओं में चारों वर्ण हैं। जिस वर्ण के देवता की जिस आत्मा में प्रधानता रहती है, जन्मना वह उसी वर्ण का कहलाता है। बस तत्त देवताओं से निर्म्मित तत्तन्मनुष्यों को समष्टि रूप से विभक्त करना ही तीसरी वर्णसृष्टि है। एवं स्वयम्भू के भिन्न २ ऋषियों का भी जीवात्मा के साथ सम्बन्ध होता है। जिसमें जिस ऋषि की प्रधानता होती है वह उसी वंश का एवं उसी नाम से पुकारा जाता है। बस तत्तत् ऋषियों से निर्म्मित तत्तन्मनुष्यों को तत्तत् ऋषियों के विभाग से विभक्त करना ही गोत्रसृष्टि है। इन दोनों की व्यवस्था भी इन्होंने ही की। इन दोनों सृष्टियों का प्रजासृष्टि में ही अन्तर्भाव हो जाता है। क्योंकि इन दोनों का मनुष्य प्रजाओं से ही सम्बन्ध है। देवताओं में चातुर्वर्ण्य कैसे है? गोत्र प्रवर्त्तक ऋषि कौनसे हैं? इत्यादि प्रश्नों का समाधान इस छोटे से प्रकरण में नहीं किया जासकता। हम इस प्रकरणमें केवल देवताओं के स्वरूप का विचार कर रहे हैं। जब ऋषियों का, एवं वर्णव्यवस्थादि का स्वतन्त्र प्रकरण आवेगा, तब इन विषयों पर पूर्ण प्रकाश डाला जायगा। अभी इतने पर ही पाठकों को संतोष करना चाहिए। तीसरी सृष्टि का स्वरूप बतला दिया गया। इसके बाद है धर्म्मसृष्टि। भिन्न २ वरणों में विभक्त प्रजाओं के लिए भगवान् ब्रह्मा ने प्रकृतिसिद्ध चातुर्वर्ण्यादि धर्मों को प्रकट किया। यही चौथी धर्म्मसृष्टि कहलाई। इस प्रकार इस सारे प्रपंच का इस भूमण्डल पर रचना करने के कारण सुमेरु पर्वत पर रहने वाले आदि ब्रह्मा चतुर्मुख, सृष्टिकर्ता, पद्मयोनि आदि नामों से प्रसिद्ध हो गए। मनुष्य ब्रह्मा द्वारा निर्मित पूर्वोक्त चारों सृष्टियों में से प्रकृतमें हम वेद, धर्म इन दो सृष्टियों को छोड़ते हैं। यहां केवल मध्य

की लोक एवं प्रजा सृष्टि की ओर हम अपने वेदप्रेमी पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। भूमण्डल सम्बन्धी लोक प्रजासृष्टि का स्वरूप बतलाने से पहिले थोड़ी देर के लिए हम आपको आत्मगति से सम्बन्ध रखने वाले खगोलीय त्रैलोक्यविभाग की ओर ले चलते हैं—

१८ संख्यामें विभक्त हमारा पुराणशास्त्र कुल १८ विषयोंका ही प्रतिपादनकरताहै। ज्योतिष्चक्र एवं भुवनकोशका भी इन १८ विषयोंमें ही अन्तर्भावहै। भूगोलतत्वका प्रतिपादन करनेवाली विद्याही पुराणोंमें भुवनकोश नामसे प्रसिद्धहै। एवं खगोलको ही पौराणिक परिभाषा में ज्यौतिष्चक्र कहतेहैं। आत्मगतिसे सम्बन्ध रखनेवाले त्रैलोक्यका इन्हीं दोनोंसे सम्बन्ध है। पूर्वके प्रकरणोंमें (देखो शतपथ ६ अंक) यह बतलाया जाचुकाहै कि पृथिवी पिण्डका ठीक बीचोंबीचका जो अहोरात्र वृत्तनाम से प्रसिद्ध पूर्वावृत्त है, यही वेद में बृहतीछन्द प्रसिद्ध है। एवं आधुनिक ज्योतिष में यही विष्वद्वृत्त किंवा विषुववृत्त नामसे प्रसिद्ध है। एवं यह पृथिवीपिण्ड सूर्यको केन्द्र बनाकर जिस वृत्त के चारों ओर परिक्रमा लगाताहै, वही वृत्त 'क्रान्तिवृत्त' नामसे प्रसिद्धहै। यह क्रान्तिवृत्त तीन केन्द्रोंके कारण दीर्घवृत्त कहलाता है। अण्डाकार वृत्तको ही दीर्घवृत्त

पुराणशास्त्र के वे १८ विषय पुराणों में—

१ संचर (सर्ग-सृष्टि), २ प्रति संचर (प्रतिसर्ग-प्रतिसृष्टि-प्रलय), ३ वंश, ४ वंशानुचरित, ५ मन्वन्तर, (सृष्टिप्रलय के काल का विचार), ६ सिद्धान्त, ७संहिता, ८ डामर, ९ जामल. १० तन्त्र, ११ वेद (वेद की शाखाओं का, आविर्भावकों का विचार, १२ पुराण, (पुराणादि की संख्याओं एवं विषयों का विचार), १३ आख्यान, १४ उपाख्यान, १४ गाथा, १६ कल्पशुद्धि, १७ ज्योतिष्चक्र (खगोल विद्या), १८ भुवनकोष (भूगोल विद्या), इन नामों से प्रसिद्ध है। पुराण भी १८ ही हैं। प्रत्येक पुराण मे १८ हों विषयों का होना परम आवश्यक है। जिस पुराणमें यह विषय नहीं वह पुराण ही नहीं। इन १८ हों विषयों का निरूपण श्रीगुरुप्रणीत 'पुराण समीक्षा' नाम के ग्रन्थ में देखना चाहिए। यह ग्रन्थ रत्न अभी तक अमुद्रित ही है।

कहते हैं। तीन वर्तुल वृत्तोंकी परिधि मिलाकर तीनोंके चारों ओर एक रेखा खैंच दीजिए, वही दीर्घवृत्त बन जायगा। तीन वृत्तोंके कारण क्योंकि दीर्घवृत्तका स्वरूप बनताहै, एवं प्रत्येकमें स्वतन्त्र केन्द्रहै। अतएव हम वृत्त-त्रयोपेत इस दीर्घवृत्तको तीन केन्द्रोंसे युक्तमानके लिए तय्यार हैं। हमारा क्रान्तिवृत्त भी ऐसाही है। इसप्रकार जिसपर पृथिवी घूमतीहै वह भुवन कोश सम्बन्धी क्रान्तिवृत्तहै, एवं पृथिवीके मध्यका पूर्वापरवृत्त भुवनकोश सम्बन्धी विष्वदृत्तहै। जैसे भूगोलमें दो वृत्तहैं, ठीक इन्हींके सिध्मं खगोल मेंभी दोनोंकी कल्पना कीजाती है। भूगोलमें भी दोनोंहै, एवं उसीके अनुसार खगोलमें भी दोनोंहैं। खगोलीय विपुवत के ठीक मध्यमें भगवान् सूर्य्य प्रतिष्ठितहैं, अतएव इनकेलिए " सूर्य्योबृहती मध्यूढस्तपति " यह कहाजाता है। एक प्रकारसे इन दोनोंमें दोनों वृत्तोंकी कल्पना समानरूपा कही जासकती है। यह दोनों स्थानोंके दोनोंही वृत्त घटपटादि की तरंह कोई सत्ता सिद्धपदार्थ नहीं हैं। अपितु दोनोंही वृत्त काल्पनिक हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधर, दो तीन चार, पांच, परत्व, अपरत्व इत्यादि भाति सिद्ध पदार्थों की तरंह यह भी भाति सिद्ध ही हैं। ग्रह, नक्षत्रादि की विद्या सिखाने के लिए, एवं उनके द्वारा फलाफल का विचार करने के लिए इन दोनों की कल्पना करली गई है। इन दोनों में से हम पहिले खगोलीय विपुवदृत्त, एवं क्रान्तिवृत्त की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहतेहैं। चाहे वृत्त छोटे से छोटा हो, अथवा बड़े से बड़ा हो, परिभाषा के अनुसार प्रत्येक में ३६० अंश (डिग्री) माने जाते हैं। सुतरां खगोलीय वृत्तद्वय में भी ३६० अंशों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। एवमेव क्रान्तिवृत्त में भी ३६० अंशों की सत्ता सिद्ध होजाती है। इस क्रान्तिवृत्त के ठीक बीच में विषुवद् वृत है। इसी पर सूर्यसत्ता बतलाई गई है। बस विषुवत् से उत्तरं भाग में क्रान्तिवृत्तके १२-२४

क्रमशः इतने २ अंशों के अन्तर से, एवं इतने ही अन्तर से विषुवत् से दक्षिण भाग में इस क्रान्तिवृत्त को काटते हुए ६ पूर्वापर वृत्त और बनजाते हैं। सातवां स्वयं विषुव है। इस प्रकार कुल सात पूर्वापरवृत्त हो जाते हैं। इन्हीं को अहोरात्रवृत्त कहते हैं। इन्हीं को सूर्य्य के सात घोड़े कहते हैं। यही गायत्री, उष्णिकादि सात छंद हैं। ६ ठे अंक में इनका विस्तृत स्वरूप बतलाया जा चुका है। अतः प्रकृत में इस विषय में हम अधिक कुछ नहीं कहना चाहते। जैसे क्रान्तिवृत्त को काटते हुए ७ पूर्वापरवृत्त बनते हैं। एवमेव उत्तर एवं दक्षिण ध्रुवों को काटते हुए ३६० दक्षिणोत्तर वृत्त बनते हैं। मध्य रेखाका सम्बन्ध इन्हीं दक्षिणोत्तर वृत्तों से हैं। इन्हीं को 'याम्योत्तर' वृत्त भी कहा जाता है। क्योंकि यह ३६० वृत्त दोनों ध्रुवों में प्रोत (पूए हुए) रहते हैं। अतएव इन्हें ध्रुवप्रोतवृत्त भी कहा जाता है। यह प्रत्येक ध्रुवप्रोतवृत्त भी उसी पूर्व परिभाषा के अनुसार ३६० अंश का ही है। इनमें रात्रि के बारह बजे एवं दिन के बारह बजे को काटती हुई जो याम्योत्तर रेखा है वही 'मध्यान्ह रेखा कहलाती है। मित्रस्वरूप पूर्वकपाल एवं वरुण स्वरूप पश्चिम कपाल का विभाग इसी से होता है। रात्रि के १२ बजे से दिन के १२ बजे तक का भाग पूर्व कपाल है। इतने समय में सौर प्राण हमारी ओर रहता है। हमारे से मेल करता रहता है। अतएव यह भाग मित्र कपाल कह-लाता है। एवं दिन के बारह बजे से रात्रि के बारह बजे तक सौर प्राण हमसे विरुद्ध जाता रहता है। अतएव यह 'वरुणकपाल' कहलाता है। इसीलिए वरुण पश्चिम दिशा के लोकपाल कहलाते हैं। इन दोनों का सम्बन्ध उसी मध्याह्नरेखा पर होता है। पूर्व पश्चिम दोनों कपालों की समष्टि का नाम ही खगोल है। इस खगोलरूप विशाल अन्तरिक्ष में 'सोम' भरा हुआ है। इसी सोम को 'दिक्' सोम कहा जाता है। इससे कोई भी स्थान खाली नहीं है अतएव इसके लिए—

'स्वमातन्थोर्वान्तरिक्षम्' तुम इस विशाल अन्तरिक्ष में व्याप्त होरहेहो। ऋक् १।६१।२२)यह कहा जाता है। बस खगोल द्रोणकलश है। इसमें यही दिक्सोम भरा हुआ है। सूर्य प्रजापति यजमानहै। अग्नि, वायु, आदित्य (सूर्यान्तर्गत इन्द्रप्राण), चन्द्रमा इसके ऋत्विक हैं। इन ऋत्विजों के द्वारा सूर्य भगवान् इस सोम की आहूति देकर यज्ञ कर रहे हैं। एवं यज्ञ द्वारा सारी प्रजाएं उत्पन्न कर रहे हैं। इस कलश का मुख मध्याह्न रेखा के पास है। यहीं मित्रवरुण की सत्ता है। इस मध्याह्नरेखा का ही नाम 'उर्वशी' अप्सरा है। मध्याह्नरेखा दिग्रूपा है। दिक् को ही अप्सरा कहते हैं। जैसा कि श्रुति कहती है।

'विश्वाचीच घृताचीचाप्सरसौ। दिक्चोपदिशाचेति ह स्माह माहित्थिः"

(श० ८ ।६।१।१६इति)।

यह उर्वशी अप्सरा प्रजापति के यज्ञ में उपस्थित है। वहीं मित्रावरुण का उर्वशी को देख कर रेत स्खलित होता है। वह इसी स्थान पर द्रोण कलश में गिरता है। कुछ भाग बाहर जा गिरता है, कुछ भीतर जा गिरता है। जो भाग दक्षिण में जाकर गिरता है उससे अगस्त्य की उत्पत्ति होती है। जो भाग उत्तर में गिरता है, उससे वशिष्ठ उत्पन्न होते हैं। एवं जो भाग घड़े के मध्य में गिरता है, उससे मत्स्य का जन्म होता है। तीनों मित्रावरुण से उत्पन्न होते हैं। अतएव तीनों मैत्रावरुण कहलाते हैं। तीनों की ही उत्पति का आधार उर्वशी रूप मध्यान्ह रेखा है, अतएव पुराण एवं वेद इन्हें 'वेश्यापुत्र, कहता है। अस्तु इस कथा का वैज्ञानिक रहस्य फिर किसी आगे के प्रकरण में बतलाया जायगा। यहां पर हमें केवल मध्याह्न रेखा का परिचय मात्र कराना है। इस मध्याह्न रेखा के ठीक बीच में खगोलीय विषुवद्वृत्त है। उत्तर ध्रुव से दक्षिण ध्रुव १८० अंश पर है। यह आधा मध्याह्नवृत्त है। ऐसी अवस्था में खगोलीय विषुवद्-

वृत्त से ९० अंश उत्तर की ओर उत्तर ध्रुव की सत्ता सिद्ध हो जाती है, एवं ९० अंश दक्षिण की ओर दक्षिण ध्रुव की सत्ता सिद्ध हो जाती है। बीचमें विषुवत् है। बस उत्तर ध्रुवसे दक्षिण ध्रुव पर्यन्त १८० अंशात्मक इसी खगोल स्थान में आत्मगति से सम्बन्ध रखने वाले त्रैलोक्यका विभाग होता है। हम बतला आए हैं कि विपुवत् से १२-८-४ उत्तर, एवं १२।८।४। दक्षिण भाग में ६ वृत बनते हैं। इन पूर्वापरवृत सम्बन्धी सारे अंशों को जोड़ लिया जाता है तो कुल '४८' अंश होजाते हैं। इस ४८ अंशात्मक भाग की अन्तिम सीमा को घेरता हुआ जो दीर्घवृत्त बनता है इसे ही क्रान्तिवृत्त कहते हैं। अश्विन्यादि २८ नक्षत्र, बृहस्पति आदि ग्रह, राशि आदि सब इस परिसर के भीतर हैं। बस मध्याकाश का ४८ अंशात्मक नक्षत्र ग्रह राशि आदि युक्त यह भाग ही आत्मगति से सम्बन्ध रखने वाला 'पृथिवी' लोक है। अब चलिए अन्तरिक्ष की ओर। विपुवत् के दक्षिण भाग को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए, एवं उत्तर भाग की ओर दृष्टि डालिए। उत्तर भाग में—विषुवत् से ९० वें अंश पर हमने उत्तर ध्रुव की सत्ता बतलाई है। इन ९० अंशों में से १२-८-४ के अन्तर के कारण २४ अंश तो क्रान्तिवृत्त के भीतर ही आजाते हैं। दूसरे शब्दों में इतने अंश तो पृथिवीलोक के ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। शेष—६६, अंश बचते हैं। इनमें से ४२ अंशात्मक जो खगोल का भाग है, वही आत्मगति से सम्बन्ध रखने वाला अन्तरिक्ष लोक है। २५ वें अंश से ६६ वें अंश तक अन्तरिक्ष लोक है। इसके बाद २४ अंश शेष रह जाते हैं। २४ वें अंश पर (जोकि ९० वा पड़ता है) उत्तर ध्रुव है। बस इतने प्रदेश का नाम ही आत्मगति सम्बन्धी दिव्य किंवा स्वर्गलोक है। इस प्रकार २४,४२,४८ इन अंशों के हिसाब से क्रमशः खगोल में स्वर्ग, अन्तरिक्ष, पृथिवी तीन लोक हो जाते हैं। अब चलिए दक्षिण भाग की ओर।

दक्षिण भाग में भी विषुवत् से दक्षिण ध्रुव पर्यन्त ९० अंश है। इनमें २४ तो पृथिवी लोक में ही चले जाते हैं। शेष ६६ बचते हैं। दक्षिण के २४ वें से आगे ६६ तक ४२ अंशात्मक खगोल का भाग, 'पितृलोक' कहलाता है। इसे ही पितृस्वर्ग भी कहते हैं। इसके अनन्तर २४ अंश बच जाते हैं। २४ वें पर दक्षिण ध्रुव प्रतिष्ठित है। यही भाग अधोलोक है। इसे ही नरक कहते हैं। इस प्रकार उत्तर ध्रुव से दक्षिण ध्रुव तक के १८० अंशात्मक प्रदेश में आत्मगति से सम्बन्ध रखने वाले २४, ४२, ४८, ४२, २४, इस क्रमसे क्रमशः स्वर्गलोक, अन्तरिक्षलोक, पितृलोक, नरकलोक, यह चारलोक होजाते हैं। कुलको जोडदिया जाता है तो १८० अंश होजाते हैं। बस आत्मा जबकभी शरीर का परित्याग करता है, तब इन्हीं चारोंमें से किसी एकलोक की और उसे अपना रुख करना पड़ता है। जीवात्मा इन चारों लोकोंमें से किस लोकमें जाता है? इसका निर्णय सदसत् कर्म्मों पर निर्भर है। जो मनुष्य विद्यासमुच्चित प्रवृत्तिरूप यज्ञ तप, दान, कर्म्म करते हैं, वे अन्तरिक्षमें होते हुए स्वर्गमें जाते हैं। विद्या के उपासक ही इस मार्गमें जासकते हैं। इसी अभिप्रायसे श्रुति कहती है—

"विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः पराहताः।
न तत्र दक्षिणा (दक्षिण भागाधिकारिणः) यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः॥

जो इष्टा, पूर्त, दत्तरूप विद्यानिरपेक्ष प्रवृत्ति कर्म करते हैं, वे पितृलोक में जातेहैं। जो विद्यानिरपेक्ष शास्त्र निषिद्ध कर्म्म करतेहैं वे नरकलोकमें जाते हैं। तीनोंको इधर उधरही जाना पड़ता है। पृथिवीरूप ४८ अंशात्मक मध्याकाशमें जाना सामान्य आत्माओंका काम नहीं है। कारण इसका यही है कि इस भाग के मध्यमें सूर्य्य प्रचण्ड तापसे तप रहे हैं। यहां से बड़े वेगसे सौर तेज पृथिवीपर आक्रमण कररहा है। साथही में वह नक्षत्रादि भी इसी स्थानमें है। अतः सौर तेजके साथ साथही इनका तेजभी

वेगसे हमारे भूमण्डलपर आक्रमण कररहा है। इस आक्रमण को आत्मा नहीं सहसकता। अतएव उसे उसके इधर उधर होकर ही जाना पड़ता है। इधर उधर सौर, नक्षत्रादि तेज सीधा नहीं जाता अतः उसे पार करनेमें यह समर्थ होजाता है। बस जानके मार्ग दो ही हैं। अन्तरिक्ष द्वारा स्वर्गमें जाना पहिला मार्ग है। यही देवयान है। इसीको शुक्ल मार्ग कहते हैं। इधरकी ओर ४२ अंशात्मक वही पूर्वोक्त पितृस्वर्ग है। इसेही पितृयाण कहते हैं। यही कृष्ण मार्ग है। इन्हीं दोनों मार्गोंका निरूपण करते हुए वेदभगवान् कहते हैं--

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥

इसी श्रौतअर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए स्मार्त्ताचार्य कहते हैं—

१ शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वती मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्त्तते पुनः—गीता ८। २६। इति।

परन्तु जो विद्यासमुच्चित निवृत्ति कर्म्मद्वारा अपनी बुद्धिका महदक्षर के साथ योगकरता हुआ बुद्धियोगी बनजाता है, उसका आत्मानिर्धूत पाप्मा होताहुआ स्वच्छ एवं बलवान होजाताहै। इसमें उस धक्केको सहने की शक्ति आजाती है। बस ऐसा योगी ही अपने ब्रह्माण्ड का (कपालका) भेदन करताहुआ उन दोनों मार्गोंके मोहमें न पड़ उनकी उपेक्षा करताहुआ सीधा चलाजाता है। सूर्य्य तक ही जाकर नहीं रहजाता अपितु सूर्य्य का भी भेदनकर उधर वाले अपुनर्मार नामके पारमेष्ठ्य लोकमें चलाजाता है। इसीको 'सूर्य्यभेदी' कहते हैं। इसीके लिए 'न स पुनरावर्त्तते न स पुनरावर्त्तते' वहां गए बाद वह वहांसे नहीं लौटता-यह कहाजाता है। यह गति

---

१ आत्मगति विद्याका विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन गीताके वैज्ञानिक भाषाभाष्यमें देखना चाहिए। यह ग्रन्थ अभीतक अमुद्रित है।

गति नहीं है। मुक्ति है। एक प्रकारका अपर कन्नाका समवलय है। अतएव गीतादिमें दो ही गतिएं बतलाई हैं। योगीकी इगी तीसरी गति की विलक्षणता बतलाते हुए आगे जाकर भगवान् कहते हैं--

नैतेसृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥

अपिच-वेदेषु यज्ञेषु तपःसुचैव, दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत् सर्वमिदं विदित्वा योगी परंस्थानमुपैति चाद्यम्॥
(गी० ८। २७-२८।) इति।

बहुत हुआ। एक बात और बतलाकर इस प्रकरणको समाप्त करते हैं। मध्यके ४८ अंशात्मक खगोलीय पृथिवीलोकमें सौर अग्निकी सत्ता है, यह अग्निही इस पृथिवीलोक का अधिष्ठाता है। अन्तरिक्षमें वायुकी सत्ता है। इसलोकमें इसीका राज्य है। एवं उस स्वर्गमें ध्रुवका राज्य है। इस ध्रुवमें एक बिजली रहती है। सूर्य्यसे भी एक बिजली निकलती है। इसका भौतिक पदार्थोंसे सम्बन्ध है। सूर्य्यके ऊपर अविवाक्यमहः, एवं महाव्रत नामसे प्रसिद्ध २५ वें अहर्गणसे भी एक बिजली निकलती है। सूर्य्यसे ऊपर सोममय परमेष्ठी है। वहींसे यह विद्युत् निकलती है, अतएव इसे सौम्यविद्युत् कहाजाता है। आत्मामें यही बिजली आती है। इसीप्रकार ध्रुवसे भी बिजली निकलती है। इसी विद्युतके आकर्षण सूत्रमें यह महा भूमण्डल गेंदके समान बद्ध होरहा है। लौहचुम्बकमें जो आकर्षण शक्ति देखीजाती है वहभी इसी ध्रुव विद्युतका प्रभाव है। विद्युत् साक्षात् इन्द्र है। स्वर्ग स्थानमें यही प्रतिष्ठित है। बस स्वर्गका अधिष्ठाता यही ध्रुवात्मक विद्युत इन्द्र है। अब चलिए दक्षिणकी ओर। शनिका नामही यमराज[१] है।

१ यमराजका क्या स्वरूप है? क्या वह मनुष्याकार है? क्या सुप्रसिद्ध भैंसा उसका वाहन है? उसके पाश का क्या स्वरूप है? इत्यादि विषयों का विस्तृत विवेचन कठोपनिषत् के भाष्यान्तर्गत नचिकेता और यमके सम्वादमें देखना चाहिए। यह ग्रन्थ अभीतक अमुद्रित है।

वीथिएं क्रमशः—उत्तर भागकी ओर से प्रारम्भ कर—१ नागवीथी, २ गज वीथी, ३ ऐरावती वीथी, ४ आर्षभी वीथी, ५ गोवीथी, ६ जारद्गवी वीथी ७ अज वीथी, ८ मार्गी वीथी, ९ वैश्वानरी वीथी, इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं। वायु पुराणमें इन सबका विस्तृत निरूपण कियागया है। इन ९ ओंमें उत्तर भागमें सबसे अन्तमें नागवीथी है। इधर सबसे अन्तमें वैश्वानरी वीथी है। क्रान्तिवृत्तकी उत्तरीय अन्तिम सीमा नागवीथी है। क्रान्तिवृत्त की दक्षिण भागकी अन्तिम सीमा वैश्वानरी वीथी है। इस क्रान्तिवृत्तके उत्तर भागमें हमने ४२ अंशका अन्तरिक्ष बतलाया है। एवं इसीको देवयान मार्ग कहा है। इसके आगेही सप्तर्षि है। ध्रुवसे २४ अंशके अन्तर पर सप्तर्षि घूमते हैं। सुतरां यहांतक देवयान की सत्ता सिद्ध होजाती है। अब चलिए दक्षिण भाग की ओर। वैश्वानरी वीथी क्रान्तिवृत्तकी अन्तिम सीमा है। इसके आगे ४२ अंशात्मक पितृयाण मार्ग बतलाया है। दक्षिण ध्रुवसे २४ अंश उत्तर अगस्त्य है। सुतरां अगस्त्यसे उत्तर एवं वैश्वानर से दक्षिण पितयाणकी सत्तासिद्ध होजाती है। इसी मार्ग रहस्यको लक्ष्यमें रख कर भगवान् व्यास कहते हैं—

“ उत्तरं यदगस्त्यस्य, अजवीथ्याश्च दक्षिणम्।
पितृयाणः स वै पन्था वैश्वानरपथाद्बहिः ॥१॥
नागवीथ्युत्तरं यच्च, सप्तर्षिभ्यश्च दक्षिणम्।
उत्तरः सवितुः पन्था देवयान इति स्मृतः ॥२॥ इति ॥

यह है—आत्मगतिसे सम्बन्ध रखनेवाली नित्य ब्रह्माद्वारा निर्मित नित्य त्रैलोक्य व्यवस्थाका सूक्ष्म निदर्शन। बस इसी लोक, लोकाधिपति, प्रजा आदि व्यवस्थाके अनुसार मनुष्य ब्रह्माने इस पृथिवीलोकमें चतुर्लोक व्यवस्थाकी थी जैसाकि निम्नलिखित प्रकरणसे स्पष्ट होजायगा।

पृथिवीतलके विषुवत् (निरक्षवृत्त) से सुमेरु ६० अंशपर है। यही सुप्रसिद्ध प्राग्मेरु (पामीर) है। प्रकृतिमें पृथिवीलोकका सम्बन्ध विषुवत् से है। अतएव भौमब्रह्माने पृथिवी पिण्डपर इस पृथिवीके पूर्वोक्त विषुवत् से ही क्रमशः पृ० अ० द्यौ इन तीनों लोकोंको व्यवस्थित किया। प्रकृतिमें ६० अंशपर स्वर्ग प्रदेश है। उसी प्रकार ब्रह्माने उसी ६० अंशवाले पामीर को स्वर्गस्थान माना। प्रकृतिमें पृ० द्यौ दोनोंके मध्यमें अन्तरिक्ष है, अएतव यहांभी पार्थिवविषुवके बीचमें अन्तरिक्षलोक माना। प्रकृतिमें तीनों लोकोंके अग्नि, वायु, इन्द्र क्रमशः यह तीन देवता अध्यक्ष हैं, तदनुसारही इस भौमत्रिलोकोंमें भी क्रमशः तीनों लोकोंमें अग्नि, वायु, इन्द्र इन तीन देवताओंको प्रतिष्ठित किया। अग्निको पृथिवीका अधिपति बनाया, यही पृथिवीलोक इस भरत अग्निके कारण भारतवर्ष कहलाया, एवं यहांकी प्रजा 'मनु' के आधिपत्यके कारण 'मनुष्य' कहलाई। अन्तरिक्षमें वायुकी सत्ता प्रतिष्ठित की। यहांकी प्रजा तिर्य्यग्योनि (विद्याधर, अप्सर, गंधर्व आदि) नामसे प्रसिद्ध हुई। एवं द्युलोकका शासन इन्द्रके अधिकारमें दिया, यहांकी प्रजा देवता कहलाई। इस व्यवस्थासे पहिले देवता और मनुष्य दोनों इसी भारतवर्षमें रहते थे। असुरोंने सारे भूमण्डलपर अपना आधिपत्य जमारखा था। ब्रह्माकी कृपासे बादमें यह स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित हुए। एवं स्वर्ग जाते हुए इन देवताओंने अग्निको इस भूमण्डलका अध्यक्ष बनाया, जैसाकि निम्नलिखित श्रुतिसे स्पष्ट होजाता है—

" अस्मिन् वै लोके–उभये देवमनुष्या आसुः। ते देवाः स्वर्गलोकंयन्तोऽग्निमूचुः त्वं नो अस्य लोकस्याध्यक्ष एधीति "–(कौ० ब्रा० १। १। इति)।

जो महानुभाव हमारे इतिहाससे सर्वथा अपरिचित रहते हुए हम भारतीयोंको बाहरसे आनेवाले बतलाते हैं, उत्तरभागस्थ पामीरसे भारत

में आर्योंका आगमन बतलाते हुए हमारा स्वत्व (मौरूसी हक) इस देशमें से हटाकर अपने समान हमें भी आगन्तुक बतलाकर राजनीतिचक्रमें डालकर हमें धोकादेना चाहते हैं, उन्हें पूर्वके निरूपणसे अपना भ्रम छोड़देना चाहिए। पामीरसे हम यहां नहीं आए हैं, अपितु हमारेमें रहने वाले देवता उलटे पामीरमें जाकर बसे हैं। अस्तु यह विषय अप्राकृत है। यहां हमें यही बतलाना है कि पूर्व कथनानुसार तीनों लोकोंमें क्रमशः तीन मनुष्य देवता प्रतिष्ठित हुए, एवं प्रकृतिके अनुसार ब्रह्मा सुमेरुपर प्रतिष्ठित हुए। हम कह आए हैं कि भारतीय प्रजा मनुके शासनके कारण मनुष्य कहलाती थी। स्वर्गमें रहने वाले देवता भी कभी २ हमारे लोकमें आया करते थे। इनके ठहरनेका स्थान इस लोकमें नियत था। स्वयं ब्रह्माने भी इस देश पर दो तीनबार कृपाकी है। सबसे पहिले वे पुष्करमें ठहरे हैं, अनन्तर प्रयागमें, अनन्तर कुरुक्षेत्रमें ठहरे हैं। इन तीनोंमें तीसरा कुरुक्षेत्रही इन देवताओंके ठहरनेका प्रधान स्थान था। जैसे राजपूतानान्तर्गत अजमेरस्थ पुष्कर असली पुष्कर नहीं है, इसी प्रकारसे इन्द्रप्रस्थके समीप वाला हमारा पहिचाना हुआ कुरुक्षेत्रभी असली कुरुक्षेत्र नहीं है। कुरुक्षेत्र तीन हैं, पुष्करभी तीन हैं। एक कुरुक्षेत्र, एक पुष्करका सम्बन्ध तो प्रकृतिसे हैं। एवं शेष दोनों हमारे भूमण्डलमें ही है। सारा पृथिवीपिण्ड पुष्करपर्ण से निर्म्मित होनेसे वास्तवमें पुष्कर है। इसमें नित्य आग्नेय पार्थिव ब्रह्मा प्रतिष्ठित है। पूर्वके प्रकरणोंमें हम बतला आए हैं कि ब्रह्मा जब रहते हैं पुष्करमें ही रहते हैं। इस परिभाषाके अनुसार पांचों नित्य ब्रह्माओंको पुष्कर मेंही प्रतिष्ठित मानना पड़ता है। पार्थिव ब्रह्माका पुष्कर पृथिवी का गोला है। सौर हिरण्यगर्भ ब्रह्माका पुष्कर अमृता पृथिवीका पुष्करद्वीप है। अमृता पृथिवीके अग्नि भागमें २१ अहर्गण हैं। इनमें ७ लोक, सातसमुद्र सातद्वीप माने गए हैं जिनका स्वरूप विस्तार भयसे प्रकृतमें नहीं बतलाया जासकता

इन सात द्वीपोंमें २१ वें अहर्गणपर ७ वां पुष्कर द्वीप है। इसी पर सूर्य प्रतिष्ठित है। अतएव इसके लिए 'एकविंशोवा इतः स्वर्गोलोकः, यह कहा जाता है। सूर्यस्थानही स्वर्गलोक कहा जाता है, इसीलिए आगे जाकर 'असौ वा आदित्य एकविंशः' (तै० ब्रा० १। ५। १०। ६।) यह कहा गया है। इस नित्य पुष्करके अनुसार भूमण्डलमें पुष्कर बताया गया था। वही पुष्कर आज 'बुखारा' नामसे प्रसिद्ध है, जैसाकि पूर्वके अंकोंमें विस्तार के साथ बताया जाचुका है। एवं तीसरा पुष्कर वह है जिसे अपने इतिहासको भूलजाने वाले हम भारतीयोंने पुष्कर समझ रखा है। इसी प्रकार से कुरुक्षेत्रभी तीनही हैं। प्रकाशमय सौर मण्डल पहिला कुरुक्षेत्र है। सौर प्राण नित्य अपुरुषविध देवता हैं। वे प्राणदेवता इसी कुरुक्षेत्रमें प्रतिष्ठित हैं। सारे प्राणदेवता यहां प्रतिष्ठित रह कर सोमाहुति द्वारा यज्ञ कर रहे हैं, अतएव इनका यह स्थान 'देवयजन' कहलाता है। इसी अभिप्राय से। 'कुरुक्षेत्रं वै देवानां देवयजनमास' (श० १४। १। १। २) यह कहा जाता है। सारी स्तौम्यत्रिलोकी उन सौर प्राणदेवताओंकी वेदि है। स्तौम्यत्रिलोकी अमृताग्निरूपा पृथिवी है। अमृता पृथिवीके ९, १५, २१ यह तीन स्तोमहीं क्रमशः पृ० अ० द्यौ तीन लोक हैं। अतएव वेदिरूप इन तीनों स्तौम्यलोकोंको हम 'पृथिवी' (अमृता—उरुयापृथिवी) कहनेके लिये तय्यार हैं। पार्थिव आग्नेय प्राणदेवताओंके द्वारा होने वाले हविर्यज्ञकी वेदि 'पिण्ड पृथिवी' है, एवं सौर प्राणदेवताओंके द्वारा होने वाले सोमयज्ञ (ज्योतिष्टोमयज्ञ) की वेदि यही लोकत्रयात्मिका अमृतरूपा महा पृथिवी है। इन्हीं दोनों वेदियोंका सामान्य रूपसे निरूपण करते हुए 'यावती वै वेदिस्तावती पृथिवी' यह कहा जाता है। चान्द्रसोम आहुति द्रव्य है। वेदिका १७ वा स्तोम आहवनीयकुण्ड है। इसमें रहने वाला सप्तदशात्मक प्राजापत्याग्नि आहवनीय है। इसी अग्निमें उस चान्द्र सोमकी

आहुति देकर प्राणदेवता यज्ञ किया करते हैं। 'सौरमण्डल कुरुक्षेत्र है' सारे प्रपञ्चसे यही बतलाना है। यही पहिला नित्य कुरुक्षेत्र है। इस नित्य कुरुक्षेत्रकी नकलपर भौम ब्रह्माने इसी भौम स्वर्ग प्रदेशमें देवताओंके वैध यज्ञ करनेके लिए जो स्थान नियत किया था, वह यहांका कुरुक्षेत्र कहलाया। तीन प्रकारकी सरस्वती नामकी नदियोंमें म्लेच्छ भाषामें 'बालकश' नामसे प्रसिद्ध सुप्रसिद्ध 'प्राचीसरस्वती' इसी कुरुक्षेत्रके अन्तर्गत है। देवता लोग इसी प्राची सरस्वतीमें अवभृथस्नान (यज्ञान्तस्नान) किया करते थे। बस यही दूसरा भौम स्वर्गीय कुरुक्षेत्र है जिसे, आज हम सर्वथा भूल गए हैं। यह देवता समय समय पर पृथिवीलोक नामसे प्रसिद्ध हमारे भारतवर्ष में भी आया करते थे। इन देवताओंका भारतवर्षमें ठहरनेका जो स्थान नियत था वही हमारा पहिचाना हुआ तीसरा कुरुक्षेत्र है। इसमें सिवाय देवताओंके भारतवर्षके किसीभी राजाका की सत्ता न थी। न इसमें कोई खेती कर सकता था, न कोई मनुष्य रह सकता था। अतएव महाभारतादि में इसे 'धर्म्मक्षेत्र' व्यवहृत किया है। प्रसंगागत एक बात और बतला देते हैं। पुराणोंमें सूर्यग्रहण पर कुरुक्षेत्र स्नानको अधिक माहात्म्य दिया है, एवं 'ग्रहणेषु काशी' आदि के अनुसार चन्द्रग्रहण पर वाराणसी गंगास्नान को अधिक माहात्म्य दिया है। ऐसा क्यों ? उत्तर स्पष्ट है।

चन्द्रमा सोमपिण्ड है। सूर्य अग्निपिण्ड है। चन्द्रमाको महादेव कहा जाता है। जैसाकि श्रुति कहती है 'प्रजापतिर्वै चन्द्रमाः। प्रजापतिर्वै महान् देवः' (शत० ६। १। ३। १६) इति। अग्निमय सूर्य साक्षात् रुद्र है। सूर्यपिण्ड एकरुद्र है, इसी अभिप्रायसे 'एकोरुद्रो न द्वितीयः' कहा जाता है। एवं सूर्यके सहस्ररश्मिप्राण उस एकरुद्रकी अनन्त विभूतिएं हैं, अतएव 'ये चेनं रुद्रा अभितो दिक्षुश्रिताः' (यजुः संहिता १६ अ०। ६ श्लो) यह कहा जाता है। चन्द्रमा शिव है। इस शिवात्मक महादेवका (चन्द्रमा का

केशपुञ्ज यह आकाश है। अतएव इन्हें 'व्योमकेश' भी कहा जाता है। यद्यपि अग्निभी महादेव है। ऐसी अवस्थामें हम अग्निमय सूर्य्यको भी महादेव कह सकते हैं। तथापि गंगाको अपने जटा जूटमें रखने वाले महादेवतो केवल चन्द्रमा नामके महादेवही हैं। अतः गंगाके सम्बन्धमें हमने चन्द्रमाको ही महादेव कहा है। सोम शान्त है। दूसरे शब्दोंमें सौम्याग्नि शान्त है। अतएव यह शिव है। वही अग्नि सोम सम्बन्धसे शिव है। शुद्ध रूपसे रुद्र है। इसी अभिप्राय से—

'अग्नि वैं रुद्रः, तस्यैते द्वेतन्वौ घोरान्याच शिवान्याच' यह कहा जाता हैं। गंगाको अपने व्योमरूप जटाजूटमें धारण करने वाले शिवरूप चन्द्रमा है, नकि रुद्ररूप सूर्य्य। सूर्य्यके ऊपर उक्थ (पिण्ड) रूपसे प्रतिष्ठित रहने वाले ऋतप्रधान भगवान् परमेष्ठी हैं। जैसे स्वयम्भू ब्रह्मलोक कहलाता है, सूर्य्य इन्द्रलोक कहलाता है, इसी प्रकारसे आपोमय परमेष्ठी विष्णुलोक कहलाता है। 'तृतीयस्यां वै दिवि सोम आसीत्' इसके अनुसार इसी पारमेष्ठ्यलोकमें भार्गव सोमकी सत्ता है। यही पारमेष्ठ्यसोम 'ब्रह्मणस्पति' नामसे प्रसिद्ध है। दूषित परमाणुओंको नष्टकर पदार्थोंको स्वच्छ बना डालना इस सोमका पहिला काम है। यही सोम 'अम्भः' कहा जाता है। इसी परम पवित्र ब्राह्मणस्पत्य सोमका स्वरूप बतलाते हुए महर्षि कहते हैं—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो समश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ॥
(ऋ० ९। ४। ८३। १।) इति।

पुण्यसलिला भागीरथीका इसी पवित्र सोमके कारण इतना अधिक माहात्म्य है। वैदिक विज्ञानसे कोसों दूर, अपने आपको सत्यज्ञानके आचार्य मानने वाले कितनेही महानुभाव गंगाके इस पवित्र धर्म्मको स्वीकार करने

में अपने सिद्धान्तका विरोध समझते हैं। उनका कहना है " हिमालयमें अनेक प्रकारकी औषधिएं है। उधरसे ही भागीरथीका निर्गम है। इस पानीमें उन औषधियोंका रस मिलजाता है. अतएव इतर नदियोंकी अपेक्षा इस नदीका पानी दोषोंको हटानमें समर्थ होजाता है। ऐसी अवस्थामें जो गंगाकी विष्णु चरणसे उत्पत्ति बतलाई है, एवं गंगाजलमें स्नान आचमन से जो मुक्ति मार्ग की प्राप्ति बतलाई जाती है, यह पौराणिकोंकी निरी कल्पनाही है "। हम उनके इस कथनका सर्वांशमें विरोध नहीं करते। वास्तवमें इस पानीमें औषधियोंका रस रहता है, अतएव इतर पानियोंकी अपेक्षा यह पानी दोषहा है। प्रश्न हमारा आपसे केवल इतनाही है कि हिमालयकी जिन औषधियोंमें इतरदेशस्थ औषधियोंकी अपेक्षा अधिकगुण है, इसका क्या कारण है? यदि आप हमसे इसका उत्तर पूछना चाहते हैं तो हम आपके सामने उसी सोमको रक्खेंगे। उत्तर दिशामें सोमकी सत्ता है जैसाकि हम आगे बतलाने वाले हैं। एवं दक्षिण दिशामें अग्निरूप यम की सत्ता है। इस सोमके प्रभावसे उत्तर भागकी औषधिएं सौम्य हैं। पथ्य हैं। अधिक हितकर हैं। दक्षिण भागकी औषधिएं आग्नेय हैं। जैसाकि ५ वें अंकमें १४१ पृष्ठमें—

> हिमवद् विन्ध्यशैलाभ्यां प्रायो व्याप्ता वसुन्धरा।
> सौम्यं पथ्यं च तत्राद्यं, आग्नेयं विन्ध्यमौषधम् ॥

इत्यादि रूपसे स्पष्ट करदिया गया है। जैसे वनस्पतियोंका निर्माण सौर प्राणसे होता है, एवमेव औषधियोंका निर्म्माण चन्द्र सोमसे होता है। अतएव चन्द्रमाको औषधियोंका पति कहा जाता है। दक्षिण भागमें चान्द्र सोम अग्निके गर्भमें चला जाता है, अतः यहांकी औषधिएं अग्नि प्रधान होती हैं। एवं उत्तर भागमें चान्द्रसोम प्रधान रहता है। यहां अग्नि

सोम गर्भित रहता है, अतः यहांकी औषधिएं 'सोमप्रधान' अतएव अधिक हितकर होती हैं। हिमालयकी औषधियोंमें जो वैशिष्ट्य है, वह इसी सोमका है, अबतकके निरूपणसे यह भलीभांति सिद्ध होजाता है। अब प्रश्न होता है कि यह चान्द्र सोम किस रूपमें परिणत होकर औषधियों का निर्म्माण करता है। उत्तर वही हमारा गंगा सलिल है। उत्तर भागमें चन्द्रमा है। इसमें वह आगे बतलाए जाने वाले क्रमानुसार पारमेष्ठ्य सोम आता है। यहांसे यह सोम रस नीचे प्रतिष्ठित विन्दुसरोवरके पानीमें गिरता है। इसी सोमके सम्बन्धसे यह सरोवर अति पवित्र गुणोंसे युक्त होजाता है। यही सौम्यपानी 'गांगेय' नाम धारण करता है। इस सौम्य पानीसे ही इन औषधियोंकी पुष्टि होती है। इस सौम्य पानीसे पुष्ट होने के कारणही इन औषधियोंमें इतनी उत्कृष्टता आती है। आप कहते हैं औषधियोंके रससे गंगाजल उत्कृष्ट है, हम कहते हैं-गंगाजलके सम्बन्धसे औषधिएं उत्कृष्ट हैं। औषधियोंसे गंगाजल नहीं निकला है, गंगाजलसे औषधिएं उत्पन्न हुई हैं। औषधियोंका रस भागभी वही है। हमें दुःखहोता है कि आज हम भारतीयोंकी बुद्धि इतनी कुण्ठित होगई है कि एक साधारणसी बातभी हमारी समझमें नहीं आती। हम कुछका कुछ समझ बैठते हैं। अस्तु गंगाजलका माहात्म्य औषधियोंसे है, या औषधियों की उत्कृष्टता गंगाजलसे है—इस विषयके निर्णयका भार अपने विवेकी पाठकों पर छोड़कर पुनः प्रकृतका अनुसरण करते हैं।

हम कहरहे थे कि इस पवित्र सोमका प्रभवस्थान सूर्य्यसे ऊपरका पारमेष्ठ्य विष्णुलोक है। यहींसे पुण्य सलिलाका अवतार होताहै। इस विषयमें हमें एक पौराणिक उपाख्यान याद आया है। प्राकृत समझ कर थोड़े शब्दोंमें हम उसकाभी उल्लेख करदेते हैं।

एकवार ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों देवता एक साथ मिलकर गोलोक नाथ शेषशायी गोविन्दके दर्शन करने गोलोक पहुंचे। द्वारपालने भीतर जाकर इन तीनोंके आनेकी सूचना दी। वहांपर भगवान् विष्णु शेष शय्यापर सोरहे थे, एवं लक्ष्मीजी पैर दबारहे थे। नारद अपने तुम्बुरुकी तानमें मस्त थे। द्वारपालके 'भगवान्‌के दर्शनार्थ त्रिमूर्त्ति आई है, निवेदन करने पर लक्ष्मीजीने कहाकि जाकर पूछोकि आप किस ब्रह्मागडसे आए हैं। आप तीनों किस ब्रह्मागडके नायक हैं। आज्ञानुसार वापस लौटकर द्वारपालने उनसे यही प्रश्न किया। उत्तर मिला कि हम तीनों 'रोदसी ब्रह्माण्डके निवासी हैं। परिचचयानन्तर तीनोंको भीतर आनेकी आज्ञा मिली। तीनों अभिलषित स्थान पर पहुंचे। तीनोंने साष्टाङ्ग प्रणाम किया एवं गोलोकनाथसे निर्दिष्टआसनोंपर बैठ गए। इन तीनोंमें हमारे भोले बाबा अपने 'एकतारे' में मस्त थे। विषकी गर्मीसे आंखें तनी हुई थीं। चारों ओर भुजङ्गमालाएं सुशोभित होरहीं थीं। कंधेपर एकतारा रक्खा हुआ था। उस एकतारेके तारपर इनकी अंगुली गुपचुप रूपसे थिरक रही थी। इस अद्भुत दृश्यनें लक्ष्मीजीका ध्यान इनकी ओर आकर्षित किया। उसी क्षण चञ्चलादेवी बोल उठी कि भोलेबाबा! अनन्त कालके बाद आपने यहां पधारने की कृपा की है। आप संगीतके आचार्य हैं, अतः हम आज आपसे संगीत सुनना चाहते हैं। भोलेबाबाने बहुत आनाकानी की। सिटपिटाए। बहानेबाजी की। परन्तु शक्तिके सामने इस शिवको हारमाननी पड़ी। बाध्य होकर भोलेबाबाको एकतारे के साथ संगीत प्रारम्भ करना पड़ा। प्रारम्भ करनेकी देर थी। जिस समय भगवान् शंकरका संगीत प्रारम्भ हुआ, उस समय गोलोकमें रहने वाले सारेदेवता, सारी अप्सराएं लक्ष्मी, नारद आदि आदि तन्मय होगए। सबके नेत्रटल नीचे गिर गए। सब अपनी सुध बुध भूलगए। थोड़ी देर बाद भगवान्‌का संगीत बन्द

हुआ। सबने आंखें खोली। परन्तु यह क्या। जिस शेषशय्यान्तरपर गोविन्द सोरहे थे उस स्थानपर देवताओंने बहता हुआ पानी देखा। उसी समय सर्वत्र त्राहि त्राहि मचगई। सब भगवान् शंकरके संगीतको भलाबुरा कहने लगे। इसप्रकार विष्णुके गायब होजानेसे, एवं उस स्थानपर पानीके आजानेसे सबको व्याकुल होते देखकर उसी समय आकाशवाणी हुई कि हे देवताओ? मत घबड़ाओ। मैं भगवान् शंकरके संगीतके प्रभावसे द्रुत होगया हूं। पानी बनगया हूं। यही मेराद्रवभाग ब्रह्माण्डका भेदन करता हुआ भागीरथके प्रयाससे भूलोकमें जाकर भागीरथी नाम धारण करता हुआ सगरपुत्रोंका उद्धार करेगा"। क्योंकि यह पानी उसी ब्रह्मका द्रवभाग है अतएव यह भागीरथी पुराणोंमें 'ब्रह्मद्रवी' नामसे प्रसिद्ध हुई।

पूर्व कथाका वैज्ञानिक रहस्य क्या है? इस प्रश्नका समाधान करना अप्राकृत होता। सम्बन्ध मात्रके लिए इस विषयमें दो चार बातें बतलाना ही पर्य्याप्त होगा। रोदसी ब्रह्माण्डमें पृ० अ० द्यौ (सूर्य्यरूपा द्यौ) तीन लोक हैं। तीनोंके क्रमशः अग्नि, वायु, इन्द्र तीन अधिपति हैं। अग्नि ही २१ तक वितत होकर विष्णु कहलाता है। मध्यका वायु हिरण्यगर्भ है! सोम, अग्नि गर्भित सौर इन्द्र शिव है। सूर्य्यसे ऊपर परमेष्ठि मण्डल है। यह आपोमय है। इसमें रहने वाले विष्णु गोलोकनाथ हैं। नार (पानी) को उत्पन्न करने वाला नारद नामसे प्रसिद्ध ऋषि प्राणभी यहीं है। सौर तेज लक्ष्मी है। श्री है। सूर्य्य स्वरवाक्को उत्पन्न करनेके कारण स्वर है। यही श्री है। अतएव इसके लिए "श्री वैं स्वरः" (शत० ११।४। १०) यह कहा जाता है। यह उसी वारुण पारमेष्ठ्य विष्णुकी अन्तिम सीमामें प्रतिष्ठित है। इसीलिए इसके लिए "श्री वैं वरुण" (कौ० ब्रा० १८।९।) यह कहाजाता है। परमेष्ठिके ऊपर स्वयम्भूब्रह्म है। यह वाक् रूप है। यही परमेष्ठीमें आकर विष्णुस्वरूपमें परिणत होकर पानी बनती

है। अतएव इसके लिए 'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव सासृज्यत' (शत० ६।१।१।८) इत्यादि कहा जाता है। वाक् ब्रह्मही शंकरके संगीतसे द्रुत होकर पानी बनता है। अतएव इस गंगाको हम 'ब्रह्मद्रवी' कहनेके लिए तय्यार हैं। शिव सोम प्रधान हैं। यही पवमान है। पारमेष्ठ्य वायु अम्भ है। पवमान शिवसोमके सम्बन्धसे ही विष्णुका आधार रूप वायु पानी बनजाता है। अम्भः, और पवमानके मेलसे ही पानीकी उत्पत्ति है जैसाकि अपांप्रणयन कर्म्ममें विस्तारके साथ बतलाया जाचुका है। बस इसी सारे विज्ञानको-सुलभ रीतिसे समझानेके लिए पुराणने कथा रूपमें परिणत कर डाला है। इस सारे प्रपञ्चसे बतलाना हमें केवल यही है कि गंगाका सम्बन्ध पारमेष्ठ्य सोमसे है। यह सोम पहिले सूर्य्यमें आता है। सूर्य्य ब्रह्माण्डका भेदनकर सीधा भूलोककी ओर आनेके लिए सौर रश्मियोंमें प्रतिष्ठित होता है। सूर्य्य आग्नेय है, अम्भ सौम्य है। इस विजातीयताके कारण ऊपरसे सीधे आने वाले इस अम्भको 'सूर्य्य' अपनी रश्मियोंसे धक्का देकर फेंकदेता है। दक्षिणमें यमाग्नि है। उत्तरमें सोम मय चन्द्रमा है। अतएव चन्द्रमाको उत्तर दिशाका लोकपाल बतलाया जाता है। बस सजातीय आकर्षण सिद्धान्तके अनुसार सूर्य्य रश्मियोंसे फेंका हुआ वह अम्भ उत्तर दिशामें आकर महादेव (चन्द्रमा) के जटाजूट (चन्द्रमण्डल) में प्रतिष्ठित होजाता है। यह उस अम्भका तिर्य्यग्रूप दूसरा गमन है। यहांसे यह अम्भ चान्द्र रश्मियोंसे चूकर बिन्दुसरोवर में आता है। इसीके समीप जन्हुऋषिका आश्रम है। यहांसे भगीरथके प्रयाससे पहाड़ोंको चीरती हुई यह गंगा सबसे पहिले मायापुरी, हरद्वार, आदि विविध नामोंसे प्रसिद्ध सुप्रसिद्ध हरिद्वार तीर्थके ब्रह्मकुण्डपर आके भूमण्डलसे सम्बन्ध करती है। यहां हमारी पतित पाविनी कलिमल ध्वंसिनी पुण्यसलिला भगवती भागीरथीका तीसरा गमन है। पामीरसे चारों ओर

हमने चार गंगाओंका निर्गम बतलाया है। इन चारोंमें दक्षिण भागकी ओर आने वाली गंगाही 'अलकनन्दा' कहलाती है। इसी अलकनन्दामें भागीरथी का संबंध होताहै। इसी सम्बन्धसे इस अलकनन्दाका अधिक माहात्म्य बतलाया जाता है। यह गंगा पहिले शिवके जटाजूटमें रहती है अतएव महादेव को 'गंगाधर' कहा जाता है। गंगाका सम्बन्ध गंगाधरसे है। सूर्य्यमें गंगाका आना पहिला मार्ग है। वहांसे उत्तरमें जाकर गंगाधरकी जटाजूटमें प्रतिष्ठित होना दूसरा मार्ग है। यहांसे भूमण्डल पर आना तीसरा मार्ग है। अतएव यह गंगा पुराणोंमें त्रिपथगा नामसे प्रसिद्ध है। इसमें पवित्र सोम अत्यधिक मात्रामें रहता है। अतएव इस गांगेयमें बरसों कीड़े नहीं पड़ते। ब्रह्मकुण्डसे आगे बढ़ती हुई यह ब्रह्मद्रवी काशी आदि तीर्थोंमें जाती है। चन्द्रमाके ऊपर जब पृथिवीकी छाया पड़ती है तो चन्द्रग्रहण होता है। चन्द्रमा गांगेय सोममय है। अतः इस ग्रहणका सम्बन्ध गंगाजलसे होता है। अतएव चन्द्रग्रहणमें प्रधानरूपसे गंगास्नानको प्रधानता दीजाती है। यद्यपि हरिद्वार गंगाका पहिला उद्गम स्थान है तथापि काशी खण्डमें उपवर्णित विश्वनाथमाहात्म्यसे ग्रहणमें अधिक माहात्म्य काशी गंगास्नानकाही माना जाता है। जहांसे गंगा निकली है, मूर्त्तरूपसे वह साक्षात गंगाधर इस स्थानपर विद्यमान है। इन शिवलिंगोंका क्या माहात्म्य है? काशी शिवपुरी क्यों मानीजाती है? शिवका क्या स्वरूपहै? इत्यादि विषयोंका विशदविवेचन गीताविज्ञानके भाषाभाष्यके विषय रहस्यान्तर्गत 'उपासना रहस्य' देखना चाहिए। यहां विस्तार भयसे हम इस प्रकरणको नहीं उठाना चाहते। चन्द्रग्रहणमें काशी स्नानका अधिक माहात्म्य क्यों है? इस प्रश्नका समाधान होचुका। अब दूसरे प्रश्नकी ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं। सूर्य्य अग्निमय है। जैसे जलका सम्बन्ध चन्द्रमासे है, एवमेव स्थलका सम्बन्ध सूर्य्यसे है। पृथिवी अग्निपिण्ड है। इसका सूर्य्यसे सम्बन्ध है।

पृथिवीके भी कुरुक्षेत्र भागमें सौर आग्नेय प्राण अधिक रूपसे व्याप्त है। साथहीमें देवताओंके निरन्तर आवाससे यह भाग " स तुदीर्घ कालादर नैरन्तर्य्य सत्कार्यसेवितो दृढ़भूमिः " इस दार्शनिक सिद्धान्तके अनुसार आजतक देवप्राणमय बना हुआ है। सूर्य्यग्रहणका असर इसी सजातीय कुरुक्षेत्रपर, विशेष रूपसे पामीरप्रदेशस्थ कुरुक्षेत्रपर पड़ता है। अतएव [1]सूर्य्यग्रहणमें इस स्थानको अधिक माहात्म्य दिया जाता है।

इनसारे रहस्योंको हमारे सामने रखने वाले यही मनुष्य देवता थे, जोकि असुरोंके द्वारा सोम (सोमवल्ली), सूर्य्य (सूर्य्य सदन नामसे प्रसिद्ध विज्ञानभवन), यज्ञ, धेनु, इनचार देवबलों के नष्ट होजाने के कारण आज इस भूमण्डलसे सर्वथा उच्छिन्न होचुके हैं। उनके उच्छिन्न होतेही सानीदिव्य व्यवस्थायें भी एक प्रकारसे उच्छिन्न होचुकी हैं। महाभारत काल पर्य्यन्त हमारी यह व्यवस्था सुव्यवस्थित थी। इस समय अन्तिम (१४ वें) पुराणोंमें हरिवाहन, एवं वेदोंमें 'हरिवान' नामसे प्रसिद्ध इन्द्र का आधिपत्य था। महाभारत युद्धके मुख्यपात्र स्वयं युधिष्ठिर और अर्जुन दोनोंही तत्कालीन इन्द्रके परमप्रिय पात्र थे। अर्जुनने कृष्णके आदेशसे खाण्डववन जलाया था इसी खाण्डववनमें इन्द्रके अभिन्नमित्र 'तक्षकराज' रहते थे। यह इन्द्र तक्षसे मिलनेके लिए कभी कभी यहां आया करते थे।

---

१ ग्रहण क्या वस्तु है ? खण्डग्रास, खग्रास, सर्वग्रास आदि का क्या स्वरूप है ? राहु क्या है ? इस ग्रहणसे हम क्यों अपवित्र होजाते हैं ? कुशादि के सम्बन्धसे यह अपवित्रता कैसे हटजाती है ? ग्रहणकालमें मन्त्रादि सिद्धियें क्यों शीघ्रतासे प्राप्त होती है ? ग्रहणकालमें दान पुण्यसे क्या होता है ? इत्यादि विषयोंका विवेचन हमारे लिखे हुए 'ग्रहण विज्ञान' नामके निबन्धमें देखना चाहिए। इस निबन्धका मुद्रण जिज्ञासु पाठकोंकी जिज्ञासापर निर्भर है।

यहीं आकर जिस स्थानपर इन्द्र ठहरा करते थे वह स्थान आज हिन्डौन (इन्द्रमन) नामसे प्रसिद्ध है। यह स्थान राजपूतानान्तर्गत जयपुर राज्यकी सीमाके भीतर है। जयपुर राज्यान्तर्गत सुप्रसिद्ध 'रूण्डार' ही हमारा महाभारतकालीन 'खाण्डवद्वार' है। इन अप्रासंगिक बातोंसे हमें केवल यही दिखलाना है कि इन्द्रादि देवता ऐतिहासिक देवता थे। मनुष्यदेवता थे। बस यही हमारे प्रकरणके दूसरे देवता हैं॥ २॥

अब क्रमप्राप्त तीसरे पुरुषविध चान्द्रदेवताओंकी ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है। पुरुषविध अनित्य भौम देवताओंका विचार समाप्त होचुका। अब २ संख्यावाले चान्द्र अनित्य पुरुषविध देवताओंका निरूपण किया जाता है। चान्द्रदेवताओंका स्वरूप बतलावें इसके पहिले प्रजा सृष्टिसे सम्बन्ध रखने वाले निम्नलिखित द्यावापृथवीके विज्ञान पर लक्ष्य देना उचित होगा। 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इस अनुगम श्रुतिके अनुसार प्रजासृष्टि १. पूर्वरूप, २ उत्तररूप, ३ संधि, ४ संधान इन चार भावोंपर अवलम्बित है। इन चारोंकी समष्टिको वैदिक परिभाषामें 'संहिता' कहा जाता है। संसारकी प्रत्येक वस्तुमें पूर्वोक्त चारों विभाग रहते हैं। अतएव वस्तु मात्रको हम संहिता कहनेके लिए तय्यार हैं। इन संहिताओं का ब्राह्मणग्रन्थोंमें अनेके प्रकारसे स्वरूप निर्वचन किया गया है। माण्डूकेय शाकल्य माहित्थि आदि आदि भिन्न भिन्न ऋषियोंने भिन्न भिन्न संहिताओं का निरूपण किया है। उन अनेक प्रकारकी संहिताओंमें से परिचयार्थ तीन चार संहिताओंका उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है। यहां हम केवल उनमेंसे कुछ एकके नाममात्रोंका ही उल्लेख करेंगे। इस विषयका वैज्ञानिक विवेचन किसी आगके प्रकरणमें बतलानेकी चेष्टा की जायगी।

माण्डूकेयमहर्षि कहते हैं—पृथिवी पूर्वरूप है, द्यौ उत्तररूप है, आकाश संहिता है। परन्तु इन्हीं माण्डूकेयके पुत्रका कहना है कि, पृथिवी पूर्वरूप है, द्यौ उत्तररूप है, वायु संहिता है। आकाश और वायु दोनों परस्पर अविनाभूत हैं, ऋषि वायुका आकाशमें अन्तर्भाव मानकर आकाशको संहिता बतलाते हैं, एवं ऋषिपुत्र आकाश का वायुसे ग्रहण कर वायुको संहिता बतलाते हैं। इस प्रकारसे 'न मेऽस्य पुत्रेण समगात' (ऐ० आरण्यक ३ आ. । १ अ. । १ ख) के अनुसार इस द्यावा पृथिवीरूप संहितामें परस्पर मतभेद है। शूरवीरमहर्षि कहते हैं—वाक् पूर्वरूप है। मन उत्तररूप है। प्राणसंहिता है। इनके ज्येष्ठ पुत्र कहते हैं कि मन पूर्वरूप है, वाक् उत्तर रूप है। प्राण संहिता है। महर्षि शाकल्य कहते हैं—पृथिवी पूर्वरूप है। द्यौ उत्तर रूप है। वृष्टि संधि है। पर्जन्य संधाता है। चारोंकी समष्टि एक संहिता है। इन संहिताओंके अतिरिक्त सब संहिताओंमें मुख्य एक 'प्रजापति संहिता' है। इस प्रजापति संहितामें जाया पूर्वरूप है, पति उत्तररूप है। पुत्र संधि है। प्रजननं संधान है। चारोंकी समष्टिही प्रजापति संहिता है। इसी प्रजापति संहिताको ऋषियोंने 'आदितिसंहिता' नामसेभी व्यवहृत किया है। द्यौ पति है। पृथिवी जाया है। द्यावा पृथिवीके पेटमें रहने वाले प्राणिमात्र प्रजा है। उत्पत्ति साधनभूताक्रिया प्रजनन है। बस आज हम चान्द्रदेवताओंका स्वरूप बतलाते हुए इसी अदितिसंहितापरपर्य्यायक प्रजापति संहिताको आपके सामने रखते हैं। पृथिवी द्यौ दोनोंके मिथुन भावसे प्रजननरूप संधान द्वारा संसारके प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं। पृथिवी हम सबकी माता है। द्युलोक हमारा पिता है। संसारका प्रभाव इन्हीं दोनों का मिथुन भाव है। सूर्य आधाता है, पृथिवी गर्भ धारण करने वाली है। जैसे शुक्र शोणितके तारतम्यसे एकही माता पिताके मिथुन भावसे भिन्न भिन्न आकृतिएं, एवं शक्तिएं रखने वाले पुत्रादि उत्पन्न होते हैं, एवमेव

माता स्थानीय पार्थिवप्राण और पिता स्थानीय सौरप्राण दोनोंके तारतम्यसे इन दोनोंके मिथुनसे उत्पन्न होने वाली प्राणि सृष्टिमें परस्पर वैजात्य होजाता है। किसीमें सौर प्राण अधिक है, पार्थिव भाग अल्पमात्रामें है। किसीमें पार्थिव प्राण प्रबल है, सौर प्राण अल्पमात्रामें है। इसप्रकार इन दोनोंके तारतम्यके कारण पृथिवीपृष्ठसे प्रारम्भ कर द्युलोक पर्य्यन्त कुल १४ प्रकारकी भौतिकी सृष्टि होजाती है। दूसरे शब्दोंमें केवल इसी सम्बन्ध के तारतम्यसे एकही भूतसृष्टिके १४ अवान्तर विभाग होजाते हैं। इन्हीं १४ प्रकारकी सृष्टियोंके लिए "चतुर्दशविधो भूतसर्गः"—यह कहा जाता है। ये १४ हों भूतसर्ग दैव, तैर्य्यक, मानुषरूपसे तीन विभागोंमें विभक्त हैं। १ ब्राह्म, २ प्राजापत्य, ३ ऐन्द्र, ४ पित्र्य, ५ गांधर्व, ६ यक्ष, ७ राक्षस, ८ पिशाच भेदसे देवसर्ग आठ प्रकारका है। १ पशु, २ पक्षि, ३ सर्प, ४ कीट, ५ स्थावर, भेदसे पांच प्रकारका तैर्य्यक सर्ग है। एवं एक प्रकार का मानुष सर्ग है। महान् नामसे प्रसिद्ध अव्यक्त प्रकृतिही द्वारा पृथिवी को निमित्त बनाकर सारे प्राणियों का निर्म्माण करती है। यही वैज्ञानिक परिभाषामें परमेष्ठी' नामसे प्रसिद्ध है। परमेष्ठिके नीचे हमने विज्ञानमय सूर्य्य बतलाया है। जैसे चन्द्रमा पृथिवीके चारों ओर घूमता है, एवं पृथिवी चन्द्रमाको साथलिए हुए सूर्य्यके चारों ओर घूमती है, एवमेव इन दोनोंको अपने बृहत् साममें प्रतिष्ठित रखता हुए सूर्य्य परमेष्ठिके चारों ओर परिक्रमा लगाया करते हैं। यही परिक्रमा याज्ञिक परिभाषामें 'दर्शपूर्णमास' नामसे प्रसिद्ध है। सूर्य्य दर्शपूर्णमास करता हैं। अर्थात् परमेष्ठीके चारों ओर घूमता है। इसके इस दर्शपूर्णमास से उस सोममय महान नामसे प्रसिद्ध परमेष्ठी नामकी अव्यक्त प्रकृतिमें त्रैगुण्यभाव उत्पन्न होजाता है। परमेष्ठी का जो भाग सूर्य्यसे प्रकाशित रहता है वह प्रकाशित भाग सत्व महान् कहलाने लगता है। विरुद्ध भाग तम महान् एवं मध्य भाग रजमहान् नामसे

प्रसिद्ध होजाता है। इस प्रकार देवमय सौर प्राणके सम्बन्धसे उसमें सत्व रज, तम, तीनगुण होजाते हैं। सौर प्राणके सम्बन्धमें जो महान भाग प्रकाशित होजाता है उसेही उपनिषत परिभाषामें 'अदिति' कहाजाता है। इस सत्वप्राणप्रधाना अदिति विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर महर्षि कठ कहते हैं—

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायते ॥
(कठोपनिषत् २ अ। ३ व ७ मं.) इति।

बतलाना हमें प्रकृतमें यही है कि सृष्टिकी मूलभूता प्रकृति सूर्य्यसम्बन्धसे त्रिगुण भावापन्न होजाता है। अतएव सृष्टिभी कुल तीनही प्रकारकी होती है। दैवसर्ग सत्वप्रधान है। अतएव यह सर्ग सांख्य दर्शनमें सत्वविशाल नामसे प्रसिद्ध है। मानुष सर्ग मध्य पतित होनसे रजः प्रधान है। अतएव यह सर्ग 'रजोविशाल' नामसे प्रसिद्ध है। एवं तिर्य्यक्सर्ग सर्वान्तमें होने से तमः प्रधान है। अतएव यह सर्ग 'तमोविशाल' कहलाता है। मूलमें तमः प्रधान तिर्य्यक्योनि है। मध्यमें रजः प्रधान मनुष्ययोनि है। सबसे ऊपर सत्वप्रधान अष्ट विधदेवयोनि है। इनमेंभी सबके मूलमें स्तम्बात्मक पहिला स्थावर सर्ग है, सर्वान्तमें ब्राह्मसर्ग है। इसप्रकार स्तम्बसे ब्रह्मपर्य्यन्त कुल १४ प्रकारके भूतसर्गोंकी सिद्धि होजाती है।

एकही भौतिक सर्गके तीन भेद होना प्रकृतिके सत्व, रज, तम इन तीन गुणोंपर निर्भर है। एवं इनका १४ अवान्तर विभागोंमें परिणत होना द्यावापृथिवी प्राणके परस्परके तारतम्यपर निर्भर है। पार्थिव प्राणाग्नि 'गायत्र' नामसे प्रसिद्ध है। दिव्याग्नि (सौराग्नि) सावित्र नामसे व्यव-

हृत होती है एवं आन्तरिक्ष्य अग्नि 'वायव्याग्नि' कहलाता है। पार्थिव प्राणाग्निकी गति ऊपरकी ओर है। सावित्राग्नि ऊपरसे नीचेकी ओर आता है। आन्तरिक्ष्य वायव्याग्नि तिरछा जाता है। तीनों ही अग्निए प्राण रूप है। अर्थात् अमृतमय हैं। अतएव "रूपरसगंधस्पर्शशब्दरहितः, अधामच्छदः कश्चित् तत्वविशेषः प्राणः"—इस लक्षणके अनुसार यह प्राणरूप अग्नित्रयी सर्वथा तापशून्य है। नीरूप है। रूपरसादिसे शून्य है। इन तीनोंका विरुद्धगतिके कारण तीनोंमें परस्पर संघर्ष होजाता है। ताप धर्म्मा अग्निका प्रधान उपादान घर्षण क्रिया है। आप अपने दोनों हाथोंको परस्पर रगड़िए उसी समय हाथोंमें ऊष्मा पैदा होजायगी। दो लकड़ियोंको रगडिए, दो पत्थरोंको रगडिए उसीसमय तापधर्म्मा अग्नि उत्पन्न होजायगा। बस इसीप्रकार इन तीनों प्राणाग्नियोंके घर्षणसे एक नया तापधर्म्मा अग्नि पैदा होजाता है। यह तापधर्म्मा अग्नि पृथिवी, अन्तरिक्ष द्यौ इन तीन त्रैलोक्यविश्वोंके अग्नि, वायु, इन्द्र तीन नरों (नायकों) से उत्पन्न होता है अतएव यह अग्नि 'विश्वनरेभ्यः जातः' इस व्युत्पत्तिसे 'वैश्वानर' कहा जाता है। तीनों प्राणाग्नि प्राणरूप होनेसे अजातवेदा थे। उनको हम नहीं पहिचानते थे, परन्तु इस तापधर्म्मा अग्निका हम प्रत्यक्ष करने लगते हैं। अतएव उपनिषदोंने वैश्वानरको 'जातवेदा' नामसे व्यवहृत किया है। यह वैश्वानर अग्नि त्रैलोक्यरूप संपूर्ण विश्वमें व्याप्त रहता है। 'वैश्वानरो यतते सूर्य्येण' 'आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्' इत्यादि श्रौतसिद्धान्तोंके अनुसार यह वैश्वानर पृथिवी पृष्ठसे सूर्य्यतक (द्युलोक तक) व्याप्त रहता है। इसीलिए हम इस वैश्वानरको अवश्यही 'विश्वरूप' कह सकते हैं। इसी वैश्वानर विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर उपनिषत् श्रुति कहती है—

[1]'सएष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते'—(प्रश्नोपनिषत् १। १।७।) इति। यद्यपि पूर्वकथनानुसार वैश्वानरकी त्रैलोक्यमें व्याप्ति सिद्ध होजाती है। साथहीमें 'वैश्वानर अग्निमें पार्थिव, आन्तरिक्ष्य, दिव्य तीनों अग्नि हैं' यहभी सिद्ध होजाता है। इतना होने परभी हम इस वैश्वानर को केवल 'पार्थिवअग्नि' ही कहेंगे। कारण इसका यही है कि जिस भूपिण्डपर हम बैठे हुए हैं, वह अग्निमय है। यह अग्नि चित्य (मर्त्य) चितेनिधेय (अमृत) भेदसे दो प्रकारका है। पृथिवीका गोला उत्तरोत्तरके चिति (चयन-चेजा) क्रमसे चित्य अग्निसे बना है। दूसरे शब्दोंमें पृथिवी चित्याग्निपिण्ड है। इस चित्यमें से एक अमृताग्नि निकलता है। यह पिण्डसे बड़ी दूरतक (२१ वें अहर्गणपर स्थित सूर्य्यपिण्डसे भी कुछ आगेतक) चारों ओर व्याप्त होता हुआ अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाता है। यही मण्डल वैज्ञानिक परिभाषामें 'महिमामण्डल' नामसे प्रसिद्ध है। इस महिमामण्डलका नामही 'पार्थिवरथन्तरसाम' है। सूर्य्य रथका भी यह तरण करजाता है, सूर्य्यसे कुछ आगे निकल जाता है, अतएव इसे 'रथन्तर' साम कहाजाता है जैसाकि पूर्वके प्रकरणोंमें कईबार कहा जाचुका है। महिमाग्नि पार्थिव अग्नि है। यही सूर्य्यतक व्याप्त है। ऐसी अवस्था में सूर्य्यतक पृथिवीलोककी सत्ता सिद्ध होजाती है। इस पार्थिव अमृताग्नि के ही घन, तरल, विरल भेदसे अग्नि, वायु, इन्द्र यह तीन भेद होजाते हैं। इस पार्थिव अग्निके त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५), एकविंश (२१), तीन विभाग होजाते हैं। पृथिवीके यह अवान्तर तीन विभागही पृथिवी-लोकके अवान्तर पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, यह तीनलोक हैं। यही पृथिवी त्रिलोकी स्तोम सम्बन्धसे विज्ञानजगत्में 'स्तौम्यत्रिलोकी' नामसे प्रसिद्ध

---

[1] इस विषयका विस्तृत विवेचन हमारे लिखेहुए प्रश्नोपनिषत्के भाष्यभाष्यमें देखना चाहिए। यह भाष्य अभीतक अमुद्रित है।

हैं। इस स्तौम्यत्रिलोकोंके अधिष्ठाता (नर) वही पार्थिव अग्नि, वायु, इन्द्र हैं। इन्हीं तीनोंके संयोगसे हमारा प्रसिद्ध तापधर्म्मा 'वैश्वानर' अग्नि उत्पन्न हुआ है, इसलिए हम अवश्यही इस वैश्वानर अग्निको 'पार्थिवाग्नि' कहनेके लिए तय्यार हैं।

पूर्वोक्त प्रजापति संहितामें हमने पृथिवीको पूर्वरूप बतलाया है, एवं द्यौ को उत्तररूप बतलाया है। एवं इन्हीं दोनोंके मिथुनसे प्राणिमात्रकी उत्पत्ति बतलाई है। इस प्रजापति संहिताका द्यावापृथिवी इसी पूर्वोक्त अमृतापृथिवीकी स्तौम्यत्रिलोकीका भाग है। ऐसा इसलिए मानना पड़ता है कि-प्रजापति संहिताका स्वरूप बतलाते हुए आगे जाकर भगवान् ऐतरेयनें इस द्यावापृथिव्यात्मिका संहिताको 'अदिति संहिता' बतलाया है। जैसाकि निम्नलिखित श्रुतिसे स्पष्ट होजाता है—

"अथातः प्रजापति संहिता। जाया पूर्वरूपं, पतिरुत्तररूपं, पुत्रःसंधिः,प्रजननं संधानम्। सैषाऽदिति संहिता। अदितिर्हीदं सर्वं यदिदं किंच पिताच, माता च, पुत्रश्च, प्रजननं च" (ऐतरेय आरण्यक—३।१।६) इति।

महीदासका द्यावापृथिव्यात्मिका प्रजापति संहिताको अदिति संहिता बतलाना तभी सम्भव होसकता है, जबकि—अमृतापृथिवीके स्तोमात्मक द्यावापृथिवीका ही प्रजापति सम्बन्धी द्यावापृथिवी शब्दसे ग्रहण किया जाय। पृथिवीका आधा मण्डल सूर्य्यकी ओर रहता है, एवं आधा भाग सूर्य्यके विरुद्ध भागमें रहता है। यही दोनों भाग दिति अदिति नामसे प्रसिद्ध हैं। पृथिवीका जो भाग सूर्य्यकी ओर रहता है वही प्रकाशके अविच्छिन्न रूपसे, अखण्ड रूपसे आनेक कारण 'अदिति' कहलाता है। विरुद्ध भागमें सौरप्राणका विच्छेद होजाता है अतएव वह 'दिति' कहलाता

है। पूर्वप्रतिपादिता रथन्तरसामयुक्ता अमृतापृथिवीका भाग सूर्य्यसे भी कुछ ऊपर तक (अनुमानतः २२ वें अहर्गण तक) जाता है। यही प्रकाशित अदिति है। इसी अदिति पृथिवीके त्रिवृत् (६), पञ्चदश (१५), एकविंश (२१), यह तीन विभाग होते हैं। अदिति पृथिवीके यही तीनों भाग स्तौम्यत्रिलोकी कहलाने लगते हैं। अदितिका त्रिवृत् स्तोम भाग पृथिवी है, यही 'माता है'। १५ स्तोम अन्तरिक्ष है। इसीका एकविंश स्तोम द्यौ है। यही पिता है। यही अदिति माता है, यही पिता है, यही सबकुछ है। इसी अदिति विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर हमने पूर्वके प्रकरणोंमें "अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः"—इत्यादि कहा है (देखो ८ अंक। अदिति प्रकरण)। यह त्रैलोक्यरूपा अदिति पृथिवी हमारे वैश्वानरकी जननी है। अतएव त्रैलोक्य व्यापक इस वैश्वानर को हम अवश्यही पार्थिव कहनेके लिए तय्यार हैं। इसी वैश्वानर अग्निको 'विराट् पुरुष' कहा जाता है। १० अक्षरके छन्दको ही नाम विराट् है जैसाकि पूर्वके ' विराड् वै यज्ञः ' इस अनुगम वचनके निरूपणमें स्पष्ट कर दिया गया है। पार्थिव अग्नि गायत्राग्नि है। इसीको याज्ञिक परिभाषामें गार्हपत्याग्नि कहा जाता है। सौर अग्नि सावित्राग्नि है। यही याज्ञिक परिभाषामें आहवनीयाग्नि कहलाता है। मध्यका आन्तरिक्ष्य अग्नि नाक्षत्रिकाग्नि है। इसके अवान्तर आठ विभाग होजाते हैं। याज्ञिक परिभाषा में यही आठ आन्तरिक्ष्य अग्नि—'धिष्ण्याग्नि' नामसे प्रसिद्ध हैं। इसप्रकार स्तौम्यत्रिलोकीका यह अग्नि १० कल होजाता है। अतएव हम अवश्यही वैश्वानरको विराट् कहनेके लिए तय्यार हैं। प्रसंगागत एक बात और समझलेनी चाहिए। दृष्टिकोण भेदसे एकही वस्तुका स्वरूप भिन्न भिन्न दिखलाई देने लगता है। विज्ञानचक्षु त्रैलोक्य अग्निको गायत्र, सावित्र, नाक्षत्रिक रूपसे देखता है। यज्ञात्मक कर्म्मकाण्ड इन्हें गा. आ. धि. नामसे

पुकारता है। एवं उपासना काण्ड में यही रुद्र भगवान हैं। रुद्र ११ माने जाते हैं। हविर्यज्ञका आहनीय सोमयज्ञका गार्हपत्य बनजाता है। यही नूतन गार्हपत्य कहलाता है। एवं हविर्वेदिका गार्हपत्य पुराणगार्हपत्य कहलाता है। इसप्रकार रुद्रसम्बन्धसे गार्हपत्य दो होजाते हैं। यही ११ रुद्र अधिभूत अधियज्ञ, अध्यात्म, अधिदैवत, अध्यन्तरिक्ष भेदसे पुनः ११-११ होजाते हैं। यदि इनके भी अवान्तर भेद किए जाते हैं तो सहस्रों रुद्र होजाते हैं। रुद्र प्राणका वैज्ञानिक रहस्य किसी आगेके प्रकरणमें बतलाया जायगा। यहां हम परिचयार्थ उनके नामोंका उल्लेखमात्र करदेते हैं। इससे विज्ञान समझने में पूरी सुविधा होगी—

१—अधिभूत प्रपञ्चके ११ रुद्र—आठ शिव, तीन घोर।

२—अधियज्ञ प्रपञ्चके ११ रुद्र। १ आहवनीय, आउधिष्ण्य, २ गार्हपत्य।

१ आहवनीय	सम्राट्	कृशानु
२ आग्नीध्रीय	विभु	प्रवाहण
३ अच्छावाकीय	अवस्यु	दुवस्वान्
४ नेष्ट्रीय	अङ्गारि	बम्भारि
५ पोत्रीय	उशिक्	कवि
६ ब्राह्मणाच्छंसीय	तुथ	विश्ववेदा
७ होत्रीय	वन्हि	हव्यवाहन
८ प्रशास्त्रीय	श्वात्र	प्रचेता
९ मार्जालीय	शुन्ध्य	मार्जालीय
१० नूतनगार्हपत्य	अजएकपात्	अजएकपात्
११ पुराणगार्हपत्य	अहिर्बुध्न्य	अहिर्बुध्न्य

३—अध्यात्म प्रपञ्चके ११ रुद्र—

१ दक्षिण श्रोत्रप्राण	श्रोत्र
२ वाम श्रोत्रप्राण	
३ दक्षिण नासाप्राण	प्राण
४ वाम नासाप्राण	
५ दक्षिण चक्षुप्राण	चक्षु
६ वाम चक्षुप्राण	
७ वाक्	
८ शिश्न	
९ गुदा	
१० नाभि	
११ आत्मा (सर्वव्यापी अङ्गीप्राण)	

प्रकारान्तरसे आध्यात्मिक ११ रुद्र

कर्मेन्द्रिय—५	ज्ञानेन्द्रिय—५	
१ वाक्	६ श्रोत्र	११ आत्मा
१ पाणि	७ त्वक्	
३ पाद	८ चक्षु	
४ पायु	९ जिह्वा	
५ उपस्थ	१० प्राण	

४—अधिदैवत प्रपञ्चके ११ रुद्र (नाक्षत्रिक रुद्र), अवान्तर नामों सहित

१ विरूपाक्ष,	त्वष्टा,	अयोनिज	गर्भ
२ रैवत	भैरव,	कपर्दी,	वीरभद्र
३ हर,	नकुलीश,	पिङ्गल,	स्थाणु
४ बहुरूप,	सेनानी,	गिरिश	....
५ त्र्यम्बक,	भुवनेश्वर,	विश्वेश्वर,	सुरेश्वर
६ सावित्र,	[1]भूतेश,	कपाली	...
७ जयन्त,	वृषाकपि,	शम्भु,	सन्ध्य
८ पिनाकी,	[2]मृगव्याध,	नीलकण्ठ,	शर्व
९ अपराजित,	महातेजा,	...	....
१० अजएकपात्	....	...	....
११ अहिर्बुध्न्य,	....	....	....

५—अध्यन्तरिक्ष प्रपञ्चके ११ रुद्र

१ अभ्राजमान	६ पुरुष
२ व्यथदान	७ श्याम

---

१ यहां भूतेश पाश्चात्य भाषामें 'बूटेश' नामसे प्रसिद्ध है। बूटेश भूतेश का ही अपभ्रंश है।

२ यही मृगव्याध 'लुब्धक नामसे प्रसिद्ध है। प्रजापति मृग (हरिण) बनकर हरिणी बनी हुई अपनी लड़कीके पीछे बुरी वासना से दौड़े। अन्तमें देवताओंकी प्रार्थनासे पशुपतिने बाण मारकर प्रजापतिका मस्तक काट डाला। इत्यादि पौराणिक आख्यानका इसी लुब्धकसे सम्बन्ध है। लुब्धक, रोहिणी, मृगशीर्ष, त्रिकाण्ड इत्यादि नक्षत्रोंका वैज्ञानिक रहस्य सुगमतासे समझनेके लिए ही यह आख्यान बनाया गया है। जैसाकि आगे आने वाले ब्राह्मणमें (शत० ब्राह्मण १।७।३। स्पष्ट कर दिया जायगा। जैसे संसार भरकी सारी औषधियोंका भाग उदुम्बर (गूलर) में है, एवमेव इस लुब्धकमें सारे नक्षत्रों का रस विद्यमान है। अतएव इसे पशुपति कहा जाता है। यह नक्षत्र नीला है। अति तेजस्वी है। रोहिणी नक्षत्रसे पूर्व कुछ दक्षिण करीब ३० अंश के उपर इसकी स्थिति है।

३ वासुकि ८ कपिल ११ अवपतन
४ वैद्युत ९ अतिलोहित
³रजत १० ऊर्ध्व

रुद्रका निरूपण अप्राकृत था तथापि अग्नि सम्बन्धसे उसका यहां उल्लेख कर दिया है। अब पुनः हम आपको ध्यान उसी वैश्वानरकी ओर आकर्षित करते हैं—वैश्वानर १० कल होनेसे विराट पुरुष है। सम्पूर्ण पुरुषसूक्त केवल इसी वैश्वानरात्मक विराट पुरुषका निरूपण करता है जैसा पूर्वके अंकोंमें बतलाया जाचुका है। इसी वैश्वानरकी त्रैलोक्य व्यापकता बतलाते हुए वेदमहर्षि कहते हैं—

सहस्रशीर्षः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
(यजुः सं० अं० ३१। १ श्लो०) इति।

“इस पुरुषके हजार मस्तक हैं, हजार आंख हैं, हजार पर हैं। यह भूमिका सब ओरसे स्पर्श कर (अध्यात्ममें) दशांगुलका अतिक्रमण कर (१०॥ अंगुलात्मक प्रादेश मात्रस्थानमें) प्रतिष्ठित होगया है श्रुतिका यही अक्षरार्थ है। पूर्वोक्त वैश्वानरके पार्थिव, आन्तरिक्ष्य, दिव्य स्थानीय तीनों प्राणाग्निएं क्रमशः (अध्यात्ममें) अपान, व्यान, प्राण इन नामोंसे व्यवहृत होते हैं। प्राण द्युस्थानीय होनेसे वैश्वानर पुरुषका मस्तक है। व्यान अन्तरिक्ष स्थानीय होनेसे चक्षु है। चक्षुसे यहां हृदयस्थित प्रज्ञामनही

३ आन्तरिक्ष्य रुद्र प्राणके भागसे 'चांदी' बनती है। चांदी रुद्रके आसुओंसे बनी हुई है। जिसकी कि उत्पत्ति किसी आगेके प्रकरणमें बतलाई जायगी।

अभिप्रेत है। जिसे साधारण मनुष्य 'नेत्र' समझते हैं, वह नेत्र नहीं हैं। अपितु विज्ञान चक्षुसे परिछिन्न प्रज्ञान मनही असली चक्षु है। इसी अभिप्राय से—

यत्किंचेदं प्राणि, जङ्गमं च पतत्रि च, यच्च स्थावरं च, सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रम्। प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं, प्रज्ञानेत्रोलोकः, प्रज्ञाप्रतिष्ठा–(ऐ. आर. २। ६। १।)

इत्यादि कहा जाता है। यह चक्षुस्थानीय प्रज्ञान मन 'हृत् प्रतिष्ठं यद जिगिरं जाविष्ठं तन्मे मनः शिवः संकल्पमस्तु (यजुर्वेद संहिता) इत्यादि के अनुसार हृदयमें प्रतिष्ठित है। हृदयमें ही आन्तरिक्ष्य व्यानवायु प्रादेश मात्रमें परिणत होकर प्रतिष्ठित होरहा है, अतः हम अवश्यही व्यानको चक्षु स्थानीय कहनेके लिए तय्यार है। अपान भाग त्रिवृद्रूपा अमृता पृथिवीका भाग है। इसके नीचे पिण्ड (चिय) पृथिवी है। यही भूमि है। यह भूमि प्रतिष्ठा रूप है, जैसाकि वाजसनेय श्रुति कहती है–'अभूद्वा इयं प्रतिष्ठा-इति तद् भूमिरभवत्' (शत० ६। १। १। १५) इति। इस भूमि पर सबसे पहिले उस पुरुषके पैर (अपान) प्रतिष्ठित है। पैरोंके ऊपर मध्यस्थान (धड़) स्थानीय व्यान है। इसके ऊपर शिर स्थानीय प्राण है। इसप्रकार वह पुरुष भूमिपर प्रतिष्ठित होकर सारे त्रैलोक्यमें खड़ा हुआ है। गीताशास्त्र का [१]विराट् पुरुष यही वैश्वानर पुरुष है। सहस्र शब्दका अर्थ हजार नहीं है अपितु पूर्ण है। इसीलिए सहस्र शब्दका अर्थ करते हुए ऋषि–'सर्वंतद्यत् सहस्रम् (कौ० ११। ७।), भूमावै सहस्रम् (का० ३। ३।), परमं वै सहस्रम् (तां० १६। ६। २।), "पूर्णं वै सहस्रहम्"–इत्यादि कहा करते

---

१ इस विषय का विस्तृत विवेचन गीता भ.षाभाष्यके 'ईश्वर निरूपण' में देखना चाहिए।

हैं। " सब ओर " 'सब' 'परम' 'भूमा' 'पूर्ण' इत्यादिके लिए वेदमें सहस्र शब्द प्रयुक्त होता है। विराट् पुरुषका मस्तक स्थानीय पहिला प्राण बिम्ब है। इसमेंसे प्राणरश्मिएं निकल कर चारों ओर व्याप्त होरही हैं, यही पहिली 'प्राणसाहस्री' है। यही उसके हजार मस्तक हैं। इसी अभिप्रायसे 'सहस्रशीर्षः पुरुषः, कहा है। मध्यमें व्यान बिम्ब है। इससे व्यानरश्मिएं निकल कर चारों ओर व्याप्त होरहीं हैं। यही दूसरी व्यानसाहस्री है। यही उसके हजाराक्ष हैं। इसी अभिप्रायसे 'सहस्राक्षः' कहा है। अन्तमें अपान बिम्ब है। इसीके लिए 'सहस्रपात' कहा है। इस त्रिपुरुषात्मक पुरुषने (अपान व्यान प्राणात्मक वै० हिरण्य० सर्वज्ञरूप त्रिपुरुष पुरुषने) उस भूमि (विसमर्त्यपृथिवी पिण्ड) को चारों ओरसे पकड़ रक्खा है। बस पूर्वोक्त यजुः श्रुति इसी अर्थका निरूपण करती है। इसी पुरुषको उपनिषदोंने 'सर्वभूतान्तरात्मा' 'साक्षी' 'चेता' आदि नामोंसे व्यवहृत किया है।

इस प्रकरणसे पाठकोंको यह भलीभांति ज्ञात होगया होगाकि यह साक्षीरूप सर्व भूतान्तरात्मा नामसे प्रसिद्ध अग्नित्रय रूप वैश्वानरात्मक स्तौम्यत्रिलोकीमें व्याप्त विराट्पुरुष षोडशी पुरुषकी स्व०, पर०, सू०, चं०, पृ० इन पांच प्राकृतात्माओंसे सर्वथा भिन्न वस्तु है। इन पांचों पुण्डीरोंमें जो पृथिवी पिण्ड है, उसके चितेनिधेयरूप अमृत भागसे (जिसे कि हमने महिमामण्डल, अदितिपृथिवी, स्तौम्यत्रिलोकी, उरुयपृथिवी, प्राण पृथिवी आदि नामोंसे व्यवहृत किया है) इस विराट् पुरुषका सम्बन्ध है। यह वैश्वानर अग्नि, वायु, आदित्यात्मक है। यह तीनों देवता हैं। अतएव इन तीनोंकी समष्टिको हम ' देवसत्य ' कहनेके लिए तय्यार हैं। यद्यपि 'एतद्वै देवसत्यं यच्चन्द्रमाः' इत्यादि रूपसे चन्द्रमाको देवसत्य बतलाया है। तथापि हम वैश्वानरको ही देवसत्य कहेंगे। इसका कारण यहां बतलाने में हम असमर्थ हैं। इसका उत्तर कठोपनिषत्के भाषाभाष्यमें देखना चाहिए। यहांपर हमें केवल यही बतलाना है कि विराट पुरुष देवसत्य है। एवं स्व. आदि पांचों प्राकृतात्माओंकी समष्टि 'ब्रह्मसत्य' है। हमारा यह देवसत्य पञ्चावयवात्मक ब्रह्मसत्यपर प्रतिष्ठित रहता है। देवसत्य यज्ञात्मक है, ब्रह्मसत्य सत्यात्मक है। यह सत्यात्मा है, देवसत्य यज्ञात्मा है। ब्रह्मसत्य

मूलब्रह्म है, यज्ञसत्य तूलब्रह्म है। 'सत्येसर्वं प्रतिष्ठितम्' के अनुसार सर्व रूप सर्वभूतान्तरात्मा (विराट पुरुष) उसी सत्यात्मक ब्रह्मसत्य पर प्रतिष्ठित है। इन दोनोंसे अतिरिक्त यही हमारा सुपरिचित 'षोडशी पुरुष' है। वही षोडशीपुरुष ब्रह्मसत्यमें है, एवं वही षोडशीपुरुष 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः' के अनुसार वैश्वानरात्मक देवसत्यमें प्रतिष्ठित है। ब्रह्म (ब्रह्मसत्य) में भी यही है, देवोंमें (अग्नि वायु-इन्द्रात्मक देव-सत्यमें) भी वही है। देवसत्य गर्भित ब्रह्म सत्यमें रहने वाला वह षोडशी पुरुष सोपाधिक है। सगुण है। इन दोनोंमें उसे देखना सोपाधिक आत्मतत्वको देखना है। शुद्ध तत्वतो इन दोनोंसे पृथक् है। वही असली तत्व है। जो मनुष्य इन दोनोंमें रहने वाले उसको समझता है, समझलो उसकी यह समझ अभी अधूरी है। ब्रह्म और देव दोनोंसे पृथक सर्व-व्यापक उस अव्ययको जिस दिन यह देखेगा उस दिन इसका देखना मीमांसा रहित होगा। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर केन श्रुति कहती है "यदस्य (षोडशी पुरुषस्य) त्वं (ब्रह्मसत्यभागः). यदस्य च देवेषु अथनुमीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्" (केनोपनिषत २ खं० ६ मं० ।) इत्यादि। इस ब्रह्मसत्य गर्भित देवसत्यका नामही ईश्वर है। जीव इसीका अंश है। सुतरां जीवमेंभी तीनोंकी सत्तासिद्ध होजाती है। जीवका ब्रह्म सत्यभाग अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, शरीर है। देव सत्यभाग वही वैश्वानर है। जीवका देवसत्यभाग ईश्वरके देव सत्यपर प्रतिष्ठित है, एवं जीवका ब्रह्मसत्यभाग ईश्वरके ब्रह्म सत्यपर प्रतिष्ठित है। दूसरे शब्दोंमें ईश्वरही जीवका प्रभव, प्रतिष्ठा, परायण है। जीवका देव सत्यभाग उप-निषदों में—

"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" इत्यादिके अनुसार भोक्तात्मा नामसे प्रसिद्ध है। यही कर्मात्मा है। ईश्वरका ब्रह्मसत्यभाग ब्रह्मरूप [1]अश्वत्थ वृक्ष है। पृथिवी और चन्द्रमा इस अश्वत्थकी एक टहनी

---

1 ईश्वर अश्वत्थ क्यों कहलाया? अश्वत्थका क्या स्वरूप है? इस विषयका विस्तृत विवेचन गीताके अश्वत्थ निरूपणमें विशेषरूपसे कठोपनिषत् के अश्वत्थ निरूपणमें देखना चाहिए।

है। इस टहनी पर (पिण्ड पृथिवी-और चन्द्रमाके बीचमें) ईश्वरीय साक्षी देवसत्य, एवं जीवस्वरूप भोक्ता देवसत्य प्रतिष्ठित है। यही दोनों पक्षी हैं। सुपर्ण हैं। आत्मगति भोगार्थ लोकान्तरमें गमन करनेके कारण ही यह जीवसुपर्ण है। ईश्वर इसके केन्द्रमें प्रतिष्ठित है। अतः जीव सुपर्ण के सम्बन्धसे इसेभी सुपर्ण पक्षी मानलिया जाता है। वस्तुतस्तु जीववत् ईश्वरभी सुपर्णही है। इसकी सुपर्णता सुपर्णचिति पर अवलम्बित है। इस चितिका निरूपण शतपथके छठे काण्डमें किया जायगा। सुपर्णही गरुड़ है। जो पुराण इस सुपर्णकी गतियोंका विवेचन करता है वही आजदिन 'गरुड़पुराण' नामसे प्रसिद्ध है। सनातन धर्म्मावलम्बी जगत् मृत्युकालमें द्वादशाह पर्यन्त अपने कुल पुरोहितसे इसका निर्वचन कराया करता है। कहना यही है कि इन दोनों सुपर्णोंमें जीवसुपर्ण फलभोक्ता है, एवं एक साक्षी है। इन्हीं दोनों सुपर्णोंका स्वरूप बतलाती हुई ऋग्वेद श्रुति कहती है—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
> (ऋक्० सं० १।२।१६४।२०) इति।

[1]अस्तु इस उपनिषत् प्रपञ्चको हम इस ब्राह्मण ग्रन्थमें अधिक स्थान नहीं देना चाहते। यह सारा विषय उपनिषदोंमें अति विस्तारके साथ उपवर्णित है। प्रकृतमें हम १४ प्रकारका भौतिकसर्ग बतला रहे हैं। इस सर्गके सम्बन्ध में सर्वभूतान्तरात्मा त्रैलोक्य व्यापक देवसत्यरूप वैश्वानराग्निमय विराट् पुरुषसे है। अतः इसीकी ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं। हम बतला आये हैं कि यह पुरुष भूमि (चित्य पृथिवी पिण्ड) से सूर्यतक व्याप्त है। इस त्रैलोक्य व्यापक पुरुषकी तीन अवस्थाएं होजाती हैं। त्रिवृत्स्तोमरूप पृथिवीलोकमें पार्थिव अपानकी सत्ता है। यही व्यापक वैश्वानरका वैश्वानर भाग है। पञ्चदश स्तोमरूप अन्तरिक्षलोकमें आन्तरिक्ष्य व्यानकी सत्ता है, यही व्यापक वैश्वानरका हिरण्यगर्भ भाग है। एकविंश स्तोमरूप दिव्य लोकमें दिव्य प्राणकी सत्ता है, यही व्यापक

१ 'अभिचाकशीति' का 'चौकसी करता है—निगरानी करता है' यही अर्थ है।

वैश्वानरका सर्वज्ञ भाग है। पार्थिव भाग प्रधान वैश्वानर, वैश्वानर कहलाता है। आन्तरिक्ष्य भाग प्रधान यही वैश्वानर-आन्तरिक्ष्य वायुकी प्रधानतासे हिरण्यगर्भ कहलाने लगता है। दिव्यलोकप्रधान वैश्वानर दिव्य प्राणकी सत्तासे 'सर्वज्ञ' कहलाने लगता है। कहनेका तात्पर्य्य यही है कि वैश्वानर हिरण्यगर्भ, सर्वज्ञ, तीनों वैश्वानर है। वैश्वानर एककला है। सर्वज्ञ एक कला है, आन्त० हिरण्य० ८ कला है। इसप्रकार एक व्यापक वैश्वानरकी १० कलाएं हो जाती हैं। १० कलाओंके कारणही हमने इसे विराट् पुरुष कहा है। ज्ञान शक्ति, क्रियाशक्ति, अर्थशक्ति, तीनोंका हमने पूर्वके प्रकरणोंमें क्रमशः मन, प्राण, वाक्से सम्बन्ध बतलाया है। मन ज्ञानमय है। प्राण क्रियामय है। वाक् अर्थमयी है। तीनों अविनाभूत हैं। वैश्वानरका ज्ञानभाग (सर्वज्ञ भाग) सौर लोकमें प्रतिष्ठित है। क्रिया भाग (हिरण्यगर्भ भाग) अन्तरिक्षमें प्रतिष्ठित है। अर्थ भाग (वैश्वानर भाग) पृथिवी लोकमें प्रतिष्ठित है। बस ज्ञानक्रियार्थमय, वैश्वानर हिरण्यगर्भ सर्वज्ञमय, (प्राणव्यानापानमय) इसी विराट पुरुषका नाम सर्वभूतान्तरात्मा है। यही ईश्वर है। यही परमात्मा है। यही साक्षी [1]देवसत्य है। सम्पूर्ण 'मुण्ड उपनिषत्' में इसी साक्षी देवसत्यका निरूपण किया गया है। इसी देवसत्यसे सारी जीव सृष्टिएं होतीं हैं। उसमें तीन भाग हैं, अतएव जीव सृष्टिभी कुल तीनही प्रकारकी होती है। वे तीनोंजीवसृष्टिएं, धातु, मूल, जीव इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं।

पार्थिव वैश्वानराग्नि योनि है, सर्वज्ञात्मक सौर प्राण प्रजापति रेतोधा है। यह द्युरूप प्रजापति, माता पृथिवीकी योनिरूप उषाग्निमें रेतः सिञ्चन करता है। वह सिक्त रेत सम्वत्सरके अनन्तर कुमाराग्निमें परिणत होता है। उन्मुग्ध कुमाराग्नि उद्बुद्ध होकर आठ प्रकारकी चित्राग्नियोंके स्वरूपमें परिणत होता है। चित्राग्निही विकृत अवस्थामें परिणत होकर क्रमशः

---

१ ब्रह्मसत्य क्या है? देवसत्यका कैसा स्वरूप है? अश्वत्थ किंरूप है? इत्यादि विषयोंका हमने केन और कठ उपनिषत्के भाषाभाष्यमें विस्तारके साथ निरूपण कर दिया है। अतः इस विषयकी अधिक जिज्ञासा रखने वालोंको वहांका एतत् सम्बन्धी प्रकरण देखना चाहिए।

पुरुष, अश्व, गो, अवि, अज इन पांच पशुकाग्नियोंका रूप धारण कर करता है। इस पञ्चपश्वाग्निसे प्रजारूप पशु सृष्टि होता है (देखो शत ६ कां ३ ब्राह्मण)। प्रजापति पशुपति है। प्रजा पशु है। सन्तान सूत्र पाश है। पाश, पशु पशुपतिकी समष्टिही 'सर्वम्' है। बतलाना इससे प्रकृतमें हमें यही है कि रेतोधा (रेतसिञ्चन करने वाला) प्रजापतिकी रेतकी आहुतिके तारतम्यसे इस रेतसे उत्पन्न होने वाली सृष्टि तीन प्रकार की होजाती है। प्रजा सृष्टिके वे तीनों विभाग १ अचेतवर्ग, २ अर्द्धचे-तनवर्ग, ३ चेतनवर्ग, इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं। यदि ज्ञानप्रधान सौर तेजोमय प्राजापत्यरेत अस्वल्प मात्रामें पृथिवीके वैश्वानराग्निमें आहुत होता है तो इस सौर तेजोरूप शुक्र एवं पार्थिवाग्निरूप शोणितके समन्वयसे अर्थ प्रधाना अचेतन सृष्टि होती है। इस सृष्टिमें दोनोंही भाग हैं, परन्तु प्रधानता पार्थिव भागकी ही है। इसकी प्रबलताके कारण अल्पमात्रामें आने वाला सौरतेज अभिभूत होजाता है। इस सृष्टिमें जैसे सौरज्ञान भाग दबा हुआ है, उसी प्रकारसे आन्तरिक्ष्य वायव्य भागभी अभिभूतही है। इसीलिए इनमें स्वस्वरूपकी वृद्धि नहीं है। पूर्व स्वरूपसे आगे बढ़ना व्यापार है। व्यापार क्रिया है। क्रिया आन्तरिक्ष्य वायुका धर्म्म है। उसका इसमें अभाव है, अतः यह जीववर्ग जैसेका तैसाही रहता है। काच, अभ्र (भोडल), मुक्ताफल (मोती), वज्र (हीरा), नीलम, माणिक्य (लाल), गरुत्मान (पन्ना), पुष्पराग (पुखराज), अय (लोहा), शुल्व (तांबा), रजत (चांदी), हिरण्य (सोना), हरताल गन्धक, शिववीर्य्य (पारा) आदि आदि सारे जड़पदार्थ अर्थप्रधान हैं। वैश्वानराग्निमय हैं। प्रजापति विभागमें यही सृष्टि 'शिपिविष्ट' नामसे प्रसिद्ध है। इस शिपिविष्ट सृष्टिका विष्णु अक्षरसे सम्बन्ध है। अक्षरों का स्वरूप बतलाते हुए हमने पूर्वके अङ्कमें (देखो ३ अङ्क) बतला दिया है कि सोमका सम्बन्ध विष्णुसे है। ब्रह्मगर्भित विष्णुही सोम कह-लाता है। सोम इस आगतिरूप विष्णु अक्षरके सम्बन्धके कारणही सङ्कोच धर्म्मा है। सोम उत्तरोत्तर संकुचित होता रहता है। जैसे अङ्गिरा प्रधान आग्नेयप्राण प्राणकहलाता है, एवमेव भृगु प्रधान सौम्यप्राण 'रयि' कह

लाता है। रयि सोम है, प्राण अग्नि है। इसी अग्निषोमात्मक रयि प्राण से सारा संसार बना हुआ है। इनमें सोमरूप रयिही उत्तरोत्तरमें होने वाले सङ्कोचसे मूर्च्छा होती हुई 'मूर्त्ति' (पिण्ड) बनती ही। मूर्च्छित सोमही 'मूर्त्ति' है। मूर्त्ति अर्थप्रधान है। द्रव्यप्रधान है। इसका सम्बन्ध वैश्वानरगर्भित सोमसे है। सोमवृष्णाव है। अतएव इस अर्थमयी शिपि-विष्ट सृष्टिको, दूसरे शब्द में धातुसृष्टिको हम 'विष्णु' देवता सम्बन्धिनी माननेके लिए तय्यार हैं। यही अचेतन सृष्टि असंज्ञ, ऐकात्मक, आदि नामोंसे प्रसिद्ध है। वै० तै० प्रा० तीनोंमेंसे इसमें केवल वैश्वानरात्मा ही रहता है।

दूसरी है—अर्द्धचेतन सृष्टि। सौरतेजभी कुछ अधिक आया, एवं आन्तरिक्ष्य वायु भागभी आया। दोनोंके आ जानेसे आत्मा कुछ अधिक विकास हुआ। इन दोनोंके आजानसे दूसरी अर्द्धचेतन सृष्टि हुई। स्तम्ब (पुष्करपर्ण–शैवालादि), कुश, काश, वृक्षादि (औषधि), उलुप (दूर्वादि छोटे तृण), शृपक (बड़े बड़े जङ्गली झाड़), केला, सुपारी, नारियल, छुवारा, ताड़ आदि तृणवर्ग (बहतृणगण), एवं इक्षुवल्ल्यादि सब अर्द्धचेतन सृष्टिमें अन्तर्भूत है। इन सारी अन्तःसंज्ञ सृष्टियोंका मूल प्रभव पुष्करपर्ण नामसे प्रसिद्ध स्तम्बही है। अतएव संक्षेपसे इन सारी अर्द्धचेतन सृष्टियोंके लिए केवल 'स्तम्ब' का ही प्रयोग किया है। इसमें हमने अचेतन सृष्टिकी अपेक्षा यद्यपि सौरज्ञानकी व्यापक सत्ता बतलाई है, परन्तु अचेतन सृष्टिमें आने वाला सौर तेज जैसे अर्थभाग वैश्वानरसे अभिभूत होजाता है, एवमेव इस अर्द्धचेतन सृष्टिमें आनेवाला सौरभाग आन्तरिक्ष्य वायुसे अभिभूत होजाता है। इसलिए इनमें ज्ञानमात्राका पूर्णविकास नहीं होने पाता। इनमें क्रियामय वायु है–इसलिए तो यह बढ़ जाते हैं। एवं पार्थिव आकर्षणभी एक प्रकारसे पूर्ण मात्रामें है, अतएव यह पृथिवीसे अलग नहीं होसकते। वहीं बद्ध रहकर ऊपर बढ़ते हैं इस

१ रयिप्राण क्या वस्तु है? उनका क्या स्वरूप है? प्रजाकाम प्रजापति इन दोनोंसे सृष्टि करनेमें कैसे समर्थ होता है? इत्यादि विषयोंका निरूपण हमारे लिखे हुए प्रश्नोपनिषत्के भाष्यमें देखना चाहिए।

प्रकार इनमें वैश्वानर और तैजस इन दो आत्माओंकी सत्ता सिद्ध होजाती है। सुप्तावस्थामें हमारेमें जो ज्ञान है, वही ज्ञान इनमें है। इनमें केवल त्वगिन्द्रियका विकास है। इस एक इन्द्रियसे ही यह सबका अनुभव करते हैं। इसी वृक्ष चैतन्य (   ) का निरूपण करते हुए भगवान व्यास कहते हैं—

> ऊष्मतो म्लायते वर्णं त्वक फलं पुष्पमेव च।
> म्लायते शीर्यते चापि स्पर्शस्तेनात्र विद्यते ॥ १ ॥
> वाय्वग्न्यशनिनिर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्यते।
> श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः ॥ २ ॥
> वल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्वतश्चैव गच्छति।
> नह्यदृष्टेश्चमार्गोऽस्ति तस्मात् पश्यन्ति पादपाः ॥ ३ ॥ इत्यादि।

जो व्यापार हम चेतन मनुष्योंके देखते हैं वही वृक्षोंमें पाए जाते हैं। उनसे हम कहसकते हैं कि—वृक्षोंमें स्पर्शज्ञान है। वे सुनते हैं। देखते हैं। सूंघते हैं। स्वाद लेते हैं। पीते हैं। खाते हैं। यही तात्पर्य है। अन्तमें स्पष्ट रूपसे इनके चैतन्यका निरूपण करते हुए व्यास कहते हैं—

> सुखदुःखयोश्च ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात्।
> जीवंपश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते ॥
> (महाभारत—शान्तिपर्व मो० ध० १८४ अं०)

जिसवृक्ष चैतन्यवादको आज १४ वीं सदीका आविष्कार बतलाया जाता है, वह आजसे ५ हजारवर्ष पहिले बनने वाले महाभारतमें विस्तारसे निरूपित है। कहना नहीं होगाकि अपनी घरकी सम्पत्तिकी उपेक्षा कर दूसरोंके दिएहुए टुकड़ोंपर रीझकर आज हम किस प्रकार अपमानित और लाञ्छित किए जाते हुए असभ्य, विज्ञान शून्य जंगली आदि विविध उपाधियोंसे विभूषित किए जारहे हैं। अस्तु प्रकृतमें हमें केवल बतलाना यही है कि महाभारतमें यद्यपि वृक्षादिमें चैतन्य बतलाया है, एवं उनमें सारी इन्द्रियोंका व्यापार बतलाया है, परन्तु उनमें केवल त्वगिन्द्रियही समझनी चाहिए। इसीके द्वारा उन्हें सबका अनुभव होता है। इनमें अर्द्धचैतन्य

ही समझना चाहिए। यदि ऐसा न होता तो भगवानमनु इन्हें अन्तःसंज्ञ कभी न कहते। वे कहते हैं—

> गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः।
> बीजकाण्ड रुहाण्येव प्रताना वल्लय एव च॥
> तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्म्महेतुना।
> अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुख दुःख समन्विता॥
>
> (मनु० १ अ० ४८-४९ श्लोक)

'अन्तःसंज्ञा' शब्दका स्पष्टी करण करते हुए कुल्लू भट्ट कहते हैं— "यद्यपि सर्वे चान्तरेव चेतयन्ते तथापि बहिर्व्यापारादिकार्य्यविरहात्तथा व्यपदिश्यन्ते"। वास्तवमें बात यथार्थ है। हम प्रत्यक्षमेंभी ऐसाही देखते हैं। इसी आधारपर हम इनमें एक मात्र त्वगिन्द्रियका ही विकास मानने केलिए तय्यार हैं। यही हमारे प्रकरणकी दूसरी अर्द्धचेतन सृष्टि है। इनमें वै० तै० दो आत्मा हैं। अतएवं इन्हें अन्तःसंज्ञ, द्व्यात्मक, आदि नामोंसे व्यहृत किया जाता है। तीसरी चेतन सृष्टिका स्वरूप बतलावें इसके पहिले यह और समझलेना चाहिए कि ईश्वरीय देवसत्यके जो वैश्वानर, हिरण्यगर्भ, सर्वज्ञ नामके तीन स्वरूप हैं वह इस अध्यात्म जगतमें क्रमशः वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ इन नामोंसे पुकारे जाते हैं। वैश्वानर अर्थ प्रधान अग्नि है। तैजस क्रिया प्रधान वायु है। एवं प्राज्ञ ज्ञानप्रधान इन्द्र है। केनोपषितके अग्नि, वायु, इन्द्र, तीनों यही हमारे वै० तै० प्राज्ञ है। इन तीनोंमें अनुस्यूत उस ब्रह्मसत्य एवं षोड़शी ब्रह्मकी महिमाको न जानने वाले संसारमें इन्हीं तीनो देवताओंका विजय समझते हैं। उन्हें 'ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वम्' का पता नहीं है। हैमवती उमा (माया) ही उसका स्वरूप दिखलानेमें समर्थ है। कहना यही है कि इस जीव सृष्टि प्रकरणमें हम समय समय पर वै० हि० स० के स्थानमें प्रायः वै० पै० प्राज्ञः इन शब्दोंका ही प्रयोग करेंगे।

दो सृष्टियोंका स्वरूप बतला दिया गया। तीसरी है चेतन सृष्टि। कृमि, कीट, पशु, पक्षि, मनुष्य, राक्षस, पिशाच, यक्ष गन्धर्वादिका इसी

तीसरी सृष्टिमें अन्तर्भाव है। इसमें सौर सर्वज्ञ भागका विकास है। इस सृष्टिमें वै० तै० प्राज्ञ तीनों भाग हैं। दूसरे शब्दोंमें इनमें ज्ञान, क्रिया, अर्थ तीनों विकसित हैं। ज्ञानमय प्रज्ञा भागके आतेही चैतन्य उल्वण होजाता है। इसके उल्वण होतेही इन्द्रियोंका विकास होजाता है। सुप्तावस्था दूर होजाती है। यही जीव सृष्टि ससंज्ञ, ऽयात्मक आदि नामोंसे प्रसिद्ध है। पहिली सृष्टि धातुसृष्टि है। दूसरी मध्यकी सृष्टि मूलसृष्टि है। एवं यह तीसरी सृष्टि जीवसृष्टि है। इन तीनों सृष्टियोंमेंसे थोड़ी देरके लिए असंज्ञरूपा धातुसृष्टिको छोड़ दीजिए, एवं मूल और जीव सृष्टिकी ओर ध्यान दीजिए। हमने बतला दिया है कि वृक्षादि स्वरूपा मूल सृष्टिके पैर नहीं हैं। वे स्वयं पादरूप हैं। पादही उनके पालक हैं। उसीके द्वारा पार्थिवरसका पान कर वे अपनी स्वरूप सत्ता रखते हुए 'पादप' नामसे प्रसिद्ध होते हैं। इस मूल सृष्टिने भूमण्डलको नहीं छोड़ा है अतएव हम इस द्वितीया सृष्टिको 'अपाद् सृष्टि' कहने के लिए तय्यार हैं। यहांसे ऊपर (कृमिसे प्रारम्भ कर मनुष्य पर्य्यन्त) की सृष्टि पृथिवी मूलसे अलग होजाती है। यह सृष्टिगति धर्म्मोपेता पादशक्तिसे युक्त है, अतएव इस सृष्टिको हम 'सपाद्' सृष्टि कहनेके लिए तय्यार हैं। मनुष्योंके ऊपर अष्टविध देवसर्ग है। वह जमीन से अलग है। इसलिए चेतनसृष्टिके इस देव विभागको हम अपाद कह सकते हैं। उपक्रममें अपाद है, उपसंहारमें अपाद है। मध्यमें सपाद है। वृक्षादि सृष्टिका मूल भूमिसे बद्ध रहता है अतएव वह सृष्टि 'मूल' कहलाती है। परन्तु यह मध्यकी सृष्टि पकड़से अलग है अतएव यह अमूल सृष्टि है। इसी अभिप्रायसे ब्राह्मण श्रुति कहती है।

"अयं पुरुषः—अमूल उभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति" (शत० ३।१।१३) इति। इस अमूलरूप सपादसर्ग, एवं अमूलरूप अष्टविध अपाद देवसर्ग दोनोंमें सौरदिव्य रसके आगमनका तारतम्य समझना चाहिए। इसी तारतम्यके कारण इन दोनोंके अवान्तर अनेक विभाग होजाते हैं। इन सारे अवान्तर विभागोंका प्रकृतमें निरूपण नहीं किया जासकता। आगे आनेवाले सृष्टिविषयक तत्तद् ब्राह्मणोंमें समय समय पर तत्तद् सर्गोंके विभागोंका स्पष्टीकरण होता रहेगा। यहांपर

प्रकरण संगतिके लिए उनमेंसे कुछके नाममात्र जान लेनाही पर्य्याप्त होगा—

धानुसृष्टिके बाद मूलरूप वृत्तादिकी सृष्टि है। इसे छोड़िए। इसके बाद अमूलरूप कृमि कीटादिकी तीसरी सृष्टि है। जैसे मूल सृष्टिकी प्रथमावस्था स्तम्ब है, एवमेव इस सृष्टिकी प्रथमावस्था कृमि है। यहींसे उस सर्वज्ञकी चेतनाके विकासका प्रारम्भ है। सौर तेज अधिक आया। उसके आतेही अन्तःसज्ञ जीव पृथिवीकी पकड़से अलग होगए। आकर्षणसे अलगहो चलने लगे। हिलने लगे। कल्पना करलीजिए १०० हिस्सोंमें से १० भाग सौर प्राणका आया, ९० भाग पार्थिव रहे। बस वृत्तादिमें १० भाग सौर तेजके हैं, ९० भाग पार्थिव प्राण है। अब १० भाग सौर तेजका अधिक आगया। पृथिवीका बल पहिलेकी अपेक्षा कम होगया। यही ससंज्ञों में पहिली 'कृमि' सृष्टि है। सर्वज्ञ इन्द्र 'प्रज्ञामय' (ज्ञानमय) है। अव्यय पुरुषका विकास इसी सूर्य्यमें होता है। सूर्य्य विज्ञानघन है। यही मघवा इन्द्र है। इसी स्थानपर उस ज्ञानमय पुरुषका विकास है। अतएव यह सौर इन्द्र 'प्रज्ञात्मक' कहलाता है। इसी अभिप्रायसे इसके लिए 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' कहा जाता है। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर केनोपनिषतमें कहागया है कि अग्निके सामने यक्षने तृण रक्खा, परन्तु अग्नि उसे न जला सके। वायु उडा नहीं सके। जब इन्द्र आए तो तृण और यक्ष दोनों गायब होगए। इसका तात्पर्य यही है कि—वह तृण ज्ञानमय था, यक्ष स्वयं ज्ञान ब्रह्म था। अर्थ प्रधान अग्नि, क्रिया प्रधान वायु दोनोंकी अपेक्षा यह ज्ञान विजातीय था, अतः इन दोनोंका उसमें लय न हुआ। परन्तु इन्द्र ज्ञानमय थे। अतएव सजातीयताके कारण यह ज्ञानकला उस महाज्ञान समुद्रमें डूब गई। कहना यही है कि सौर प्राज्ञ इन्द्र अव्यय पुरुषके ज्ञानसे युक्त है। इस इन्द्रको आधार बनाकरही अव्ययात्मा जीवरूपमें परिणत होता है। अतएव सूर्य्यको ही स्थावर जंगमका आत्मा बतलाया जाता है। यह इन्द्रमय अव्ययात्मा एक प्रकारका सूर्य्य है। इसका प्रतिबिम्ब केवल आप, वायु, सोम, तीन परही पड़ता है। 'वायुरापश्चन्द्रमा इत्येते भृगवः'—(गो० पू० २। ८। ९) के अनुसार आप, वायु, सोम तीनोंकी समष्टि भृगु है।

यहां परमेष्ठी है। ईश्वर शरीरका यही परमेष्ठी महान् है। इसीपर उस चेतनामय सर्वज्ञका प्रतिबिम्ब पड़ता है। महान् ही उसे अपने गर्भमें धारण करता है। अतएव इसके लिए—

'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' इत्यादि कहा जाता है। महान् उसकी योनि है। वह योनि आप, वायु, सोम भेदसे तीन प्रकारकी है। अतएव तीन स्थानों परही चेतनाका प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। यही कारण है कि चैतन्य सृष्टि संपूर्ण विश्वमें आप्या, वायव्या, सौम्या, भेदसे तीनही प्रकारकी होती है। जलमें रहने वाले मत्स्य मत्स्य (मछली), मकर (मगर), कर्कट (केंकड़ा), तिमिङ्गि, तिमिङ्गिल, तिमिङ्गिल गिल आदि सारे जलजन्तु आप्य जीव हैं। पानी हीं इनका आत्मा है। बिना पानीके इनका चैतन्य कभी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। कृमि, कीट, पशु, पक्षि, मनुष्य यह पांचों जीव वायव्य हैं। वायुही इनका आत्मा है। चन्द्रमामें रहने वाले आठ प्रकारके देवता सौम्य हैं। यही जीव हमारे इस प्रकरणके मुख्य पात्र हैं। प्रसंगागत जीवोंके तीन भेद बतला दिए हैं। अब हम पुनः आपको प्रकृत स्थलकी ओर लिए चलते हैं। २० भाग सौरके आजानेसे कृमि सृष्टि होगई। इस कृमिमें सौर तेज है अवश्य परन्तु अभी प्रधानता पार्थिव भागकी ही है। अतः यह कृमि चलते हैं परन्तु पृथिवीपर। इसे छोडनेमें यह असमर्थ हैं। इससे संलग्न रह करही यह चलनेमें समर्थ होते हैं। छोटी छोटी लटें जमीन पर अधर नहीं रह सकतीं। उनका सर्वाङ्ग शरीर भूतलसे संस्पृष्टही रहता है। लीजिए सौर तेज १० मात्रासे और अधिक आगया। इससे दूसरी कीट सृष्टि होगई। सर्पादिका इसी कीट सृष्टिमें अन्तर्भाव है। इस सृष्टिमें भीतर की ओर पांव रहते हैं। उल्वण नहीं है। अनुल्वण हैं। इन्हींके सहारे यह रेंगते हुए चलते हैं। परन्तु इनमें कृमिकी अपेक्षा अधिक बल है। अतएव इनकी गतिभी प्रबल है। सौरतेज अधिक आया। इससे सहस्रपात् जीवकी सृष्टि हुई। अनुभव रसिक जानते हैं कि कितनेही कीट ऐसे होते हैं जिनका सारा शरीर पैरोंसे ढका रहता है। मुखसे पुच्छ तक सर्वत्र कांटे रहते हैं। वह कीट इन्हीं पैरोंके सहारे अपने शरीर

हैं। हमारे दोनों हाथ-पैर हैं। इसी लिएतो—'यो वै पादः सहस्तः' (श० ८ कां० ७। २। १७।) यह कहा जाता है। हमारा मस्तक सौरतेजके आधिक्यसे सीधा खड़ा हुआ है। इस मनुष्य सृष्टिके मध्यमें एक अर्द्धमनुष्य सृष्टि और होती है। वही सृष्टि—'वानर' (बन्दर) नामसे प्रसिद्ध है। इसमें दोनोंके धर्म्म हैं। मनुष्य हाथोंसे खाता है, श्रोणि भागसे बैठता है। पशु मुंहसे खाता है। चारों पैरोंसे चलता है। वानरमें दोनों धर्म्म हैं। आप अपने हाथमें चने रखकर बन्दर के सामने खड़े होजाइए। बन्दर मनुष्यों की तरह हाथसे उठाकर चने खाजायगा। एवं मनुष्योंकी तरह श्रोणि भागसे बैठता है। साथहीमें पशुओंकी तरह दांतोंसे तोड़ कर बिना हाथके भी वह खाता है। एवं पशुओंकी तरह चारों हाथ पैरोंसे चलता है। इसी लिए तो इसे 'वानर' (विकल्पसे नर—आधा मनुष्य आधा पशु) कहा जाता है। वानरके बाद मनुष्य सृष्टिका विकास है। द्यावापृथिवीके रसद्वयके तारतम्यसे होने वाली इस भूतसृष्टिके वास्तविक रहस्यको न समझ कर कल्पनारसिक मिस्टर डारविन कहते हैं कि बन्दरोंमें कितनेहीं गुण मनुष्य के मिलते हैं। अतएव विज्ञानदृष्टि हमें कहती है कि हम बन्दरोंको मनुष्यों का पूर्वज मानें। हमारे शास्त्रोंकी चर्चा जाने दीजिए। स्वयं पाश्चात्य विद्वानों ने हो डारविनके इस काल्पानिक सिद्धान्त का विरोध करना प्रारम्भ करदिया है। प्रोफेसर 'हेनरी फेयर फील्ड ओसबर्न' का कहना है कि मनुष्यों के पूर्वज बन्दर नहीं थे। अपितु जावाद्वीपादिमें प्राप्त कङ्कालोंसे यह अनुमान किया जासकता है कि तत्कालीन 'एपमेन' नामक मनुष्यही हम मनुष्योंके पूर्वज थे। अस्तु पराधिकार चर्चा करना अनधिकार चेष्टा है। परन्तु साथहीमें डारबिन थ्योरीके अनुयाइयोंको हम बतला देना चाहते हैं कि मनुष्योंका विकास वानरों द्वारा मानना उनकी कोरी कल्पना है। हमभी विकासवाद मानते हैं। 'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्' के अनुसार सारा विश्व उस एकहीका विकास है परन्तु विकास मर्यादित है। हम बन्दरोंको, मनुष्योंका पूर्वज क्या मानेंगे ईश्वरका पूर्वज मानेंगे। परन्तु जो विकासको अमर्य्यादित मानते हैं उन्हें तो कुत्ता, बिल्ली, गाय, भैंस सबकोही मनुष्य जातिका पूर्वज मानना पड़ेगा। हमारे शास्त्रके आधार पर हम कह सकते हैं कि सबकी

योनिएं भिन्न भिन्न हैं। सबका स्रोत भिन्न भिन्न चलारहा हैं। इस प्राणि सृष्टिको हमारे शास्त्रोंने ८४ लाख योनियोंमें विभक्त माना है। सब स्वतन्त्र हैं। सबका विकास स्वतन्त्र है। कली अविकसित है। विकास भावको प्राप्त होकर वही कली 'पुष्प' रूपमें परिणत होजाती है। अब कहीं उस कलीका पता नहीं है। यदि हम बन्दरोंका विकास हैं तबतो ससारमें बन्दरोंका अस्तित्वही नहीं रहना चाहिए। क्योंकि बन्दर तो मनुष्य बन गए। बस इन्हीं सब कारणोंसे हम इस सिद्धान्तको काल्पनिक समझते हैं। हमारे शास्त्रकारोंने विज्ञान प्रधान मनुष्योंमें विकास माना है। मनुष्य शरीरमें–ब्रह्मरन्ध्रसे मूलद्वारतक चार संस्थाएं है। ब्रह्मरन्ध्रसे कण्ठतक एक संस्था है। कण्ठसे हृदयतक दूसरी संस्था है। हृदयसे नाभि तक तीसरी संस्था है। नाभिसे मूलद्वार तक चौथी संस्था है। चारों संस्थाओंमें चार गुहा (खाली) स्थान हैं। वे चारों गुहास्थान क्रमशः शिरोगुहा, उरोगुहा, उदरगुहा, बस्तिगुहा, नामसे प्रसिद्ध हैं। 'आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्' के अनुसार आत्मा इन्हीं चार गुहाओं में प्रतिष्ठित रहता है। शिरोगुहामें विज्ञानात्मा प्रतिष्ठित रहता है। उरोगुहामें प्राणात्मा प्रतिष्ठित रहता है। उदरगुहामें (हृदयस्थान पर) व्यानात्मा प्रतिष्ठित रहता हैं। इन चारों गुहाओंके चार आत्मा उक्थ (बिम्ब) रूप है। उक्थके से अर्क (रश्मिएं) निकलते हैं। चारों उक्थोंमेंसे प्रत्येकमेंसे सात सात अर्क निकलते हैं। सातों अर्कोंका एक तन्त्र है। इस तन्त्रका तत्तद् गुहानित आत्मा तन्त्रायी है। पहिले शिरोगुहाको ही लीजिए। दो श्रोत्र, प्राण, दो चक्षु प्राण, दो नासा प्राण, एवं एक मुख प्राण, यह सात प्राण पहिला तन्त्र है। इन्हींके लिए 'सप्तशीर्षण्यः प्राणाः' यह कहा जाता है। 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्व बुध्नस्तस्यासत ऋषयः सप्ततीरे' इत्यादि मन्त्र इन्हीं सात मुख्य (मुखस्थानीमें शिरमें रहने वाले) प्राणोंका निरूपण करता है। दूसरी गुहामें दो हस्तप्राण, दो स्तनप्राण, दो फुप्फुसप्राण, एक हृदयप्राण यह सात प्राण हैं। तीसरी गुहामें यकृत्, प्लीहा प्राण, दो वृक्कप्राण, दो क्लोमप्राण, एक नाभिप्राण यह सात प्राण हैं। चौथी गुहामें दो श्रोणि प्राण दो आण्ड प्राण, एक मूत्रनलिका

प्राण, एक रेतो नलिका प्राण एक मूलद्वार प्राण यह सात प्राण हैं। इस प्रकार चार जगह सात सात भाग होजाते हैं। ऊपरका पहिला सप्तकही नीचे आकर तीन सप्तकोंमें परिणत होरहा है। इन्हीं चारों सप्तकोंका निरूपण करती हुई उपनिषत् श्रुति कहती है—

[1]सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्तहोमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त॥

७ सप्त प्राण	७ सप्तार्चिषः	७ सप्त होम	७ सप्तलोक
१ श्रोत्र प्राण	काली	पाकयज्ञ	सत्यम्
२ श्रोत्र ,,	कराली	अग्निहोत्र	तपः
३ चक्षु ,,	मनोजवा	दर्शपूर्णमास	जनत्
४ चक्षु ,,	सुलोहिता	चातुर्मास्य	मह०
५ नासा ,,	सुधूम्रवर्णा	सोमयज्ञ	स्वः
६ नासा ,,	स्फुलिंगिनी	महायज्ञ	भुवः
७ मुख ,,	विश्वरूपी	अतियज्ञ	भूः

(मुण्डकोपनिषत् २ मु० १ ख० ८ मन्त्र) इति।

ब्रह्मरन्ध्रसे प्रविष्ट विज्ञानात्मक सौर प्राणके ही सात भाग हैं। यह नीचे जाकर पार्थिव भागकी प्रबलताके कारण तिरोहित होगए हैं। धीरे धीरे सौर प्राण बढ़रहा है। एकदिन समय आवेगा कि चक्षुस्थानीयस्तन चक्षुरूपमें परिणत होजांयगे। चक्षुमें शुक्रपटल, कृष्णपटल, कनीनिका, तीन भाग हैं। अतएव चक्षुको त्रिवृत् कहाजाता है। स्तनमें कृष्णपटल है, चूचुकस्थानीय कृष्ण कनीनिका है। बीचमें छिद्र है। केवल शुक्रपटल का अभाव है। यह विकास ब्रह्म दिनके १२ बजे तक होगा। अभी ब्रह्माका द्वितीयप्रहरार्द्ध है। करीब ११॥ बजे है। १२ बजे बादसे ह्रास होगा। पहिले सावर्णिमनु (८ वें मनु) इस ह्रासवादके उपक्रम होंगे। अस्तु इस विकास ह्रासवादके अप्राकृत विषयको यहां नहीं बढ़ाना चाहते। केवल पूर्वके सातों प्राणोंकी तालिका बतलाकर इस विषयका यहीं समाप्त कर प्रकृतका अनुसरण करते हैं—

---

१ इस मन्त्रका विशदनिरूपण मुण्डकोपनिषत्के भाषाभाष्यमें देखना चाहिए।

गुहाचित्र—

मनुष्य सृष्टिका संक्षिप्त स्वरूप समाप्त होचुका। इसमें एक भाग पार्थिव है। तीन भाग सौर है। हम द्विपाद हैं। इसप्रकार सहस्रपादसे प्रारम्भ कर द्विपाद तक एक सृष्टि धारा समाप्त होती है। स्तम्बादि अचेतनवर्ग पहिला विभाग है। कृमि कीट पशु पक्षि यह दूसरा विभाग है। पूर्वकथनानुसार सांख्यने स्तम्ब और कृमि कीटादिको मिलाकर एक

विभाग माना है। इस विभागको ही उनमें तमोविशाल मूलका तिर्य्यक्सर्ग कहा है। रजोविशाल मनुष्यसर्ग उसके मतानुसार मध्यम सर्ग है। इस मध्यके मनुष्यसर्गमें सर्वज्ञ इन्द्र प्रधान है। एवं इन्द्रही वायुमें घुसकर उसका [1]व्याकरण (एक वस्तुको विविध आकारमें परिणत कर डालनाही व्याकरण कहलाता है) कर डालता है। इन्द्र ज्ञान है, प्रज्ञा भाग है। ज्ञानही वायु धरातलके खण्ड खण्ड कर डालता है। ज्ञानही क-च-ट-त-प आदि वर्णोंका विभाजक है। 'वायुः खात् शब्दस्तत' इस प्रातिशाख्य सिद्धान्तके अनुसार वायुही वर्ण बनता हुआ शब्द रूपमें परिणत होता है। एवं यह विभाग इसी इन्द्रके द्वारा होता है। इस वर्णवाक्के अधिष्ठाता सर्वज्ञ ज्ञानमय इन्द्रका विकास मनुष्य सृष्टिमें ही होता है, अतएव मनुष्य वाक्ही विज्ञानमयी होती है। वर्णरूपा होती है। कृमि, कीट, पशु पक्षियों की वाक्में इन्द्रभाग अत्यल्पमात्रामें होनेसे नहींके समान है, अतएव उनकी वाक्में ध्वनिमात्र है। वर्ण विभाग नहीं है।

पूर्वोक्त प्रथमसर्ग, और मनुष्यरूप मध्यम सर्गका भूपृष्ठसे सम्बन्ध है। इसके बाद है आठ प्रकारका देवसर्ग। शुरस और अधिक आता है। इससे दोनों पैरभी गायत्र होजाते हैं। यही तीसरा देवसर्ग है। इस देवसर्गके भूवायु, चान्द्रमण्डल, सौरमण्डल भेदसे तीन विभाग होजाते हैं। पृथिवी पिण्डके चारों ओर १२ योजन (४८ कोस) तक एमूष वराह नामसे प्रसिद्ध भूवायु रहता है। इसस्तरमें भी जीव रहते हैं। इनें जीवोंका शरीर वायुमय है। वायु प्रधान है। इनके भी शुरसके तारतम्यसे अवान्तर तीन विभाग होजाते हैं। सबसे नीचे पिशाच योनि है। ऊपर राक्षस है। सबके ऊपर यक्ष है। तीनोंमें पिशाच महादुष्ट है। शरीरके वायु भागपर (वायव्यप्राणपर) पिशाच प्राणका आक्रमण होता है। राक्षस उससे कम दुष्ट है। इसका आक्रमण रुधिर भागपर होता है। राक्षस योनि रुधिर प्रिय है। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर—

---

१ इस विषयका विशद विवेचन हमारे लिखे हुए 'वाग्विज्ञान' नामके निबन्धके 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदु ब्राह्मणा ये मनीषिणः' इस ऋङ्मन्त्रके अर्थ प्रकरणमें देखना चाहिए।

" रक्षसांभागोऽसि (यजु० ६ । १६), इति । रक्षसां ह्येष भागो यदसृक् " (श० ३ । ८ । २ । १४) इत्यादि कहाजाता है । तीसरी यक्ष योनि है । महाभारतमें जिस धर्मका यक्षरूपसे निरूपण है, वही यह यक्ष योनि है । यह राक्षसकी अपेक्षा कम दुष्ट है । यह तीनोंही वायव्य होनेसे अन्तरिक्षमें रहते हैं । इसी अभिप्रायसे—

"अमूलं वा इदं–उभयतः परिच्छिन्नं रक्षोऽन्तरिक्षमनुचरीत " (शत० ३ । १ । ३ । १३) यह कहा जाता है । पुरुष आग्नेय है । स्त्री सौम्या है । जैसाकि पूर्वके अङ्कोंमें (देखो ४ । ५ । अंक) विस्तारके साथ बतलाया जाचुका है । सोमकी घनावस्था पानी है, तरलावस्था वायु है । वायुभी एक प्रकारसे सोम है । 'योऽयं वायुः पवते एष सोमः (शत० ७ । ३ । २ । १ ।) इस श्रुतिसे स्पष्टही वायुकी सोमता सिद्ध होजातीहै । भृगु सोम है । एवं आप वायु सोम तीनोंकी समष्टि भृगु है । अतएव हम अवश्यही वायुको सोम कहनेके लिए तय्यार हैं । इसी सौम्य वायुसे स्त्रीकी आत्मा बनता है, एवं आग्नेयवायुसे पुरुषका आत्मा बनता है । आप्य, वायव्य, सौम्यभेदसे तीन प्रकारकी जीव सृष्टि है । जैसाकि पूर्वमें बतलाया जाचुका है । इसमें मनुष्य सृष्टि वायव्या है । स्त्रीसृष्टि सौम्य वायुरूपा है, पुरुष सृष्टि आग्नेय वायुरूपा है । पुरुष आग्नेय होनेसे अन्नाद है, भोक्ता है । स्त्री सोम होनेसे अन्न है, भोग्य है । 'अग्निर्हरक्षसामपहन्ता' के अनुसार आग्नेयवायु वायु (सौम्य वायु) गत आसुर योनिका विरोधी है । आसुरयोनि वारुणी है । वरुण इन्द्रके घोर शत्रुता है । एवं आग्नेय वायुमें एक चौथाई इन्द्र रहता है । अतएव आग्नेय वायुके पास आसुर प्राणका प्रभाव नहीं जमने पाता । परन्तु सौम्यभावतो इनका अपना घर है । अतएव वहां पिशाच राक्षस यक्षादि वायव्य प्राण शीघ्र अपना प्रभाव जमालेते हैं । स्त्रियएं सौम्या हैं । अतएव भूत बाधाका आक्रमण आग्नेय पुरुषोंकी अपेक्षा सौम्या स्त्रियोंके ऊपरही अधिक होता है । इसी विज्ञान को लक्ष्यमें रखकर–

" इदं ह्याहुः–रक्षांसि योषितमनुसचन्ते "–(शत० ३ । १२ । १ । ४०) यह कहा जाता है । जबतक पुरुष १६ वर्षका नहीं होजाता तबतक

उसमेंभी सोमकी ही प्रधानता रहती है। १६ वर्षके बाद अग्निका पूर्ण विकास होता है। यही कारण है कि स्त्रियोंकी तरह छोटे बच्चोंपरभी राक्षस पिशाच प्राणका अधिक आक्रमण होता है। इस वायव्य प्राणका उल्बणरूप चतुष्पथ (चौराया) होता है। चतुष्पथमें चारों मार्गोंके वायुका केन्द्रमें समन्वय होता है। विभिन्न दिकवाले चारों वायव्य प्राण एक बिन्दुपर आके बलिष्ठ बनजाते हैं। अतएव और स्थानोंके वायुकी अपेक्षा चतुष्पथके वायुमें रहने वाला आसुर पैशाच प्राण अधिक प्रबल होजाता है। इन पिशाच, भूत, राक्षमादि वायव्य प्राणोंके अधिष्ठाता भगवान् रुद्र हैं। रुद्रके घोर और शिव दो भेद हैं। शिव वायु पालक है, रुद्रमूर्त्ति यमहै। यह रुद्रप्राण 'एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे' के अनुसार उक्थ रूपसे एक है। एवं इसके आधार पर रहने वाले असुर राक्षसादि अनन्त प्राण इसके आयुध हैं। इन्हींके द्वारा यह संसारका नाश किया करते हैं। यह विनाशक रुद्रप्राण पूर्व परिकरको साथ लेकर प्रधान रूपसे इसी चतुष्पथमें प्रतिष्ठित रहता है। इसी अभिप्रायसे भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'एतद्ध वा अस्य (रुद्रस्य) जाम्वितं (निर्द्धारितं) प्रज्ञातं (प्रसिद्धं) अवसानं यच्चतुष्पथम्' (शत० ७ २ । ६ । २ । ७ इति)।

जहां विभिन्न दिशाओंके विजातीय वायुओंका संघर्ष होताहै, वहांका राक्षसादि प्राण प्रबल होजाता है। दिनके १२ बजे, और रात्रिके १२ बजे इस मध्य भागको काटती हुई एक याम्योत्तर रेखा बनती है। इसीको हमने पूर्वके प्रकरणोंमें उर्वशी अप्सरा कहा है। इस रेखा से खगोलका विच्छेद होता है। रात्रिका मध्यभाग, दिनका मध्यभाग इस विच्छेदकी एक लाइनमें पड़ता है। इन दोनों बिन्दुओंमें मित्रवायु और वरुण वायुका संघर्ष है। इस संघर्षसे इन दो समयोंमें विशेष रूपसे आसुर प्राण प्रबल होजाता है। इसी सारे विज्ञानको आधार मानने वाला सनातन धर्म्मी जगत्—विशेषकर इस जगत्को स्वधर्म्ममें स्थापित रखने वाला भारतका पूज्य स्त्रीवर्ग दुपहर में, आधी रातको चतुष्पथमें जानेके लिए अपने बालकोंको मना किया करता है। कहना नहीं होगाकि उनका यह कथन सर्वथा श्रौतविज्ञान सिद्ध-अतएव परम मान्य है। इन्हीं असुर राक्षसोंके लिए ब्राह्मण ग्रन्थोंमें

बार बार 'नाष्ट्रा रक्षांसि' २ कहाजाता है। याज्ञिक कर्म्मदेव प्राण प्रधान हैं। इनपर नाष्ट्रा राक्षस निरन्तर आक्रमण किया करते हैं। अग्निरूप मन्त्र वाक्का प्रयोगकर, और और कितनेही कर्म्मकर इनका अवरोध कियाजाता है। इस वायु स्तरके ऊपर चन्द्रमाका मण्डल है। जैसे सौर मण्डल 'सम्वत्सर' कहलाता है, पार्थिव मण्डल 'इलान्दम्' कहलाता है, एवमेव चान्द्रमण्डल 'परिप्लव' कहलाता है। इस चान्द्रपरिप्लवमें ऊर्ध्व, अधः दो भाग हैं। अधो भागमें २७ प्रकारकी गन्धर्वयोनि है। एवं ऊर्ध्व भागमें ८ प्रकारकी पितरयोनि है। इसी अभिप्रायसे 'विधूर्ध्वभागे पितरा वसन्ति' यह कहाजाता है। इसके ऊपर चान्द्रगर्भित जितना सौरमण्डल है, (जोकि चान्द्रगर्भित होनेसे एक प्रकारसे चन्द्रलोकही है) ऐन्द्र, प्राजापत्य नामकी दो देवयोनिएं हैं। बस पृथिवी पृष्ठसे प्रारम्भकर यहांपर आके संचरक्रम (सृष्टिक्रम) समाप्त होता है। इसयोनि भेदका एक मात्र कारण द्युरसका तारतम्यही है। इसी तारतम्यके कारण आठों देवयोनियोंमें उत्तरोत्तरकी देवयोनिएं पूर्व पूर्व योनिकी अपेक्षा श्रेष्ठ होजाती हैं।

वृक्षादिसे प्रारम्भ कर देवयोनि पर्य्यन्त उत्तरोत्तर इन्द्रियोंका विकास है। वृक्षमें एक त्वगिन्द्रिय थी। कृमि कीटादिमें २-३-४ क्रमसे इन्द्रियोंका विकास हुआ। आगे जाकर मनुष्य सृष्टिमें ११ इन्द्रियोंका विकास हुआ। एवं ऊपरकी ८ देवयोनियोंमें अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व यह आठ सिद्धिएं, एवं ९ तुष्टिएं और विकसित होगई। इससे देवताओंमें २८ इन्द्रियोंका विकास मानागया। इन सारी सृष्टियोंमें से प्रत्यक्ष हमें केवल मनुष्य सृष्टि पर्य्यन्तही होता है। अष्टविध देवयोनि 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः' इस सिद्धान्तके अनुसार हमसे परोक्ष रहती हैं। जिन्होंने योगबलसे अष्टसिद्धिएं, ९ तुष्टिएं प्राप्त करली हैं, वे विदित वेदितव्य आप्त महर्षिही उन्हें देखनेमें समर्थ होते हैं। उन्होंने ही हमें इनका ज्ञानकरवाया है। उन्हींके आप्तोपदेशके आधार पर न देखते हुएभी उन योनियोंकी सत्तापर एवं उनके तत्तत् कार्य्योंपर हमें विश्वास करना पड़ता है। जब हम सृष्टि का क्रमिक विकास देख रहे हैं तो हमारा आत्मा स्वयंही यह नहीं मानता

कताकि मनुष्यपर आके सृष्टिक्रम बन्द होगया। हमसे ऊपर हमारेसे अधिक शक्ति रखने वाले जीव भी हैं। उनका वायु शरीरसे कभी कभी हम मनुष्योंमें, विशेष कर स्त्रियों में प्रवेश हुआ करता है। काप्य नामसे प्रसिद्ध महर्षि पतञ्जलकी स्त्री और लड़की दोनोंमें आथर्वण कबन्ध नामके गंधर्वका प्रवेश हुआ था। एवं उसने उनके शरीरमें घुसकर पतञ्जलसे, एवं वहांपर बैठे हुए अरुण पुत्र सुप्रसिद्ध उद्दालकादि महायाज्ञिकोंसे पूछाथा कि यदि जानते हो तो बतलाओ, सूत्रात्मा किसे कहते हैं? अन्तर्यामी किसे कहते हैं? इन सबको इस प्रश्नका उत्तर न सूझा। अन्ततो गत्वा शरीर प्रविष्ट स्वयं गन्धर्वने ही इनका विस्तारसे निरूपण किया। जैसाकि बृहदारण्यकमें और शतपथमें (१४। ६। ७) उद्दालक और याज्ञवल्क्यके परस्परके सम्वादमें विस्तारसे बतलाया गया है। आजभी प्रत्यक्षही भूतावेश देखते हैं। जबकि यह तत्व श्रुति सिद्ध है, प्रत्यक्ष सिद्ध है, भूतावेश द्वारा अनुमान सिद्ध है तो ऐसी अवस्थामें–'हम नहीं देखते इसलिए नहीं मानते' कहकर इसकी उपेक्षा करना बालचापल्यमात्र है। पानीके परमाणु परमाणुमें असंख्य कीटाणु व्याप्त रहते हैं। परन्तु हम खूब ध्यानसे देखने परभी उन्हें नहीं देखते। परन्तु उन्हींको एक वैज्ञानिक सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र (खुर्दबीन) से देखलेता है। क्या हमारे न देखने मात्रसे पानीके कीटाणुओंकी सत्ता नष्ट होई। क्या उस वैज्ञानिकके अनुभवका हम विरोध करेंगे। कदापि नहीं। ऋषियोंने तपोबलसे देखा है। आपभी तपोबल प्राप्त करो, देख लोगे। जिन भूतबाधाओंकी शान्तिके लिए भगवान् चरकने 'भूतोपशमनीयाध्याय' नामका एक स्वतन्त्र अध्याय का अध्याय लिखा है। जिन भूत देवयोनियोंका कपिल मुनिने अपने सांख्यदर्शनमें विस्तारसे निरूपण किया है। जिन देवयोनिके आवेशोंके वेदग्रन्थमें अनेक स्थानोंपर उल्लेख मिलते हैं। जिस भूतावेशका आजभी हम कितनेहों स्थानोंपर प्रत्यक्ष करते हैं—

'मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः' के अनुसार मतिनिवेशमें पड़कर जो महानुभाव–'यहभी कुछ नहीं, यहभी मिथ्या है' 'यह केवल पोपलीला है. सब ढोंग है–वास्तवमें इसमें सार कुछ नहीं है' कहककर अपने हृदयोद्गार हमारे सामने रखने हैं उनकी सेवामें—

'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' इस उपनिषत् वचनको सामने रखते हुए 'अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तामेनं ततो विदुः, के उपासक सत्तानुयाइयोंकी दृष्टि पुनः प्रकृतकी ओर आकर्षित करते हैं। पूर्वोक्तसर्ग क्रम को महर्षि कपिलने १४ भागोंमें विभक्त माना है, जैसाकि प्रारम्भमेंही बतलाया जाचुका है। यहां हमें एक दो बातें और बतलाकर इस 'चान्द्र देवता' प्रकरणको समाप्त करना है। हमने बतलायाहैकि पार्थिव अग्नि वैश्वानर है। यही विष्णु है। अग्निही त्रिवृत (६), पञ्चदश (१५), एकविंश (२१) इन तीन विक्रमोंके कारण 'त्रिविक्रम विष्णु' कहलाने लगता है। वैश्वानरके अनन्तर हिरण्यगर्भ वायु है। यही ब्रह्मा है। सर्वज्ञ भाग शिव है। अर्थ, क्रिया, ज्ञान तीन तन्त्र हैं। इन तीनों तन्त्रोंके यही वै० हि० स० रूप विष्णु, ब्रह्मा, शिव तीन तन्त्रायी हैं। विष्णुको मूल स्थानीय होनेसे मूलात्मा कहा जाता है। यह अर्थ तन्त्रके अधिष्ठाता हैं। ब्रह्माको वायुरूप होनेसे हंस कहाजाता है। क्योंकि हंस वायुका नाम है। यही क्रिया तन्त्रके अधिष्ठाता हैं। तीसरे शिव ज्ञान तन्त्रके अधिष्ठाता हैं। अतएव इनके लिए ' ज्ञानमिच्छेन् महेश्वरात ' यह कहाजाता है। नीचेकी तालिकाओंसे अबतक बतलाया हुआ सारा सृष्टि विषय स्पष्ट होजाता है—

१ सांख्यमतानुसार तीन प्रकृतियोंमें विभक्त १४ प्रकारका भूतसर्ग—

१ देवसर्ग	१ ब्राह्म,	२ प्राजापत्य,	३ ऐन्द्र,	४ पित्र्य,	} सत्वविशाल सर्ग ८
	५ गांधर्व,	६ याक्ष,	७ राक्षस,	८ पैशाच,	

२ मनुष्यसर्ग ब्रा० क्ष० वै० शूद्रभेद भिन्न—रजोविशाल सर्ग १

३ तिर्य्यक्सर्ग १ स्थावर, २ कृमि, ३ कीट, ४ पशु, ५ पक्षि —तमोविशाल सर्ग ५

(सां० का० ५३-५४ श्लो०)

२ वैदिक विज्ञानानुसार तीन प्रकारकी जीव सृष्टि—

असंज्ञ	अन्तःसंज्ञ	ससंज्ञ
१. धातुजीव	२ मूलजीव	३ जीव जीव
काच	स्तम्ब	कृमि
अभ्र	कुश	कीट
मोती	काश	पशु
हीरा	वल्ली	पक्षि
नीलम	तृण	मनुष्य— आन्तरिक्ष्यजीव
पन्ना	उलुप	देवता— चान्द्रजीव
पुखराज	शुपक	त्र्यात्मक
पारद	वृक्षादि	
गंधक	द्वयात्मक	
आदि २		
ऐकात्मक		

(कृमि, कीट, पशु, पक्षि — पार्थिव जीव)

रागिनमयी अचेतन सृष्टि

१ ओ० ओ० मयी अर्धचेतन सृष्टि

२ ओ० ओ० प्राज्ञमयी चेतन सृष्टि

मूल हंस शिवात्मक विष्णु ब्रह्मा इन्द्र भेदसे तीन विभाग—

मूलात्मा विष्णुः	२ हंसात्मा ब्रह्मा	३ इन्द्रात्मा शिवः
अग्नि	वायु	इन्द्र
वैश्वानर (अधिदैवत)	हिरण्यगर्भ (अधिदैवत)	सर्वज्ञ (अधिदैवत)
वैश्वानर (अध्यात्म)	तैजस (अध्यात्म)	प्राज्ञ (अध्यात्म)
पार्थिव ६ स्तोम	आन्तरिक्ष्य १५ स्तोम	दिव्य २१ स्तोम
अपान	व्यान	प्राण
धातु	मूल	जीव
१. अर्थशक्ति,	२ क्रियाशक्ति	३ ज्ञानशक्ति

अर्थ प्रधान पार्थिव सृष्टि

२ क्रिया प्र० आन्तरिक्ष्य सृष्टि

३ ज्ञान प्रधान दिव्य सृष्टि

यह है वैश्वानर हिरण्यगर्भ सर्वज्ञात्मक ईश्वर प्रजापतिकी सृष्टिका क्षिप्त स्वरूप । वह परम प्रजापति इन्हीं सृष्टियोंके कारण अति. महा.

क्षुद्र, जन्तु, भ्रूण भेदसे पांच रूपोंमें परिणत होरहा है। ईश्वर प्रजापति
प्रजापति है। 'पाङ्क्तो वै यज्ञः' (यज्ञ पंचावयव होता है) इस अनुगम श्रु
अनुसार उसके पांच अवयव हैं। पांचों अवयव विराट् नामसे प्रसिद्ध
इन पांचों विराट् पुरुषोंका स्वरूप गीताविज्ञान भाष्यके विराट् पुरुष नि
पणमें देखना चाहिए। यहां हम केवल उनके नाम मात्र बतला देते हैं—

१.	अतिविराट् परमेश्वर परात्पर	[illegible]	१.	विश्वजगत्--भूम
२	महाविराट् महेश्वर (अवर)	[illegible]	२	अण्डजगत्--समु
३	क्षुद्र विराट् ईश्वर पर	[illegible]	३	पृथिवीजगत्- अं·
४	जन्तुविराट् जीव पर	[illegible]	४	जीवजगत्--पृथिवं
६	भ्रूणविराट् जीवाणु अवर	[illegible]	५	भ्रूणजगत्--शरीर

इन पांचों विराट् पुरुषोंमेंसे प्रकृतमें हमने क्षुद्रविराट्, जन्तुविरा
नामसे प्रसिद्ध ईश्वर, एवं जीव विराट्का ही स्वरूप बतलाया है। 'एष
ब्राह्मी स्थितिः'।

यह है ब्राह्मी स्थिति। प्रकृति मण्डलका स्वरूप। इस स्वरूपको देखं
से विज्ञ पाठकोंको यह भलीभांति ज्ञात होगया होगा कि पार्थिव स्तोम
त्रैलोक्यमें प्रतिष्ठित १४ प्रकारके भूतसर्गोंमें पृथिवीके ऊपर-सूर्य्यसे नीचे
चन्द्रलोकमें आठ प्रकारका देवसर्ग है। इनमेंभी देवता प्रधान रूपसे 'ऐन्द्र
ही है। यही हमारे प्रकरणके तीसरे चान्द्रदेवता हैं। यह विग्रहवान् है
प्रजनन, भोजन, शयन आदि जो व्यवस्थाएं जो धर्म्म मनुष्योंमें हैं वे स
व्यवस्थाएं एवं धर्म्म इनमें भी समझने चाहिये।

इति चान्द्रदेव स्वरूप निरूपणम् ॥